यह पुस्तक

स्वर्गीय डाक्टर ए० सी० वुलनर

वाइस चान्सलर पंजाब युनिवर्सिटी को

उन की अनुमति से

सादर समर्पित है।

—वेदव्यास

भूमिका

इस कथन में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं है कि भारतवर्ष का सर्वांग-पूर्ण इतिहास अभी तक लिखा ही नहीं गया। भारतीय इतिहास के नाम पर अब तक जो कुछ मिलता है, उस का अधिकांश वास्तव में इतिहास की सामग्री मात्र ही है। भारततष के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में तो यह बात और भी अधिक दृढ़ता के साथ कही जा सकती है। इस दिशा में, अब तक जो प्रयत्न हुआ है, हिन्दी के पाठकों को उस का दिग्दर्शन कराने की इच्छा से मैंने यह पुस्तक लिखी है। ईसा की १२ वीं सदी तक के भारतवर्ष के राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा अगले पृष्ठों में पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। जानबूझ कर, इस कृति में, मैंने सभी विवादास्पद विषयों की गहराई में जाने से बचने का प्रयत्न किया है। मेरी राय में, इस के बिना यह कृति सर्वसाधारण पाठकों के लिए अधिक दुरूह बन जाती।

इस पुस्तक के लिखने में अनेक विद्वानों की कृतियों से सहायता ली गई है। मैं इस अवसर पर उन सब के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकाशित करता हूँ।

—वेदव्यास

विषय-सूची

प्राचीन भारत

प्रथम अध्याय

भारत भूमि और उसके निवासी

भौगोलिक विभाग—भारतवर्ष एशिया महाद्वीप का एक विस्तृत देश है। उसका आकार एक टेढ़ो-मेढ़ो तिकोन के समान है। वह हिमालय की पर्वत-श्रेणी से कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ है। पश्चिम में उसका विस्तार बलोचिस्तान तक है और पूर्व में बरमा तक। उत्तर में संसार के सब से बड़े पहाड़ हिमालय की विस्तृत श्रेणियाँ उसे एशिया के अन्य भागों से पृथक् करती हैं। उसके दक्षिण में ३५०० मील लम्बा समुद्र-तट है। इस तरह से पहाड़ों और महासमुद्रों ने उसे बाकी सम्पूर्ण संसार से पृथक् कर रक्खा है। भारतवर्ष की इन भौगोलिक परिस्थितियों ने उसके इतिहास पर भी स्पष्ट प्रभाव डाला है। इन प्रभावों को समझने के लिए इन भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक है। इस महादेश में सभी तरह की भौगोलिक परिस्थितियाँ मौजूद हैं, तथापि मोटे तौर पर हम उसे तीन भागों में बाँट सकते हैं—हिमालय की पर्वत-श्रेणियाँ, उत्तरीय भारत के विस्तृत मैदान और दक्षिण।

हिमालय—प्रकृति ने भारतवर्ष के उत्तर-पूर्व, उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम में जैसे हिमालय की दीवार खड़ी कर रक्खी है। उत्तरीय सीमाप्रान्तों की इस सुदृढ़ और अटूट दीवार की लम्बाई करीब १५०० मील है। हिमालय बरफ़ का घर है। उसकी ऊँची-ऊँची पर्वत-श्रेणियों ने भारतवर्ष और चीन को इतनी पूर्णता के साथ पृथक् कर रक्खा है कि इन दोनों देशों के पास-पास होते हुए भी इस सैकड़ों मील लम्बे सीमान्त प्रदेश के किसी भी भाग से सेना सहित आर-पार पहुँच सकना करीब-करीब असम्भव रहा है।

इन पर्वत-श्रेणियों ने जहाँ भारतवर्ष को उत्तर की ओर से होने वाले आक्रमणों से बचाए रक्खा है, वहाँ इस देश को समृद्ध बनाने में भी बड़ा भाग लिया है। भारत सदा से कृषि-प्रधान देश रहा है; उपजाऊ भूमि उसकी सब से बड़ी निधि है। इस भूमि को उपजाऊ बनाने का कार्य हिमालय ने किया है। हिमालय की सैंकड़ों मील लम्बी और बरफ़ से आच्छादित पर्वत-श्रेणियों से बीसियों नदियाँ निकलती हैं और वे इस देश के उत्तरीय मैदानों को सींचती और उपजाऊ बनाती हैं। इन नदियों में सिन्ध, गंगा और ब्रह्मपुत्र प्रमुख हैं। बाकी सभी नदियाँ इन तीनों नदियों में आकर मिल जाती हैं। इन नदियों से सैकड़ों नहरें निकाली गई हैं। इसके अतिरिक्त हिमालय की पर्वत-श्रेणियाँ इस देश को उत्तर की ठण्डी हवाओं से बचाती हैं, और हिन्द-महासागर की मानसून को इस देश से बाहर जाने से रोकती हैं।

हिमालय की श्रेणियाँ पश्चिम में जा कर समाप्त हो जाती हैं

और उसके बाद, सुलेमान पर्वत की कम ऊँची श्रेणियाँ शुरू होती हैं। सुलेमान और उसके साथ के कुछ अन्य पहाड़ भारतवर्ष को अफ़ग़ानिस्तान और बलोचिस्तान से पृथक् करते हैं। इन पहाड़ों में अनेक बहुत ही महत्वपूर्ण दर्रे हैं। अफ़ग़ानिस्तान पहाड़ी प्रदेश है, कुछ नदियाँ वहाँ से निकल कर इस पार सिन्धु नदी में आ मिली हैं और उन नदियों के किनारे-किनारे इस देश में आना इतना कठिन नहीं है। पिछली बीसियों शताब्दियों में सैकड़ों बार हज़ारों-लाखों विदेशी इन्हीं दर्रों में से हो कर इस उपजाऊ देश पर आक्रमण करने आए हैं। इन दर्रों में सब से प्रमुख ख़ैबर का दर्रा है। काबुल से पेशावर को मिलाने वाला यह दर्रा काबुल नदी की घाटी में अवस्थित है। कुर्रम की घाटी वाले दर्रे का नाम कुर्रम है, यह अफ़ग़ानिस्तान से बन्नू को मिलाता है। टोची दरिया की घाटी टोची दर्रे के नाम से प्रसिद्ध है, वह टोची को भारतीय सीमा प्रान्त से मिलाता है। गोमल का दर्रा डेरा इस्माइल ख़ाँ के पास खुलता है। बोलान का दर्रा क़न्धार और सिन्ध को मिलाता है। इन सभी दर्रों से विदेशी आक्रान्ता भारतवर्ष पर चढ़ाई करने के लिए आते रहे हैं।

हिमालय की उत्तर-पूर्वीय श्रेणियाँ भारतवर्ष से ब्रह्मा को पृथक् करती हैं, परन्तु हिमालय के इस हिस्से में भी कुछ दर्रे हैं, जिनमें से गुज़र सकना असम्भव नहीं है। इन दर्रों की ऊँचाई इतनी अधिक है कि ऐतिहासिक युग में इस ओर से भारतवर्ष पर बहुत कम हमले हुए हैं। तथापि पूर्वीय भारत में बसने वाली जातियों की शकल-सूरत से यह साफ़-साफ़ जाना जा सकता है कि कभी

ये लोग भी, सम्भवतः इन्हीं दर्रों में से हो कर हिन्दोस्तान में आए होंगे।

उत्तर-भारत के मैदान

सिन्ध, गंगा तथा उनकी सहायक नदियों को हम इन भागों में बाँट सकते हैं—

१—पंजाब का विस्तार सिन्ध से यमुना तक है। सीमा प्रान्त के निकट होने के कारण उत्तर-पश्चिम के दर्रों से जितने भी आक्रान्ता हिन्दोस्तान पर चढ़ाई करने आए, उनका पहला मुक़ाबिला पंजाब में ही हुआ। गंगा की उपजाऊ घाटी को राजपूताना के रेगिस्तान और अरवली की पर्वतमालाएँ पंजाब से जुदा करती हैं। पश्चिमी-पंजाब का तंग-सा हिस्सा ही गंगा और सिन्ध की इन दोनों महान घाटियों को मिलाता है। इस तरह से गंगा नदी की घाटी को एक दोहरी दीवार मिल गई है। यही कारण है कि भारतवर्ष के इतिहास में दक्षिण-पंजाब, पानीपत के आस-पास का वह तंग-सा मैदान जो पंजाब और संयुक्त-प्रान्त को मिलाता है, सदैव युद्ध-भूमि माना जाता रहा है।

२—गंगा की घाटी को भारतवर्ष का हृदय कहना चाहिए। यह घाटी संसार की सबसे अधिक आबाद, उपजाऊ और विशाल घाटियों में है। दिल्ली से काशी तक विस्तृत यह प्रान्त भारतवर्ष की सभ्यताओं, धर्मों और साम्राज्यों का केन्द्र रहा है। गंगा की घाटी का इतिहास अधिकांश में भारतवर्ष का इतिहास है। इस घाटी के उपजाऊ मैदान, जहाज़रानी के योग्य दरिया, बड़े-बड़े जंगल, उपजाऊ ज़मीन और खनिज-वैभव—इन सबने इस प्रदेश के

निवासियों के जीवन को सुखी बनाने में बड़ा काम किया है। इस सम्पन्न और सुखप्रद प्रान्त के अपेक्षाकृत कम कष्टकर जीवन ने जहाँ यहाँ के निवासियों को इतना अवसर दिया कि वे अपना मानसिक विकास भली प्रकार कर सकें, वहाँ इस प्रान्त की सम्पत्ति के लालच से विदेशियों के आक्रमण भी कम नहीं हुए।

३—राजपूताने के विशाल, निर्जल और रेतीले मैदान गंगा की घाटी के पश्चिम में फैले हुए हैं। मुसलमानी आक्रमणों के दिनों में इन रेतीले मैदानों ने स्वाधीनता-प्रेमी राजपूतों को शरण देने का काम दिया। इस ओर से मुसलमानी साम्राज्य के विरुद्ध सदैव युद्ध होते रहे।

इस विस्तृत क्षेत्र के विभिन्न हिस्सों में जल-वायु के अनुसार इनके निवासियों के स्वभाव में भी अन्तर पाया जाता है। सिन्ध नदी के रेगिस्तानों तथा पंजाब का जल-वायु खुश्क है। खेती बाड़ी के लिए भी यहाँ काफ़ी मेहनत करनी पड़ती है, इस लिये इन प्रदेशों के निवासी मज़बूत और वीर हैं। जितना हम पूर्व को ओर चलते हैं, पानी बहुतायत से मिलता है और वायुमण्डल भी अधिक नमी वाला होता जाता है। इसका परिणाम यह है कि वहाँ आबादी बहुत घनी है। उनका शरीर कमज़ोर है। वहाँ की ज़मीन इतनी उपजाऊ है और पानी इस अधिकता से है कि कृषि के लिए उन लोगों को अधिक मेहनत नहीं करनी पड़ती। इस आराम की ज़िन्दगी ने पूरब के निवासियों को मज़बूत नहीं बनने दिया। ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ ही से गङ्गा की इस उपजाऊ घाटी पर विदेशी लोग हमले करते चले आए हैं। इस घाटी को विजय कर विदेशी आक्रान्ता जातियाँ बसती गईं और धीरे-धीरे उनकी

शारीरिक शक्तियों का ह्रास होता चला गया तथा अन्त में उन्हें भी किसी अन्य नई विदेशी जाति से परास्त होना पड़ा।

दक्षिण—हिमालय के बाद विन्ध्याचल पर्वत की महत्ता है। विन्ध्याचल दक्षिण को भारत,से पृथक् करता है। यह तिकोना और तिरछा प्रदेश पश्चिम से पूर्व की ओर झुका हुआ है। इसकी सभी नदियाँ पश्चिम से निकल कर पूर्व की ओर जाती हैं और बंगाल की खाड़ी में समा जाती हैं। उत्तर की नदियों के समान इनमें आवागमन सम्भव नहीं है। भौगोलिक परिस्थितियों ने दक्षिण को शेष भारतवर्ष से पृथक् कर रक्खा है। यही कारण है कि इस देश के इतिहास में दक्षिण का महत्व बहुत कम है। प्राचीन काल में भारतीय अपने देश के इस विस्तृत समुद्र-तट का काफ़ी उपयोग उठाते रहे। उन्होंने अपने व्यवहार को खूब उन्नत और विकसित किया। साथ ही, उन दिनों इन समुद्रों ने भारत को सुरक्षित रखने में भी बड़ी मदद दी, क्योंकि उन दिनों जहाज़ों द्वारा किसी देश पर हमला करना आसान नहीं था।

भारत की जातियाँ

भारत का क्षेत्रफल इतना बड़ा है कि रूस को छोड़कर शेष सम्पूर्ण यूरोपीय महाखण्ड का क्षेत्रफल एक साथ लेने पर भी इस से अधिक नहीं है। इस देश की जनसंख्या, आजकल, करीब ३५ करोड़ है और इसमें सभी तरह के लोग पाए जाते हैं। हज़ारों बरसों से भारत में अनेकों जातियों का सम्मिश्रण हो रहा है, इस लिए भारत की सभी जातियों का विस्तार से परिचय देना तो आसान नहीं है, तथापि इस देश की मुख्य-मुख्य जातियाँ इस प्रकार हैं—

१. मुण्ड और कोल—इन दोनों जातियों के वंशधर आजकल शिकारी जातियों के रूप में छोटा नागपुर, उड़ीसा, उत्तर-पश्चिमी मद्रास, मध्यप्रान्त का छत्तीसगढ़ ज़िला और हिमालय की तराई में पाए जाते है । इन्हें सन्थाल, कोल, मुण्ड आदि कहते हैं। ये लोग सम्भवतः पाषाणयुग और लोहयुग के मनुष्यों की सन्तान हैं। इनकी भाषाएँ तिब्बती-चीनी और आस्टरिक भाषाओं से मिलती हैं। ये लोग कद में छोटे, दबी हुई नाक वाले, काले रंग के और कुरूप होते हैं। इन जातियों के कुछ वंशधर भारत के अन्य स्थानों पर भी पाए जाते हैं; परन्तु उनका जन्म विभिन्न जातियों के सम्मिश्रण से हुआ प्रतीत होता है।

२. चीनी-भारतीय और मंगोल वंश—ये जातियाँ अपने कुछ रूपान्तरों सहित आसाम, सिक्कम, अलमोड़ा, गढ़वाल, भूटान, नैपाल आदि में पाई जाती हैं। इन लोगों की दाढ़ी के बाल नहीं उगते; इनका रंग भी स्पष्टतया पीला होता है। आज से करीब २००० बरस पहले इन जातियों के लोग भारत में बहुत अधिक संख्या में थे। विन्सेंट स्मिथ के अनुसार लिच्छवी-लोग इसी जाति के थे।

३. द्राविड़—दक्षिण भारत में अधिकांश निवासी द्राविड़ जातियों के ही वंशज हैं। वे मज़बूत और छोटे कद के होते हैं। इन लोगों ने अपनी सभ्यता का काफ़ी विकास कर लिया था। इनका वर्णन यथास्थान किया जायगा।

४. भारतीय-यूरोपियन—इस जाति के वंशज पंजाब, राजपूताना और उत्तरीय भारत के अन्य प्रान्तों में काफ़ी हद तक विशुद्ध रूप में पाए जाते हैं। ये लोग ऊँचे कद के और साफ़ गोरे के होते

हैं। काश्मीर के ब्राह्मण इस जाति का एक विशुद्ध नमूना हैं। सुदूर दक्षिण में भी कुछ लोग इस जाति के पाए जाते हैं। मालाबार के नम्बूदरी ब्राह्मण इसी जाति के हैं।

५. मिश्रित जातियाँ—भारतीय इतिहास के आरम्भ ही से विभिन्न जातियों के मिश्रण का काम जारी रहा है। उनमें भेद कर सकना भी बहुत कठिन नहीं है। आर्य-द्राविड़, मंगोल-द्राविड़ आदि किस्मों में उन्हें आसानी से बाँटा जा सकता है। उत्तरीय भारत में भी द्राविड़ रुधिर की जातियाँ उपलब्ध होती हैं। संयुक्त प्रान्त के कुछ भाग तथा कुछ अन्य हिस्सों में इन जातियों का अंश स्पष्टतया दिखाई देता है। भारत के उत्तर-पश्चिमी दर्रों से होकर समय-समय पर अनगिनित जातियों के लोग इस देश में आते रहे हैं। इनमें से बहुत से लोग इसी देश में बस गए, भारतीयों ने उन्हें अपने में बिलकुल खपा लिया। इनमें शक, यूची और हूण विशेष प्रसिद्ध हैं। इन तीनों जातियों के लोग लाखों की तादाद में मिल कर इस देश पर हमले करते रहे। बारी-बारी से इन्होंने भारत के कुछ भाग को जीता और उसमें वे बस भी गए। ख्याल है कि बहुत से राजपूत, जाट और गूजर इन्हीं शकों और हूणों की सन्तान है। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भारतीय आर्य इन शकों, हूणों आदि से विवाह, खान-पान आदि का सम्बन्ध आमतौर से करते रहे, और उन्हें अपने में मिलाते चले गए।

६. मुसलमान—मुसलमानी आक्रमणों ने इस देश में एक नई जाति की वृद्धि कर दी। आठवीं सदी के अरबी आक्रमणों से

लेकर मुग़ल साम्राज्य के निर्माण तक अनेक एशियाई जातियों के लोग भारत में आते रहे । ये लोग विशाल और गोरे रंग के थे, उनका रूप-रंग भारतीय-यूरोपियन लोगों से मिलता था। बलोचिस्तान और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त में तुर्क-ईरानी जातियों के रुधिर का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। अफ़गान, मुग़ल और इसी तरह अनेक अन्य एशियाई जातियों का रुधिर भी वर्तमान भारत के निवासियों में विद्यमान है।

दक्षिण और उत्तर की तुलनात्मक महत्ता

उत्तरीय भारत सदा से उपजाऊ और सम्पन्न रहा है, बाहर की दुनियाँ से भी उसका सम्बन्ध सदैव बना रहा है, इसलिए इस देश के इतिहास में उत्तर भारत की महत्ता बहुत अधिक रही है। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी दक्षिण भारत के राजाओं ने उत्तर भारत का कुछ प्रदेश भी अपने अधीन कर लिया था । परन्तु यह बहुत कम, केवल अपवाद-स्वरूप और वह भी बिलकुल अप्रभावशाली रूप में हुआ है। इधर उत्तर की सभ्यता ने दक्षिण पर बहुत गहरा और स्थायी प्रभाव डाला । इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिण की जातियों ने अपनी अनेक प्रथाओं को सुरक्षित भी किये रक्खा, परन्तु आचार-व्यवहार और धर्म के सम्बन्ध में उन पर उत्तरीय भारत का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा । दक्षिण की सुरक्षित परिस्थितियों का एक परिणाम यह भी हुआ कि वहाँ के राजवंशों के राज्यकाल की अवधि उत्तरीय भारत के राजवंशों की अपेक्षा काफ़ी लम्बी रही। दक्षिण में प्राय: स्थिरता और शान्ति बनी रही। दक्षिणी राजाओं ने उत्तरीय भारत पर आक्रमण करने के प्रयत्न भी नहीं किए ।

उत्तर भारत की जद्दोजहद ने स्वभावतः ही भारतीय इतिहास के अधिकांश पृष्ठों को घेर रक्खा है। ऐतिहासिक भी दक्षिण की ओर अधिक आकृष्ट नहीं हुए। दूसरी ओर दक्षिण भारत के सैकड़ों मील लम्बे और फटे-फटे समुद्रतट का लाभ उठा कर वहाँ के निवासी जहाज़ों और नौकाओं द्वारा समुद्र में से होकर व्यापार करने में सदैव दक्ष रहे हैं।

समुद्रतट

पुराने ज़माने में भारत का समुद्रतट बहुत आकर्षक नहीं समझा जाता रहा। पश्चिम में, पश्चिमी घाट का ७०० मील लम्बा समुद्र-तट बिलकुल सीधा चला गया है। समुद्रतट के निकट पहाड़ियाँ हैं। मराठे लोग इन्हीं पहाड़ियों के शिखरों पर बने किलों में से मुग़ल सेनाओं का सामना किया करते थे। पूर्व के तट पर भी, उन दिनों अच्छे बन्दरगाहों की संख्या अधिक नहीं थी। उधर का अधिकांश तट उथला था। फिर भी इस ओर से सामुद्रिक आवागमन काफ़ी अंश में होता था। इसी ओर से होकर भारतीय नागरिक लंका, ब्रह्मा, जावा, सुमात्रा, स्याम, इण्डोचीन, बोर्नियो और बाली तक जाते रहे। सन् १४६८ में पहले-पहल यूरोप का वास्को-डीगामा ही पश्चिमी घाट पर आकर उतरा, और उस दिन से भारत के सामुद्रिक आवागमन के इतिहास में एक नए युग का प्रारम्भ हुआ।

भारत की भाषाएँ

भारत की प्रमुख-भाषाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—भारतीय-आर्य और द्राविड़। उत्तरीय हिन्दोस्तान की सभी भाषाएँ आर्य-विभाग में आती हैं। इनमें पंजाबी, काश्मीरी, हिन्दी,

बंगाली, मराठी, नैपाली, गुजराती आदि प्रमुख हैं। ये भाषाएँ भारत की प्राचीन भाषाओं से निकली हैं। वैदिक युग की भारतीय भाषाएँ क्रमशः प्राकृत में परिवर्तित होगई थीं; उसके बाद मध्य-युग के प्रारम्भ में इनका जो रूप होगया, उसे 'अपभ्रंश' कहा जाता है। आजकल के भाषाविज्ञ इन आर्य भाषाओं को तृतीयरूप की (Tertiary) भाषा कहते हैं। इन भाषाओं का शब्दकोश आज कल यद्यपि पहले की अपेक्षा अधिक बड़ा हो गया है, परन्तु अधिकांश शब्द वैदिककाल के ही हैं। साथ ही इन भाषाओं के उच्चारण और व्याकरण में भारी भेद आगया है। आधुनिक आर्य भाषाएँ विश्लेषणात्मक ढंग की हैं, जहाँ वैदिक भाषा, संस्कृत और प्राकृत संयोगात्मक श्रेणी की हैं।

द्राविड़ भाषाओं में तामिल, तिलगू, मलयालम, कनारी, तूलू और ओराओं भाषाएँ प्रमुख हैं। इनमें कुछ भाषाओं का साहित्य काफ़ी समृद्ध है। ये द्राविड़ भाषाएँ आर्य भाषाओं से बिलकुल भिन्न हैं; परन्तु करीब दो हज़ार सालों तक निरन्तर आर्य भाषाओं का द्राविड़ भाषाओं पर गहरा प्रभाव रहा और द्राविड़ भाषाओं ने संस्कृत से अपने शब्दकोश को खूब समृद्ध भी किया। द्राविड़ साहित्य का अभी तक पर्याप्त अध्ययन नहीं किया गया।

इन दोनों प्रमुख विभागों के अतिरिक्त भारत में कुछ अन्य भाषाएँ भी विद्यमान हैं। इनमें से मुण्ड, मौंखमेर, तिब्बती-चीनी आदि प्रसिद्ध हैं। ये भाषाएँ असभ्य जातियों में बोली जाती हैं। और इनका साहित्य शून्य के समान है।

संस्कृति की एकता

भारतीय सभ्यता की निरन्तरता—दक्षिण भारत तो पूर्ण रूप से और उत्तरीय भारत भी काफ़ी अंश तक अबाध रूप से, बाहर के किसी भी हस्तक्षेप के बिना, अपनी सभ्यता और संस्कृति का विकास करते रहे हैं। इस देश पर विदेशी आक्रमण होते तो रहे, परन्तु काफ़ी-काफ़ी समय के अन्तर से। जब विदेशी आक्रमण हुए भी, तब भी प्रायः उनका देश के आन्तरिक जीवन पर बहुत गहरा और चिरस्थायी प्रभाव नहीं पड़ा, यहाँ तक कि विजेता जातियाँ भी इस देश में आकर विजित भारतीयों की सभ्यता के रँग में रंगी गईं। इस तरह से भारतीय संस्कृति की एकता प्रारम्भ ही से बनी रही। आन्तरिक बाधाओं ने इस देश में केन्द्रीय सरकार को प्रायः बहुत मजबूत नहीं बनने दिया। केवल पिछली सदी ही से, जब कि वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से भौगोलिक बाधाओं को विजय कर लिया गया है, केन्द्रीय सरकार मजबूत बन पाई है।

भौतिक परिस्थितियों और निवासियों के दृष्टिकोण से भारतवर्ष में बहुत अधिक भेद पाए जाते हैं। जलवायु, उपज, वर्षा, तापमान, तथा अन्य भौतिक दृष्टियों से और जातियों तथा सभ्यताओं के सम्मिश्रण की दृष्टि से जितना अधिक भेद इस देश के विभिन्न हिस्सों में पाया जाता है, उतना शायद ही कहीं और हो। धर्म, सभ्यता और वर्णों ने इस देश के निवासियों को सैकड़ों हिस्सों में बाँट रक्खा है। भाषा की दृष्टि से भी वह देश बीसियों हिस्सों में बँटा हुआ है।

इन स्पष्ट और भारी भेदों के रहते भी भारतीय इतिहास का कोई विद्यार्थी इस देश की एकता के आधारभूत तत्वों को देखे बिना नहीं रह सकता। राजनैतिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारतवर्ष बहुत कम समयों में एक ही सम्राट् के नीचे आया, तथापि वैदिक-युग से इस देश के विभिन्न शासकों के सामने भारत-साम्राज्य स्थापित करने का आदर्श सदैव बना रहा। वैदिक काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष के सम्राट् को चक्रवर्ती-सम्राट् कहा जाता था और इस उद्देश्य से राजसूय और अश्वमेध यज्ञ भी किए जाते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन यज्ञों के विधान का वर्णन बहुत विस्तार के साथ दिया गया है। आरम्भ ही से एक प्रतिभाशाली जाति इस देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक संस्थाओं और प्रथाओं का संचालन करती रही है। भारतवर्ष की विभिन्न जातियाँ जब से भारतीय आर्यों के प्रभाव तथा संसर्ग में आई, तब से वे एक संस्कृति के सूत्र में बँध कर क्रमशः एक खास तरह की सभ्यता का विकास करती गई। इस संस्कृति को 'हिन्दुत्व' का नाम दिया जा सकता है। 'हिन्दुत्व' की कोई एक परिभाषा करना कठिन है। तथापि उसे समझने के लिए कहा जा सकता है कि उसमें वर्ण व्यवस्था की प्रथा है, संस्कृत उसकी पवित्र भाषा है, ब्राह्मण उसके पुरोहित और स्वाभाविक नेता हैं, ब्रह्मा, विष्णु और शिव उसके सब से बड़े देवता हैं, काशी, हरिद्वार आदि उसके तीर्थ हैं और गौ हिन्दुओं के लिए पवित्रतम जीव है। यह हिन्दुत्व, हजारों भेदों के रहते भी, इस विस्तृत महा-देश के

करोड़ों निवासियों को दसों शताब्दियों से एक ही सभ्यता के सूत्र में पिरोये हुए है। हिन्दुत्व इस समूचे देश की रग-रग में विद्यमान है।

ऐतिहासिक स्मिथ का कथन है— "निस्सन्देह भारतवर्ष में एक आधारभूत एकता है, वह एकता जो भौगोलिक पृथकृता या राजनीतिक प्रभुत्व से उत्पन्न हुई एकता से भी बहुत गहरी है। रुधिर, रंग, भाषा, पोशाक मज़हब और रीतिरिवाजों की भिन्नता को भारतवर्ष की वह गहरी एकता खूब अच्छी तरह ढाँपे हुए है?"

एक गुथीली कहानी - भारतवर्ष एक तरह से एक छोटा महाद्वीप है, जिसमें असंख्य भेद पाये जाते हैं। ऐसे महादेश का एक सीधा, सम्बद्ध और सरल इतिहास नहीं हो सकता। इसके भूतकाल का इतिहास लम्बा और गुथीला है। उसमें जगह-जगह भारी चढ़ाव-उतार हैं। ऐसी दशा में एक ऐतिहासिक को केवल ऊपरी रूपरेखा से ही सन्तोष कर लेना पड़ता है। इस देश की सम्पूर्ण धार्मिक संस्थाओं तथा समय-समय पर बने छोटे-छोटे राज्यों का विस्तृत वर्णन न तो सम्भव ही है और न उसकी आवश्यकता ही है। ऐतिहासिक तो केवल इस देश के सांस्कृतिक, राजनीतिक और धार्मिक आन्दोलनों का ही वर्णन कर सकता है। ये आन्दोलन ही इस देश के इतिहास की आत्मा हैं, ये महान आन्दोलन इस देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपना प्रभाव डालते रहे। भारतीय आर्यों की यह एक बड़ी महत्वपूर्ण कृति थी कि उस युग में, जब आवागमन आसान नहीं था, अनेक महान सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलन इस लाखों मील क्षेत्रफल के देश

में सब ओर व्याप्त होते रहे। भारतवर्ष का यह सभ्यता का साम्राज्य केवल इस देश तक ही सीमित नहीं रहा। यह मध्य एशिया, उत्तर-पश्चिमी चम्पा, कम्बोडिया और दक्षिण-पूर्व में बोर्नियो तक व्याप्त हो गया। भारत की इस महान सभ्यता का प्रभाव चीन, जापान और मंगोलिया तक भी पड़ा।

दूसरा अध्याय

भारतीय इतिहास के स्रोत

तिथिक्रम की दिक्कतें

भारतवर्ष के इतिहास के निर्माण में सब से बड़ी दिक्कत वैदिक और प्राग् ऐतिहासिक काल के तिथि-क्रम का निर्णय करने में होती है। इस सम्बन्ध में एक दूसरे को काटने वाले विभिन्न मत पेश किए जाते हैं, और वास्तव में उनका आधार भी इतना अप्रामाणिक है कि उन पर बहुत भरोसा किया नहीं जा सकता। वर्तमान ऐतिहासिक भारतीय तिथिक्रम की इमारत का निर्माण सिकन्दर की भारत-विजय के आधार पर करते हैं, क्योंकि ग्रीक इतिहास में उसकी तिथि उपलब्ध होती है। प्राचीन ग्रीक ऐतिहासिकों ने लिखा है कि भारत की सीमा पर सिकन्दर को सेण्ड्राकोटस नाम का एक भारतीय राजकुमार मिला। उसने सिकन्दर को राजा ज़ैण्ड्रमस की राजधानी पालीबोथ्रा पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया। यह सरल कल्पना की गई कि इस घटना का सैण्ड्राकोटस पुराणों का चन्द्रगुप्त मौर्य था और ज़ैण्ड्रमस नन्द तथा पालीबोथ्रा पाटलिपुत्र। सौभाग्य से यह नामसाम्य एक और आधार पर भी सिद्ध हो गया। अशोक के शिलालेखों में जिन पाँच

ग्रीक राजाओं के नाम आए हैं, उनके नाम ग्रीक साहित्य में भी उन्हीं वर्षों में मिल गए जिनमें, नवीन तिथिक्रम के अनुसार, अशोक की सत्ता स्वीकार की जाती है। तब से यह तिथिक्रम भारतीय इतिहास के 'जहाज़ का लंगर' मान लिया गया। पुराण, बौद्ध-साहित्य, जैन ग्रन्थों तथा अन्य प्रामाणिक साक्षियों के आधार पर भारतीय पुरातत्वविज्ञों ने इस तिथिक्रम का पूर्ण ढांचा तैयार कर लिया है। यह तिथिक्रम काफी प्रामाणिक और विश्वसनीय प्रतीत होता है। ईसा के जन्म से ६ सदी पूर्व तक का तिथिक्रम उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर निश्चित कर लिया गया है। पुराण, महाभारत, रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की तिथियाँ निश्चित करने का प्रयत्न भी किया गया है। परन्तु इस युग की तिथियों के सम्बन्ध में निश्चय के साथ यह दावा कर सकना कठिन है कि वे पूर्णरूप से ठीक ही हैं।

विभिन्न सम्वत—ईसा से सात सदी पूर्व से लेकर मुसलमान-काल तक की तिथियाँ निर्णय करने में प्रचलित सम्वतों की तिथियों का समन्वय न मिलने से बड़ी कठिनाइयाँ पैदा हुईं। इन सम्वतों के सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञात है, वह प्रायः एक दूसरे के विरुद्ध है, तथा कुछ सम्वत ऐसे भी हैं, जिनके सम्बन्ध में प्रामाणिक-तौर पर कुछ भी ज्ञात नहीं। भारत के प्राचीन साहित्य में बहुत सम्वतों का प्रयोग किया गया है, मगर वर्ष की संख्या के साथ यह बहुधा नहीं लिखा गया कि उस सम्वत का नाम क्या है! उदाहरण के लिए कहीं सिर्फ़ २८५ वर्ष मात्र ही लिख दिया गया है। फिर जहाँ अनेक सम्वतों का प्रयोग किया गया है, वहाँ भी यह प्रतीत नहीं होता कि कौन-सा सम्वत कब शुरू

हुआ। उदाहरणार्थ गुप्त साम्राज्य के प्रायः सभी लेखों में गुप्त सम्वत का प्रयोग किया गया है, मगर यह तथ्य ज्ञात करने में वर्तमान ऐतिहासिकों को करीब ५० साल मेहनत करनी पड़ी कि यह सम्वत गुप्त सम्वत ही है। उससे पूर्व यह एक भारी समस्या थी। मन्दसोर के शिलालेख से यह समस्या हल हुई। तब जाकर सन ३१९-२० ईसवी गुप्त-सम्वत का प्रथमवर्ष स्वीकार किया जा सका। उससे पूर्व तक ३०० वर्षों के तिथिक्रम के सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता था। अभी तक भी यह निश्चय नहीं किया जा सका कि कुशान राजाओं के राज्य-काल की तारीखें क्या थीं, यद्यपि इस सम्बन्ध में ऐतिहासिकों ने बड़ी मेहनत की है। भारतीय साहित्य में करीब ३० सम्वतों का प्रयोग किया गया है और विभिन्न लेखक विभिन्न समयों में नए-नए सम्वतों का प्रयोग करते रहे हैं।

भारतीय इतिहास के विद्यार्थी को कदम-कदम पर तिथिक्रम के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है, उस के सामने जो वृत्तान्त रक्खे जाते हैं, उनके वर्णनों में सदियों का अन्तर पाया जाता है। महाकवि कालिदास के सम्बन्ध में अभी तक कोई सर्वमान्य तिथि निश्चित नहीं की जा सकी। विभिन्न ऐतिहासिकों ने उनकी तिथि पहली सदी ईसा पूर्व से ५ वीं सदी ईस्वी तक निश्चित की है। अर्थात् उनकी तारीखों के सम्बन्ध में जो मत प्रचलित हैं, उनमें ६ सदियों का अन्तर है! इसमें सन्देह नहीं कि अनेक प्रतिभाशाली और बहुश्रुत ऐतिहासिकों के अनथक प्रयत्न से तिथिक्रम के सम्बन्ध की अनेक दिक्कतें हल की जा सकी हैं, परन्तु अब भी इस

सम्बन्ध में बहुत सी समस्याएँ हल नहीं की जा सकीं।

दक्षिण भारत के इतिहास का तिथिक्रम निर्णय कर सकना तो और भी अधिक कठिन है। दक्षिण के प्राचीन इतिहास का तिथिक्रम अभी तक बिलकुल अन्धकार में है। उत्तर भारत के इतिहास के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों का प्रयत्न सौ बरस से जारी है, परन्तु दक्षिण भारत के प्राचीन साहित्य के विश्लेषणात्मक अध्ययन का प्रयत्न हाल ही में शुरू किया गया है।

ऐतिहासिक साहित्य की कमी।

कुछ लोगों को इसमें भी सन्देह है कि प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि थी भी या नहीं। प्राचीन भारतीय साहित्य में जहाँ बड़ी-बड़ी और गूढ़ समस्याओं पर बहुत अधिक और स्पष्ट प्रकाश डाला गया है, वहाँ विश्लेषणात्मक इतिहास के सम्बन्ध की बातों की बड़ी कमी है। इस सम्बन्ध में ग्रीस और रोम का प्राचीन साहित्य भारतीय साहित्य से अधिक उन्नत प्रतीत होता है। ग्यारहवीं सदी ईसवी में अलबरूनी नाम का जो अरब यात्री भारतवर्ष में आया था, उसने भी भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि की कमी की शिकायत की है। उसने लिखा है—'हिन्दू इतिहास को महत्ता नहीं देते। अपने राज्यों के तिथिक्रमों के सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी दिलचस्पी नहीं और जब उनसे इस सम्बन्ध में कुछ भी, पूछा जाता है, तब वे मनगढ़न्त कहानियाँ सुनाने लगते हैं।'

ऐतिहासिक सामग्री का विनाश—ऐतिहासिक साहित्य के बिना भी ऐतिहासिकों का काम चल सकता था, यदि उन्हें अन्य ऐतिहासिक सामग्री प्रभूत मात्रा में मिल जाती। प्राचीन भारतीय

राजाओं में ऐतिहासिक बुद्धि हो या न हो, परन्तु यह एक तथ्य है कि अपने कार्यों के सम्बन्ध में वे विस्तृत रिकार्ड रक्खा करते थे। ये रिकार्ड बाकायदा और प्रारम्भिक आधारों पर तैयार किए जाते थे। इस बात के विश्वसनीय प्रमाण मिले हैं कि ईसा से चार सदी पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल तक ये रिकार्ड बाकायदा रक्खे जाते थे। परन्तु अनेक कारणों से ये रिकार्ड नष्ट हो गए। प्रतिकूल जलवायु, वर्षा, कृमि, और राजनीतिक गड़बड़ों से ये रिकार्ड नष्ट हो गए। प्राचीन हिन्दू काल में रिकार्ड रखने का काम वंशपरम्परागत भाटों और चारणों के सपुर्द था। इनमें से कुछ रिकार्ड, जैसे नैपाल और उड़ीसा की राजवंशावलियाँ, आज भी उपलब्ध होती हैं। कर्नल टाड ने अपने प्रसिद्ध "राजस्थान" का निर्माण भी इन्हीं परम्परागत वंशावलियों के आधार पर किया है। टाड की यह पुस्तक सन १८२६ में प्रकाशित हुई थी। इसी तरह कुछ और वंशावलियाँ भी प्राप्त हुई हैं, परन्तु इस तरह का अधिकांश साहित्य विनष्ट हो गया है।

प्राचीन पुरावृत्त—पुराणों में प्राचीन राजवंशावलियों की बहुत-सी सूचियाँ संग्रहीत हैं। स्वर्गीय पार्जीटर ने बड़ी मेहनत से इन वंशावलियों का विश्लेषणात्मक सम्पादन और संग्रह किया है। गुप्त वंश के प्रारम्भ तक के राजवंशों का वर्णन पुराणों में है। प्राचीन इतिहास में से शक आदि कुछ विदेशी जातियों का संक्षिप्त सा वर्णन ही पुराणों में पाया जाता है। इन राजवंशों का जो वर्णन पुराणों में है, वह बहुत स्थानों पर विकृत, अतिशयोक्तिपूर्ण तथा अपने को ही खंडित करने वाला है। कहीं-कहीं समकालीन राजवंशों को एक दूसरे के बाद रख दिया गया है। यह वर्णन है भी

बिलकुल थोड़ा और ढांचे के ढंग का ही । परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे प्राचीन तिथिक्रम का स्रोत पुराण ही हैं । प्राचीन क्षत्रिय इतिवृत्त पुराणों में संग्रहीत हैं ।

राजतरंगिणी—संस्कृत का जो साहित्य इस समय उपलब्ध होता है, उसमें से केवल 'राजतरंगिणी' को ही विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा जा सकता है । राजतरंगिणी का लेखक बारहवीं सदी में काश्मीर राज्य का दीवान था । राजतरंगिणी में काश्मीर का इतिहास संग्रहीत है । यह ग्रंथ भी त्रुटियों से खाली नहीं । उदाहरण के लिए 'राजतरंगिणी' में मिहिर कुल और उसके पिता तोरमन में ७०० वर्षों का अन्तर डाल दिया गया है। अशोक का समय १२ वीं सदी ईसा पूर्व रक्खा गया है और केवल एक ही राजा के राज्यकाल की अवधि ३०० वर्ष लिखी है । इन दोषों के रहते भी राजतरंगिणी से यह स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव नहीं था। कल्हण ने राजतरंगिणी में अपने से पूर्व के इसी ढङ्ग के अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों का हवाला दिया है । इनमें से 'नीलमणि' ग्रन्थ नीलमत पुराण के नाम से हाल ही में उपलब्ध हुआ है । कल्हण का कहना है कि उसका ग्रन्थ ग्यारह 'राजकथाओं' के प्रमाणिक आधार पर आश्रित है । कल्हण ने प्राचीन शिला लेखों का प्रयोग भी इस पुस्तक में किया है ।

अन्य आधार– कुछ अन्य आर्य ऐतिहासिक ग्रन्थ भी

---

1 'Ancient Indian Tradition" and "The Dynasties of the Kali Age" By Pargiter.

प्राप्त होते हैं । इन ग्रन्थों में जो कथानक वर्णित हैं, वे इतिहास पर आश्रित हैं। महाकवि बाण का 'हर्ष चरित', कविवर बिल्हण का 'विक्रम देव चरित' और पद्मगुप्त का 'नवसाहसांक चरित' इसी किस्म की कृतियाँ हैं । इनके अतिरिक्त बल्लाल का 'भोज प्रबन्ध', वाक्पतिराज का 'गौडवाह', चन्द वरदाई का 'पृथवीराज चरित' और किसी अज्ञातनाम लेखक का 'पृथवीराज विजय' भी इसी श्रेणी के ग्रन्थ हैं। दक्षिण भारत के साहित्य में भी इस तरह के अर्ध-ऐतिहासिक ग्रन्थों का अभाव नहीं है । तामिल कविताएँ, कलावती, आदि कृतियाँ इसी प्रकार की हैं।

उपर्युक्त साहित्य से यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि भारत के प्राचीन आर्यों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव नहीं था। तथापि यह भी प्रतीत होता है कि उस युग के प्रभावशाली, पढ़े-लिखे लोग ऐतिहासिक साहित्य को दार्शनिक साहित्य के समान महत्व नहीं देते थे।

प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोतों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

१. इस देश का साहित्य

२. भौतिक अवशेष

३. विदेशियों के लेख

ईसा से ८०० वर्ष पहले का इतिहास बिलकुल ही बेसिलसिले का और अनिश्चित-सा है । परन्तु यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष में आर्य सभ्यता और आर्य साहित्य का विकास उन्हीं दिनों हुआ। इसी युग में प्राचीन आर्यों के धार्मिक विचार, साहित्य, सामाजिक-परम्परा, राजनीतिक संघ आदि का विकास और निर्माण

हुआ। उस काल का इतिहास जानने के लिए हमारे पास केवल संस्कृत साहित्य का ही आधार है। सातवीं सदी ईसा पूर्व से क्रमशः साहित्यिक प्रमाणों की वृद्धि होती गई है। इस युग के लिए न केवल हमारे पास ब्राह्मण ग्रन्थ ही मौजूद हैं, अपितु बौद्ध, जैन और तामिल ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। बड़े ही धैर्यपूर्ण अन्वेषणों से इस युग के सम्पूर्ण साहित्य को मथ कर ऐतिहासिक घटनाएँ ढूँढ़ निकाली गई हैं। बहुत कुछ कर लिया गया है, मगर अब भी बहुत कुछ करना बाक़ी है।

ऐतिहासिक अथवा अर्ध-ऐतिहासिक साहित्य के अतिरिक्त भारतवर्ष के अन्य प्राचीन साहित्य में भी अनेकों ऐसी बातें बिखरे रूप में भरी पड़ी हैं, जिनके आधार पर इस देश का क्रमबद्ध इतिहास निर्माण करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। इस साहित्य का समालोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने से प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य के घटना वर्णनों का सही-सही मतलब समझने तथा प्राचीन तिथिक्रम का सिलसिला जोड़ने का महत्व-पूर्ण कार्य किया जा सकता है। इस साहित्य से, कहीं-कहीं तो, ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं पर भी प्रकाश पड़ता है, जिन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक साहित्य में कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। वैदिक तथा प्राग्बौद्ध काल के लिए हमारे पास प्राचीन-साहित्य ही एकमात्र आधार है। भारतवर्ष के इतिहास का निर्माण करने में वैदिक तथा संस्कृत साहित्य, पालि भाषा का बौद्ध साहित्य, प्राकृत भाषा का जैन साहित्य, संस्कृत तथा पालि भाषाओं के अन्य साहित्य से बड़ी अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है और हो रही है।

पुरातत्व की साक्षियाँ

पुरातत्व की साक्षियों के निम्नलिखित विभाग किए जा सकते हैं—

१. प्राग्-ऐतिहासिक काल के अवशेष
२. शिला लेख
३. प्राचीन भवन

पाषाण तथा लोह युगों के अनेक अवशेष अब तक प्राप्त हो चुके हैं। दक्षिण में द्राविड़-सभ्यता के प्रारम्भिक विकास के दिनों के कुछ अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। आर्यों के भारत में आने से पूर्व के युग के सम्बन्ध में, केवल ये आधार ही हमारे पास विद्यमान हैं। इन साधनों से जो ज्ञान उपलब्ध होता है, उसकी पुष्टि भारत में बसने वाली प्राचीन जंगली जातियों की परम्परागत प्रचलित प्रथाओं से भी होती है। ये जातियाँ अपनी प्राचीन प्रथाओं को सुरक्षित रखने में अत्यधिक निपुण हैं।

भारतवर्ष के प्राचीन अवशेषों की अत्यधिक सावधानतापूर्ण खुदाई से प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध का बहुत-सा महत्वपूर्ण मसाला प्राप्त हुआ है। मौर्यकाल के सम्बन्ध की अनेक शंकाओं का समाधान डा० स्पूनर की अध्यक्षता में की गई पाटलिपुत्र की खुदाई से स्वयं ही होगया है। तक्षशिला में सर जोन मार्शल की अध्यक्षता में जो खुदाई हुई है, उससे भी कुशान और शकों के सम्बन्ध की बहुत-सी महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई है। गान्धार-शिल्प का परिचय भी तक्षशिला की खुदाई से ही प्राप्त हुआ है। सारनाथ की खुदाई से भी बहुत-सा महत्वपूर्ण मसाला प्राप्त हुआ

है। हाल ही में हड़प्पा (पंजाब) और महेंजोदारो (सिन्ध) में जो खुदाई हुई है, उससे सिन्धु नदी की घाटी की समुन्नत प्राचीन सभ्यता का पहले-पहल अखण्डनीय प्रमाण मिला है। इन स्थानों की खुदाई अभी तक जारी है, मुमकिन है कि भविष्य में इनसे और भी बहुत-सी नई-नई महत्वपूर्ण बातें ज्ञात हो सकें। प्राचीन अवशेषों की खुदाई के काम में बहुत अधिक धन खर्च करना पड़ता है और यह कार्य अभी तक यथेष्ट रूप से किया नहीं जा सका। जब उज्जैन आदि प्राचीन भारत के अन्य राजनीतिक केन्द्रों की खुदाई भी सम्पूर्ण हो लेगी, तब अवश्य ही प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में अन्य भी अनेक बातें प्रामाणिकता के साथ कही जा सकेंगी।

प्राचीन शिलालेख भी कई प्रकार के हैं—राजकीय सूचनाएँ, धार्मिक निर्देश, राजकीय प्रशस्तियाँ, विजयी राजाओं के कार्यों का उल्लेख, ताम्रपत्रों पर भूमिदान की सूचना आदि।

पिप्रह्वा से प्राचीन लेखों के जो टूटे हुए अवशेष मिले हैं, उनमें संक्षिप्त घटनाओं का उल्लेख है। इन लेखों को सम्भवतः महात्मा बुद्ध के देहावसान के एक सौ साल बाद लिखा गया था। उसके बाद अशोक के समय के जो शिलालेख प्राप्त होते हैं, वे निस्सन्देह बहुत प्रामाणिक और बहुमूल्य हैं। उनके समय के सम्बन्ध में अन्य ऐतिहासिक साक्षियाँ भी उपलब्ध होती हैं। सम्राट् अशोक के समय के सम्बन्ध में परम्परागत अनुश्रुति, साहित्य, सिक्के, शिल्प, भवन-निर्माण-कला आदि साक्षियों से जो कुछ भी ज्ञात होता है, उसे उनके समय के शिलालेख बड़ी पूर्णता के साथ नियन्त्रित करते हैं। साथ ही यह भी एक तथ्य

है कि इन बहुमूल्य शिलालेखों से हमें जो ऐतिहासिक ज्ञान उपलब्ध होता है वह आनुशंगिक है, उनके बनाने का उद्देश्य ऐतिहासिक रिकार्ड रखना नहीं था। इस लिए इन तथा इसी ढंग के अन्य शिलालेखों से हमें जो सहायता मिलती है, उसे प्राप्त करने के लिए बड़ी मेहनत और धैर्य की दरकार होती है। इन सब शिलालेखों का एक दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है, यह जानने से हमारा इतिहास ज्ञान बहुत बढ़ सकता है। शिलालेखों के धैर्यपूर्ण अध्ययन का यह कठिन कार्य अभी करीब सौ सालों से ही शुरू हुआ है।

प्राचीन लेखों में दानपत्रों की संख्या सब से अधिक है। इनमें से बहुत से दानपत्रों को एक तरह से 'बयनामा' भी कहा जा सकता है। इस तरह के बहुत से लेखों में सम्पत्ति, अधिकार, कर, फीस आदि का वर्णन है। अधिकांश दानपत्र राजाओं की ओर से विभिन्न प्रजाजनों को लिखे गए हैं। इनसे भी प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध होती है। प्राचीन भारत के भूगोल तथा तिथिक्रम का निर्णय करने में इन दानपत्रों से पर्याप्त सहायता मिली है!

ये शिलालेख भारतवर्ष भर में से प्राप्त हुए हैं। पेशावर से लेकर दक्षिण तक और आसाम से लेकर काठियावाड़ तक; साथ ही भारत से बाहर अफ़गानिस्तान, नैपाल, मध्यएशिया आदि खण्डों तथा कम्बोडिया, चम्पा, जावा आदि द्वीपों से भी भारतीय शिलालेख या धातुलेख प्राप्त हुए हैं। आर्यों ने मलाया आर्चीपेलागो, दक्षिण-पूर्व-एशिया, मध्य-एशिया और तुर्किस्तान में अपना राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापन करने में जो सफलता

प्राप्त की थी, उसके प्रमाण उन देशों में प्राप्त शिलालेखों से मिलते हैं। ये शिलालेख हज़ारों की संख्या में हैं। प्रति दिन नए-नए शिलालेख प्राप्त हो रहे हैं। इस दिशा में काफ़ी अन्वेषण किया गया है, परन्तु अभी और अधिक और गहरे अन्वेषण की आवश्यकता है। प्राचीन परम्पराओं की मदद से हम इन शिलालेखों द्वारा ज्ञात घटनाओं और तिथियों के व्यवधान को पूरा कर सकते हैं। भारतीय इतिहास के निर्माण में इन शिलालेखों को अतिरिक्त प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है।

बहुत अधिक महत्व के शिलालेख काफ़ी कठिनाई से मिलते हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण और मनोरंजक लेखों का निर्देश यहाँ किया जाता है। इनके नाम हैं—अशोक का रुमिन्देई (Rumendie) का शिलालेख (तीसरी सदी ईसा पूर्व), उड़ीसा के खारवेल का हाथीगुम्फा में प्राप्त शिलालेख (दूसरी सदी ईसा पूर्व), महाक्षत्रप रुद्रदामन का गिरनार में प्राप्त शिलालेख (दूसरी सदी ईस्वी), समुद्रगुप्त का अलाहाबाद में प्राप्त शिलालेख (चौथी सदी ईस्वी), राजा चन्द्र का महरौली में प्राप्त शिलालेख (चौथी या पांचवीं सदी ईस्वी), वत्सभट्टी का मन्दसोर में प्राप्त शिलालेख (पांचवीं सदी ईस्वी), यशोधर्मन का मन्दसोर में प्राप्त शिलालेख (पांचवीं सदी ईस्वी), हूणराज तोरमान और मिहिरकुल के शिलालेख (पांचवीं और छटी सदी ईस्वी), पुलिकेशिश का एहोल में प्राप्त शिलालेख (सातवीं सदी ईसवी), बनवासी के कदम्ब-वंश का तालगुन्द में प्राप्त शिलालेख और पश्चिमी

गंग राजाओं के श्रवण-बेल-गोल में प्राप्त शिलालेख। इन सब से न केवल प्राचीन राज्यों के इतिहास का ढांचा ही ज्ञात होता है, अपितु तत्कालीन सामाजिक संस्थाओं, सिंचाई, स्थानीय राज्यों, न्याय, शासनप्रथा और साहित्य आदि पर भी काफ़ी प्रकाश पड़ता है।

आज यदि सम्राट् अशोक मौर्य को प्राचीन भारतीय इतिहास का सब से बड़ा व्यक्ति स्वीकार किया जाता है, तो इसका एक बहुत मुख्य कारण अशोक के समय के वे शिलालेख हैं, जिनके द्वारा उस महान् सम्राट् के राज्यकाल की बहुत-सी महत्वपूर्ण सचाइयाँ ज्ञात हो सकी हैं। यदि हमें गुप्तवंश के समय के सैकड़ों शिलालेख प्राप्त न हुए होते, तो हम आज उन महान गुप्त सम्राटों के सम्बन्ध में कुछ भी न जानते होते। सम्भवतः गुप्तवंश प्राचीन भारतीय राजवंशों में सब से अधिक महत्वपूर्ण, और कुछ अंशों में तो मौर्यवंश से भी अधिक महत्वपूर्ण है। गुप्तवंश के सम्राट् समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त भारतीय इतिहास की दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियाँ हैं। परन्तु यह एक विचित्र बात है कि इन दोनों महान सम्राटों का वर्णन भारतीय साहित्य में नहीं मिलता। कहीं पर इन दोनों के सम्बन्ध में एक भी लाइन प्राप्त नहीं होती।

सिक्के—इतिहास की दृष्टि से प्राचीन सिक्कों की भी पर्याप्त महत्ता है, क्योंकि उन पर राजाओं की तिथि और उनके वंश के सम्बन्ध में लिखा रहता है। उनसे तिथिक्रम बनाने में बड़ी सहायता मिलती है। सिक्कों की तारीखों से इतिहास के तिथिक्रम की अनेक समस्याएँ हल हुई हैं। दूसरी सदी ईसा पूर्व के आस-पास जो इण्डो-ग्रीक, इण्डो-पार्थियन और इण्डो-बैक्ट्रियन राजवंश

उत्तर-पश्चिमी भारतवर्ष पर राज्य करते थे, उनके तिथिक्रम का निर्णय करने में तत्कालीन सिक्कों की बड़ी मदद मिली है।

स्मारक—प्राचीन भवनों, स्मारकों तथा कला के अन्य कार्यों का गहरा निरीक्षण करने से भी प्राचीन आर्य सभ्यता का अध्ययन करने में बड़ी सहायता मिली है। भारत में धार्मिक विचारों का विकास किस तरह हुआ है, यह बात जानने में विभिन्न समयों के स्तुप, मन्दिर आदि के निर्माण को देख कर बहुत कुछ ज्ञात किया गया है। भारतीय आर्यों ने अपने देश के बाहर, अन्य उपनिवेशों को किस तरह सभ्य बनाया, यह बात बोरोबूदुर, अंगकोर आदि प्राचीन हिन्दू मन्दिरों से भली प्रकार ज्ञात हुई है। भारत में भी बौद्ध, ब्राह्मण, जैन आदि विभिन्न धर्म मन्दिरों का निर्माण अध्ययन करने की चीज़ है। भारतीय धर्म, भारतीय कला और भारतीय समाज का अध्ययन करने में इन भवनों की रचना से बड़ी और बहुमूल्य सहायता मिली है।

विदेशी यात्रियों के लेख

प्राचीन भारतीय इतिहास के छिद्रों को पूरा करने में विदेशी यात्रियों के उन लेखों से बड़ी और बहुमूल्य सहायता मिली है, जिनमें उन्होंने भारत का वर्णन किया है। इस देश के इतिहास का जो स्वरूप आज उपलब्ध होता है, वह इन विदेशी लेखकों की कृतियों के बिना कभी पूर्ण नहीं हो सकता था। इन लेखों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

१. पाश्चात्य लेखकों की कृतियाँ

२. चीनी वृत्तान्त

३. प्रारम्भिक मुसलमान लेखक

ईसा से पाँचवीं सदी पूर्व ग्रीस के महान लेखकों, हिरोडोटस (Herodotus) तथा टेसिआज़ (Ktesias) ने जो रचनाएँ की थीं, उनमें भी भारत का वर्णन मिलता है। उसके बाद ईसा से चौथी सदी पूर्व जब सिकन्दर ने भारत पर चढ़ाई की थी, तब उसके साथ अनेक प्रसिद्ध यूनानी लेखक भारतवर्ष में आए थे, उनकी कृतियों में भारत का वर्णन है। तदनन्तर सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय यूनानी राजा सैल्यूकस का सुप्रसिद्ध दूत मैगस्थनीज़ वर्षों तक भारतवर्ष में रहा। मैगस्थनीज़ ने अपने भारत निवास के संस्मरण विस्तार के साथ लिखे थे। ये संस्मरण अब उपलब्ध नहीं होते, परन्तु मैगेस्थनीज़ के जिन लेखों को अन्य पाश्चात्य लेखकों न उद्धृत किया था, वे आज भी उपलब्ध होते हैं, उनसे चन्द्रगुप्त कालीन भारत का इतिहास लिखने में अमूल्य सहायता मिली है। टालेमी (Ptolemy) तथा प्लिनी (Pliny) की कृतियों और 'पैरीप्लस आफ़ एरीथ्रियन सी' के अज्ञात प्राचीन लेखक की रचना से भी भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात हुआ है।

ईसवी सन के प्रारम्भ तक चीन और भारतवर्ष में अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। दोनों देशों का सम्बन्ध क़रीब १००० वर्षों तक अक्षुण्ण बना रहा। पाँचवीं सदी ईसवी के आरम्भ से भारत में ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से आने वाले चीनी यात्रियों का ताँता निरन्तर लगा रहा। सैकड़ों चीनी उन दिनों भारतवर्ष के प्रसिद्ध प्रसिद्ध विश्व-विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते थे। तब चीनी जनता भारतवर्ष को अपना तीर्थ स्थान मानती

थी। जो चीनी यात्री इस देश में आए, उनमें अनेक महान विद्वान भी थे। अनेकों ने इस समूचे देश का परिभ्रमण किया। क़रीब ६० चीनी यात्रियों द्वारा लिखे गए भारत वृत्तान्त आज भी प्राप्त होते हैं। इनमें फ़ाहियान (चौथी सदी) य्वान च्वांग अथवा ह्यूनसांग (सातवीं सदी) इत्सिंग (सातवीं सदी) विशेष महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध हैं। इन तीनों यात्रियों के वर्णनों, इनमें भी ह्यूनसांग की रचनाओं से, तत्कालीन भारत के इतिहास पर प्रत्येक दृष्टि से गहरा प्रकाश पड़ता है।

साथ ही भारतवर्ष के नालन्दा, उज्जैन आदि प्रमुख विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों को समय-समय पर व्याख्यान देने के लिए चीन में निमन्त्रित किया जाता था। ये विद्वान अपने साथ भारतीय साहित्य को अनेक उत्तम कृतियाँ चीन में ले जाते थे और चीनी सम्राटों की आज्ञा से वहाँ उनका अनुवाद किया जाता था। यही कारण है कि कुछ पुस्तकें भारतवर्ष में तो नहीं मिलतीं परन्तु उनके अनुवाद चीन में आज भी प्राप्त होते हैं। ईसा से दो सदी पूर्व से लेकर चीन का जो इतिहास लिखा जाता रहा है, उससे भी भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है, क्योंकि तब से दोनों महान देशों में संस्कृति का सम्बन्ध निरन्तर बना रहा।

अलबरूनी—महमूद के साथ अलबरूनी नाम का एक विद्वान् मुसलमान लेखक भी भारतवर्ष में आया था। उसने तहक़ीक़े-हिन्द (भारत सम्बन्धी अन्वेषण) नाम से एक पुस्तक लिखी थी, जो अभी तक प्राप्त होती है। अलबरूनी ने भारतीय साहित्य का गहरा अनुशीलन किया और यहाँ की अवस्थाओं को अपनी

आँखों से देखकर वैज्ञानिक ढंग पर यह उपर्युक्त पुस्तक लिखी। दसवीं सदी ईसवी के अन्त में भारतवर्ष की जो आन्तरिक दशा थी, उस पर अलबरूनी की पुस्तक से यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। अलबरूनी से बहुत समय पूर्व सुलेमान सौदागर नाम का एक अरबी व्यापारी इस देश में आया था। उसने जो कुछ लिखा था, उससे पश्चिमी भारत के तत्कालीन इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, परन्तु इस ओर ऐतिहासिकों का ध्यान विशेष रूप से अभी तक आकृष्ट नहीं हुआ।

भारतीय सभ्यता का विदेशों में प्रसार किस तरह हुआ, इस सम्बन्ध में विदेशी लेखों द्वारा बहुत कुछ ज्ञात होता है। जावा, श्याम, ख्मेर, चम्पा आदि प्राचीन भारतीय उपनिवेशों में, संस्कृत तथा स्थानीय भाषाओं में अनेक बहुमूल्य शिला-लेख प्राप्त हुए हैं; इनके अतिरिक्त उन सुदूर देशों में भारतीय कला के ढंग पर निर्माण किए गए अनेक बड़े-बड़े मन्दिर तथा प्राचीन भवनों के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, इन सब से भारतीय सभ्यता के विदेशों में प्रसार का इतिहास काफ़ी विस्तार तथा प्रामाणिकता के साथ जाना जा सकता है।

पिछले दिनों से तिब्बत से भी इस तरह के अनेक लेख तथा पुस्तकें मिलनी शुरू हुई हैं, जिनसे भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में काफ़ी कुछ ज्ञात हो सकता है। परन्तु इस दिशा में विशेष प्रयत्न अभी तक नहीं किया गया।

प्राचीन भारतीय इतिहास की वर्तमान दशा

पिछले सौ सालों से सैकड़ों यूरोपियन, अमेरिकन तथा भार-

तीय विद्वान इस देश के प्राचीन इतिहास के अन्वेषण का कार्य करते आ रहे हैं। यूरोपियन विद्वानों में अंग्रेज़ों की संख्या विशेष-तौर से अधिक है। इतिहास के सम्पूर्ण स्रोतों का अनुशीलन करने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। परिणाम यह हुआ है कि अब प्राचीन भारतीय इतिहास की रूप-रेखा निश्चित रूप से तैयार कर ली गई है। अब भी उसमें कुछ छेद अवश्य हैं। उदाहरणार्थ तीसरी सदी ईसवी के पिछले ५० सालों के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी मालूम नहीं किया जा सका। तिथिक्रम कई स्थानों पर अभी तक दोषपूर्ण तथा सन्देहास्पद है—उदाहरणार्थ कुशान काल के सम्बन्ध में। यह तो भली प्रकार सिद्ध हो गया है कि प्राचीन भारतीय आर्यों ने अनेक विदेशों में अपनी सभ्यता का प्रसार किया था। उन उपनिवेशों में जो अवशेष मिले हैं, उन के द्वारा, उनमें भारतीय सभ्यता के प्रभाव का विस्तृत इतिहास भी जान लिया गया है, परन्तु कौन-कौन भारतीय कब-कब उन उप-निवेशों में गए और वहाँ जाकर उनका भारत से क्या सम्बन्ध बना रहा, इस सम्बन्ध में अभी तक बहुत ज्ञात नहीं हो सका। इसी तरह दक्षिण के इतिहास के सम्बन्ध में, साधनों की कमी के कारण, अभी तक बहुत कम तथ्य ज्ञात हो सके हैं। इसी तरह प्राचीन इतिहास के अन्य भी अनेक पहलू अभी तक छिपे हुए और अस्पष्ट हैं। तथापि भारतीय आर्यों की सभ्यता का विकास, उनका समाज-संगठन और उनकी सब तरह की संस्थाओं के सम्बन्ध में आज एक क्रमबद्ध इतिहास अवश्य तैयार कर लिया गया है। एक बात और भी है। भारतीय इतिहास के किसी काल के सम्बन्ध में तो बहुत ही कम सामग्री प्राप्त हुई है और किसी

काल के सम्बन्ध में बहुत अधिक। इस का परिणाम यह हुआ है कि आज जो इतिहास तैयार हो पाया है उसमें असमानता बहुत अधिक आगई है। दूसरे शब्दों में भारतीय इतिहास के किसी-किसी कालरूपी मैदान को अन्वेषण द्वारा बहुत गहराई से खोद डाला गया है और किसी-किसी जगह उसे सिर्फ़ खुरपी से छूआ भर ही गया है। अभी तक यह असम्भव है कि भारतवर्ष का इतिहास वास्तविक तथ्यों के अनुपात से लिखा जा सके, क्योंकि सम्पूर्ण वास्तविकता ही अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी।

बहुत से ऐतिहासिक अन्वेषण अभी तक पुस्तकों के रूप में भी नहीं आए। अभी तक वे केवल सामयिक रिसर्च पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुए हैं।

पिछले दिनों प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण के लिए कितना गहरा और कितना सफल प्रयत्न किया गया है, यह बात एक ही उदाहरण से भली प्रकार जानी जा सकती है। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ऐतिहासिक एलफिन्स्टन ने लिखा है कि भारतीय इतिहास में सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व की घटनाओं के सम्बन्ध में एक भी तिथि निश्चित कर सकना और इस देश पर मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व की घटनाओं का सम्बद्ध वर्णन कर सकना सम्भव ही नहीं है। एलफिन्स्टन के समय में सम्भवतः उसकी यह स्थापना ठीक थी। परन्तु आज यह बात नहीं रही। आज हमारे सम्मुख भारतीय इतिहास की इमारत का बहुत-सा मसाला उपस्थित है। पश्चिम की विश्लेषणात्मक पद्धति से इन पूर्वोक्त ऐतिहासिक स्रोतों की छानबीन करली गई है और

इस कार्य में पर्याप्त सफलता मिली है। यह कार्य अभी तक जारी है। इस सम्बन्ध में प्रति वर्ष नया-नया ज्ञान बढ़ाया जा रहा है।

प्राचीन भारतीय सभ्यता की कहानी कई अंशों में अत्यधिक विषमता लिए हुए है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उसका चित्र किसी भी चित्रपट पर ठीक न बन सकेगा। उसका दृश्य अत्यधिक विशाल है। कहीं-कहीं वह धुँधला भी है और आँखों को उसका सिलसिला ही टूटता हुआ दिखाई देने लगता है। दूसरी ओर किसी-किसी जगह उसमें बड़े मनोरंजक विस्तार आगए हैं। सम्भवतः इसका कारण यही है कि भारतीय इतिहास के विद्वानों का पूरा ध्यान अभी तक इस क्षेत्र के नए-नए अन्वेषणों की ओर ही है। भारतीय सभ्यता को एक साथ लेकर उसे समन्वयात्मक दृष्टि से देखने का सब से अधिक महत्वपूर्ण कार्य अभी तक बहुत कम किया गया है।

तीसरा अध्याय

आर्यों से पूर्व का भारत

इस देश में आर्यों के आगमन से पूर्व के इतिहास के सम्बन्ध में एक भी साहित्यिक रिकार्ड नहीं मिलता। प्राचीन काल के अन्वेषणों से इस लम्बे और अज्ञात काल के सम्बन्ध में थोड़े-बहुत तथ्य ज्ञात हुए हैं। इस युग का कोई सम्बद्ध इतिहास लिख सकना अभी तक सम्भव नहीं है, यद्यपि पुरातत्वज्ञों ने प्राचीन काल के जो अवशेष खोज निकाले हैं, उनकी मदद से तथा भारत की वर्तमान जंगली जातियों की प्रथाओं—जो प्राचीन काल से विना किसी परिवर्तन के चली आ रही हैं—के आधार पर आर्यों से पूर्व के भारतीयों के सम्बन्ध में कुछ मनोरंजक बातें अवश्य कही जा सकती हैं। इन जंगली जातियों में से कुछ जातियाँ हिन्दुओं के संसर्ग से अपेक्षाकृत अधिक सभ्य बन गई हैं, यथा राजपूताने के भील; परन्तु अनेक जातियों में, यथा टोडा और गोंड आदि में, अभी तक कोई परिवर्तन नहीं आया। ये लोग आज तक भी उसी तरह रहते हैं, जिस तरह उनके पूर्वज आज से हज़ारों साल पूर्व रहते थे। उसी तरह के औज़ारों को काम में लाते हैं, उसी तरह धनुष बाण से शिकार करते हैं और उसी तरह के धार्मिक मन्तव्यों पर विश्वास करते हैं।

पाषाण युग—भारतवर्ष में काफ़ी-काफ़ी समय के व्यवधान से नई-नई जातियाँ आकर आबाद होती रही हैं। इनमें सब से पूर्व पाषाणयुग के असभ्य निवासियों का स्थान है। ये लोग घिसे हुए नोकीले पत्थरों के औज़ार काम में लाते थे। उस युग में इस तरह के लोग सम्पूर्ण दुनियाँ में फैले हुए थे। उन की सभ्यता बिल-कुल प्रारम्भिक दशा में थी। वे गुफाओं अथवा चट्टानों की ओट में रहते थे और जंगली फलों अथवा पत्थरों से बने हथियारों से शिकार कर के अपना पेट पालते थे। सम्भवत: उन्हें आग जलाना भी नहीं आता था। किसी धातु के इस्तेमाल के सम्बन्ध में तो उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था। इन लोगों ने अपने लिए पत्थर घिस कर जो औज़ार बनाए थे, उन्हें छोड़ कर इनका कोई भी प्राचीन अवशेष आज उपलब्ध नहीं होता। ये हथियार वैसे तो सम्पूर्ण देश में ही प्राप्त होते हैं, परन्तु पूर्वीय किनारे पर ये बहुतायत से मिलते हैं। इन का पत्थर बहुत मज़बूत होता है। पाषाणयुग के मनुष्यों की खोपड़ियाँ या हड्डियाँ तक भी उपलब्ध नहीं हुईं। मुमकिन है कि वे लोग कबरें आदि बनाना भी न जानते हों।

लोह युग—पाषाणयुग के बाद लोहयुग का प्रारम्भ होता है। इस युग को नवपाषाण-युग भी कहा जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस युग के भारतीय पाषाणयुग के निवा-सियों की सन्तान थे, अथवा वे किसी नई जाति के थे। आज भी इनके वंशधर, भारत की अनेक जंगली जातियों के रूप में पाए जाते हैं। इस युग के औज़ार भी होते तो पत्थर के ही थे, परन्तु वे अधिक सुघड़, चिकने और परिष्कृत होते थे। इस युग के

हथियार पाषाणयुग की अपेक्षा बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं। इनका स्थान अधिकतर दक्षिण भारत था।

लोहयुग के निवासी अपने पूर्व निवासियों से अधिक सभ्य और उन्नत थे। ये लोग जानवर पालते थे, खेती बाड़ी करते थे, मिट्टी पका कर बरतन बनाना जानते थे और अपने मुर्दों को गाड़ कर उन पर क़बरें भी बनाते थे। युक्त प्रान्त के मिर्ज़ापुर ज़िले में नवपाषाणयुग की कुछ क़बरें मिली हैं। मालूम होता है कि भारत में मुर्दों को जलाने की प्रथा का प्रारम्भ आर्यों ने किया था।

ये लोहयुग के निवासी धीरे-धीरे धातुओं का प्रयोग करना भी सीख गए। निस्सन्देह इस बात में बहुत अधिक समय लगा होगा और बहुत समय तक पत्थर, मिट्टी और धातुओं का प्रयोग एक साथ जारी रहा होगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि धातुओं के प्रारम्भिक हथियारों की शकल-सूरत पत्थर के हथियारों से मिलती है। भारत में जो प्राचीन क़बरें मिली हैं, उनमें अधिकांश लोहयुग की ही हैं। इन क़बरों में लोहे के औज़ार काफ़ी संख्या में मिलते हैं। यूरोप और एशिया – दोनों महाद्वीपों में ही लोहयुग के अवशेष उन्हीं स्थानों के आस-पास मिलते हैं, जहाँ लोहे की कानें हैं। धातुओं में सब से पूर्व सोने का प्रयोग शुरू हुआ। निज़ाम राज्य के मास्की नामक स्थान पर लोहयुग के निवासियों के अवशेष मिले हैं। प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में पाषाणयुग के बाद लोहयुग का प्रारम्भ हो गया और उत्तर भारत में लोहयुग से पूर्व ताम्रयुग भी आया। यूरोप की तरह यहाँ लोहयुग से पूर्व कांसी युग नहीं आया।

द्राविड़—इतिहास के प्रारम्भ ही से इस देश में आक्रान्ताओं

का प्रवेश पूर्व तथा पश्चिम दिशाओं से ही हुआ। पूर्व से आए आक्रान्ताओं ने इस देश की सभ्यता और साहित्य पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं डाला, जहाँ पश्चिम से आए लोगों ने इस देश की संस्कृति के निर्माण में बहुत ही प्रमुख भाग लिया।

आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में द्राविड़ लोग निवास करते थे। द्राविड़ों के प्रारम्भ के सम्बन्ध में निश्चय से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों का ख्याल है कि वे लोग इस देश के आदिम निवासी थे, परन्तु दूसरा मत कि द्राविड़ लोग उत्तर पश्चिम से भारत में आए थे अधिक प्रमाणसिद्ध प्रतीत होता है। बलोचिस्तान की ब्राहुई (Brahui) भाषा द्राविड़ वंश की है और द्राविड़ तथा सुमेरियन भाषाएँ एक ही जाति की हैं।

द्राविड़ युग की सभ्यता का अध्ययन करने के लिए हमारे पास सिर्फ़ यही एक साधन विद्यमान है कि हम वर्तमान अर्ध-सभ्य द्राविड़ जातियों की प्रथाओं और संस्थाओं का अध्ययन करें। सम्भवतः द्राविड़ लोग काले रंग के, नाटे, शान्त, घरेलू तबीयत के और बुद्धिमान मनुष्य थे। उन्होंने कृषि को काफ़ी उन्नत कर लिया था। वे धातुओं का प्रयोग जानते थे, मकान बनाते थे और क़िलेबन्दी करना भी जानते थे। उनका जीवन सादा था। वे आनन्द मनाना जानते थे और उन्हें समुद्र से भी डर नहीं लगता था। परिवार का निर्माण माता पर होता था। माँ अपने बच्चों के साथ रहती थी। पुरुष और स्त्रियाँ एक साथ नहीं रहते थे। वे सिर्फ़ त्यौहारों पर ही आपस में मिलते और खुशी मनाते थे। नवयुवक स्त्री और पुरुषों का सम्बन्ध भी इन्हीं त्यौहारों पर ही होता था। उसके बाद वे पुनः पृथक-पृथक् निवास करने लगते थे। जो सन्तान होती थी,

वह अपनी माता के पास ही रहती थी। सन्तान को अपने पिता के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात भी न होता था। उन के ग्रामों की प्रथाएँ निश्चित थीं। द्राविड़ लोगों की ये संस्थाएँ इस देश में आर्यों के आगमन के बाद भी बनी रहीं।

द्राविड़ लोगों ने बहुत पहले ही से एक विशेष सभ्यता का विकास कर लिया था। उन में वर्णव्यवस्था नहीं थी। उन के धर्म को एक तरह से प्रेत पूजा कहा जा सकता है। पर प्रेत पूजा प्रारम्भिक असभ्य निवासियों की धार्मिक प्रथाओं से बहुत अधिक उन्नत रूप में थीं। हिन्दू धर्म के विकास में पूजा की इस विधि ने भी अपना स्थान बना लिया। उस समय सम्पन्न नगर भी थे। कई तरह के भोग के पदार्थ भी थे। भारत में प्रकृति ने द्राविड़ लोगों को सोना, मोती आदि बहुमूल्य पदार्थ काफी तादाद में, बिना किसी प्रयास के ही दे दिए थे, अतः वे सुदूर देशों के साथ इन चीज़ों का व्यापार भी करते थे। उनमें अनेक विकसित भाषाएँ भी प्रचलित थीं। इस महान जाति का प्राचीन इतिहास जानने के लिए अभी पर्याप्त प्रयत्न नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में बहुत कुछ करना अभी तक बाकी है।

आर्यों के साथ संघर्ष—जब आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया, तो द्राविड़ लोगों ने भरसक उनका मुकाबला किया। यद्यपि द्राविड़ लोग आर्यों की अपेक्षा शरीर से कुछ कमज़ोर थे, परन्तु मुकाबले में वे आर्यों से कुछ कम नहीं थे। बहुत समय तक इन दोनों जातियों में भीषण संघर्ष चलता रहा और बहुत देर के बाद ही आर्य लोग इस देश में अपने कदम जमा सके। द्राविड़ लोगों ने अन्त में आर्य धर्म को स्वीकार कर लिया, परन्तु उन्होंने

अपनी भाषा तथा अपने रीति रिवाजों को सुरक्षित बनाए रक्खा। इसमें सन्देह नहीं कि द्राविड़ सभ्यता का आर्य-सभ्यता पर काफ़ी गहरा प्रभाव पड़ा। भारतीय आर्यों की भाषा पर भी द्राविड़ भाषा का प्रभाव स्पष्टरूप से दिखाई देता है। दक्षिण में आज तक भी द्राविड़ लोगों का प्राधान्य है, इस से यह प्रतीत होता है कि कोई भी आर्य जाति सम्पूर्ण रूप से दक्षिण में जाकर आबाद नहीं हुई। द्राविड़ लोग थोड़ी बहुत संख्या में, उत्तरभारत में भी अब तक भी पाए जाते हैं। इस दशा में अभी तक बहुत कम तथ्य ज्ञात हो सके हैं कि आर्यों की संस्थाओं को द्राविड़ों ने किस तरह पूर्णरूप से अपना लिया।

सिन्ध की घाटी की सभ्यता—आज कल पुरातत्व विभाग के अन्वेषणों का कार्य महेंजोदाड़ो (सिन्ध) तथा हड़प्पा (पंजाब) में जोरों पर है। हड़प्पा में अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिन पर किसी अज्ञात भाषा में कुछ लिखा हुआ है। यह भाषा अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी, इस लिए इन मुद्राओं से अभी तक कोई विशेष लाभ नहीं उठाया जा सका।

पिछले कुछ वर्षों में इन दोनों स्थानों से प्राचीन शहरों के खंडरात, ज़मीन के नीचे से निकलने शुरू हुए हैं। इनकी खोज से भारतीय पुरातत्व में क्रांति-सी खड़ी हो गई है। बड़ी-बड़ी इमारतें खोद निकाली गई हैं। बहुत सी मुद्राएँ, आभूषण, परिष्कृत पक्के बरतन और इसी तरह की बहुत श्रेष्ठ कोटि की अन्य भी बहुत-सी चीज़ें प्राप्त हुई हैं। इस सम्बन्ध में सभी पुरातत्वज्ञ सहमत हैं कि ये नगर ईसा से कम से कम ३००० साल पुराने हैं। इस तरह ये अवशेष भारत के सब से अधिक प्राचीन

अवशेष हैं। इन से यह सिद्ध हो गया है कि उस सुदूर काल में सिन्ध की घाटी बहुत ही समृद्ध और उन्नत दशा में थी। इस घाटी के निवासी बहुत सभ्य थे। निस्सन्देह सिन्ध नदी की घाटी की इस समुन्नत सभ्यता ने प्राचीन भारतीय इतिहास में एक गरिमाशाली नया अध्याय और बढ़ा दिया है। शुरू-शुरू में कुछ लोगों का ख्याल था कि सिन्ध नदी के इन अवशेषों का सम्बन्ध सुमेरियन सभ्यता के साथ है। परन्तु अब इस सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ भी कह सकना कठिन है। भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में प्रति वर्ष नई-नई सामग्री उपलब्ध हो रही है; परन्तु अभी तक उस सामग्री का समन्वयात्मक उपयोग करना सम्भव नहीं है।

———

चौथा अध्याय

वैदिक काल

आर्यों की भारत विजय

भारतवर्ष के इतिहास की सब से बड़ी घटना इस देश में आर्यों का आगमन है। ये आर्य वस्तुतः उस जाति के थे जिसे पाश्चात्य ऐतिहासिक, 'इण्डोयूरोपियन' कहते हैं। यदि हम अंग्रेज़ी, जर्मनी, फ़रांसीसी, लेटिन, ग्रीक, रूसी, फारसी और संस्कृत इन सब भाषाओं के शब्दों में परस्पर तुलना करें तो बहुतों में हमें असाधारण समानता मिलेगी—जैसे संस्कृत के 'पितर' तथा 'मातर' शब्द फारसी के 'पिदर' तथा 'मादर' लेटिन के 'पेटर' (pater) तथा 'मेटर' (mater), ग्रीक के 'पाटर' (pater) तथा 'मेटर' (meter), अंग्रेज़ी के 'फादर' तथा 'मदर', जर्मन के 'फाटर' (vater) तथा 'मट्टर' (mutter) ये सब शब्द, जिनका अर्थ 'पिता' तथा 'माता' है, स्पष्टरूप से एक ही स्रोत से निकले हैं। इन भाषाओं की रचना तथा व्याकरण में यद्यपि उतना स्पष्ट सादृश्य नहीं है तथापि उसमें भी समानता प्रमाण-सिद्ध है। इसका अभिप्राय यही है कि इन सब भाषाओं को बोलने वाली जातियों के पूर्वज किसी प्राचीनतम काल में एक

साथ ही रहते होंगे। वे लोग कब और कहाँ रहते थे, इस सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अधिकांश ऐतिहासिकों की राय है कि वे लोग मध्य-एशिया में रहते थे। वहाँ ही वे सभ्यता का विकास कर रहे थे। उनकी भाषा वैदिक भाषा से मिलती थी।

आर्य—क्रमशः इन भारतीय-यूरोपियनों की संख्या बढ़ती गई और उनका आदिस्थान उनके लिए छोटा सिद्ध होने लगा। तब उनमें से बहुत से लोग, टुकड़ियों में विभक्त होकर, एशिया और यूरोप के उपजाऊ स्थानों पर जाकर आबाद होने लगे। इन में से पूर्वीय शाखा के लोग 'आर्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। वे बहुत समय तक एक साथ रहे और तब स्वभावतः उन में एक ही भाषा रही। जब इन आर्यों का और भी अधिक प्रसार हुआ तो उन की एक शाखा फारस में चली गई और दूसरी शाखा हिन्दूकुश पर्वत की राह से पंजाब में चली आई। यहाँ उनका आदिम निवासियों से संघर्ष शुरू हुआ। आर्य लोग यद्यपि संख्या में कम थे, तथापि वे अधिक मज़बूत और युद्ध-विद्या में अधिक निपुण थे। उनके हथियार अधिक घातक थे और उनके पास घोड़े और रथ भी विद्यमान थे। बहुत से भयंकर संघर्षों के बाद आर्यों ने पंजाब के आदिम निवासियों पर विजय पाई। ये आर्य लोग पंजाब में स्थिर रूप से बसना चाहते थे, परन्तु उधर से नए आर्य पंजाब में आ पहुँचे। तब उन्हें जगह देने के लिए ये लोग और भी आगे, गंगा की घाटी में बढ़ गए।

भारतवर्ष को आर्यों ने आसानी से विजय नहीं किया। इसके लिए उन्हें बहुत समय तक, बड़े धैर्यपूर्वक, भयंकर संघर्ष

करना पड़ा । यह भी उल्लेखनीय बात है कि आर्यों ने इस देश की विजय केवल युद्ध करके ही नहीं की। कुछ समय बाद यहां के आदिम निवासियों पर उनकी बुद्धि और सभ्यता का वह प्रभाव स्थापित हो गया, जिससे आर्य लोगों को आगे बढ़ने में बहुत अड़चन न पड़ी।

कुछ ऐतिहासिकों का ख्याल है कि आर्य लोग जब भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर पहुँचे, तब तक वे अर्ध-सभ्य दशा में थे; भारतीय द्राविड़ लोगों के संसर्ग से आर्यों ने सभ्यता का पाठ पढ़ा और बाद में इस देश की विजय की। इस कल्पना को स्वीकार कर लेने में हमें काफ़ी कठिनाई प्रतीत होती है। वेद आर्य सभ्यता के सब से बड़े आधार हैं और यह निश्चित है कि वेदों की रचना में आर्यों को द्राविड़ लोगों से ज़रा भी मदद नहीं मिली । वेदों को अर्ध-सभ्य लोगों का साहित्य कदापि नहीं कहा जा सकता । आर्य लोग स्वभाव ही से वीर-कवि थे, उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक था । उनका द्राविड़ों से संसर्ग हुआ । द्राविड़ लोग भी काफ़ी सभ्य थे। व्यापार में उन्होंने विशेष उन्नति की हुई थी । परन्तु उनका आध्यात्मिक ज्ञान आर्यों से बहुत कम था । इन दोनों सभ्यताओं के संसर्ग का परिणाम यह हुआ कि द्राविड़ लोग आर्यों से बहुत-सी नई-नई बातें सीख गए । उनकी संस्थाओं और प्रथाओं में नया जीवन आगया। इधर आर्यों ने भी द्राविड़ों से अनेक नई बातें सीखीं। आर्यों में वह प्रतिभा थी, जिससे वह कहीं से नई बात लेकर, उसे नवीन ढंग से अनुपाणित कर लेते थे। ठीक इस तरह से जैसे वृक्ष पृथिवी और जल के तत्वों को अपने में लेकर उन्हें हरा-भरा

तथा सजीव बना देता है । आर्यों की नकल इतनी ही मौलिक होती थी ।

वैदिक-साहित्य

प्राचीन भारतीय आर्यों के सम्बन्ध में हमें जो कुछ भी ज्ञात है, उसका एक मात्र आधार वेद हैं । वेद शब्द 'विद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—'जानना'। वेद का अर्थ है 'ज्ञान'। हिन्दुओं की दृष्टि में वेद पवित्र ज्ञान का भण्डार है। वैदिक युग के सम्बन्ध में अन्य कोई स्रोत न मिलने पर भी स्वयं वेद ही इतने प्रमाणिक स्रोत हैं कि वह अपने युग को अच्छी तरह प्रकाशमान कर रहे हैं। वेद भारतीय आर्यों का सब से प्राचीन साहित्य हैं । संसार के साहित्य में उनका स्थान बहुत उच्च है। धर्मों का इतिहास और भाषाओं के अध्ययन में वेदों से अमूल्य सहायता प्राप्त होती है । भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए भी वेद बहुमूल्य हैं । उनसे हिन्दूधर्म के स्रोत तथा प्राचीन संस्थाओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञात होता है। हिन्दू लोग वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। उनका विश्वास है कि वे नित्य हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय सभ्यता का विकास जिन आधारों पर हुआ, वे प्रायः सब वेद में पाए जाते हैं।

'वेद' शब्द से ही यह भाव प्रकट होता है कि उनमें बहुत समय का और बड़ा विस्तृत ज्ञानमय साहित्य संग्रहीत है। यह साहित्य सदियों में बना और वैदिक साहित्य भी धीरे-धीरे बढ़ता गया। वैदिक साहित्य के मुख्यतः ६ भाग किए जा सकते हैं—

१. संहिता भाग – चारों मूल वेदों—ऋक्, यजु, साम और अथर्व—के मूल भाग को संहिता या मन्त्रभाग कहा जाता है।

इनमें गीत, कविता, प्रार्थनाएँ, आदि हैं। अधिकांश संहिता भाग छन्दों में है, कुछ मन्त्र गद्य में भी हैं। ये वास्तविक वेद हैं। अन्य सम्पूर्ण वैदिक साहित्य इन्हीं से सम्बद्ध हैं।

२, ब्राह्मण—वेद के मन्त्रों की व्याख्या और वैदिक कर्मकाण्डों में उनके प्रयोगों का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में है। इनका उद्देश्य यज्ञ के विधि विधानों का वर्णन और उनकी व्याख्या है। उन में माईथौलोजी (प्राचीन धार्मिक गाथाओं) का भाग भी काफ़ी है। ब्राह्मण ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि प्राचीन वैदिक यज्ञ तथा विधि-विधान कितने मँहगे और गुथीले होते थे।

३, आरण्यक—का अर्थ है जंगल की पुस्तक। ये आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों से सम्बद्ध हैं। कुछ आरण्यक पृथक् भी हैं। इनमें ब्राह्मण ग्रन्थों की विधियों की समीक्षा है। कहा जाता है कि ये ग्रन्थ एकान्त जंगलों में रहने वाले तपस्वियों के लिखे हुए हैं।

४. उपनिषद – ब्राह्मणों के क्रिया-कलाप सम्बन्धी साहित्य के बाद उपनिषदों के रूप में दार्शनिक साहित्य का विकास हुआ। करीब २०० उपनिषदें आज भी प्राप्त होती हैं। ये उपनिषदें विभिन्न कालों में लिखी गई। उनमें विभिन्न शैली और विभिन्न विचारों का अनुसरण किया गया है। "अज्ञात महान" का रहस्य जानने के लिए प्राचीन आर्यों ने अपनी विचारशक्ति द्वारा जो सफल और भारी प्रयत्न किया था, उसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण ये उपनिषदें ही है। उस युग के प्रतिभाशाली आर्यों की सम्पूर्ण श्रेष्ठ शक्ति जीवन और प्रकृति का रहस्य ढूँढ़ने में लगी हुई थी। उपनिषदें सरल भाषा में हैं, उनकी शैली आकर्षक है। हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य का वह बहुत ही महत्वपूर्ण भाग हैं। हिन्दुओं

के अतिरिक्त अन्य भी अनेक सम्प्रदायों तथा महापुरुषों पर उपनिषदों का गहरा प्रभाव पड़ा है। ये पिछले वैदिक युग की कृति है। इस सम्बन्ध में आगे चल कर लिखा जायगा। गीता की ऊँची व्यावहारिक फिलासफ़ी भी उपनिषदों पर आश्रित है।

५, सूत्र ग्रन्थ—ब्राह्मण ग्रन्थों के लम्बे-चौड़े साहित्य को संक्षिप्त रूप देने के लिए सूत्र ग्रन्थों का निर्माण हुआ। सूत्र को एक तरह का 'फारमूला' कह सकते हैं। वे इतने संक्षिप्त हैं, बिना व्याख्या के उन्हें समझा ही नहीं जा सकता। दूसरे शब्दों में वे बड़े-बड़े अध्यायों के शीर्षकों के समान हैं। एक युग में सूत्र ग्रन्थों की महत्ता इतनी बढ़ गई कि विद्वानों का सम्पूर्ण ध्यान 'संक्षेप' की ओर ही चला गया। उस समय यह कहावत प्रसिद्ध हो गई थी कि सिर्फ़ एक मात्रा की कमी करने में सफलता प्राप्त करने पर वैयाकरणों को पुत्र-प्राप्ति के समान प्रसन्नता होती है। इन सूत्र ग्रन्थों के तीन भाग हैं— (क) श्रौत्स—बड़े-बड़े यज्ञों की क्रियाओं के सम्बन्ध में (ख) गृह्य—परिवार के क्रियाकलापों के सम्बन्ध में (ग) धर्म—सामाजिक और स्थानीय रीतिरिवाजों के सम्बन्ध में। इन्हीं धर्मसूत्रों के आधार पर, बाद में राजकीय कानूनों का निर्माण किया गया।

६. वेदांग और उपवेद—वैदिक साहित्य के दो पूरक भागों का नाम वेदांग और उपवेद है। वेदांगों के ६ भाग हैं। वेदों को पढ़ने के लिए वेदांग का पढ़ना आवश्यक है । वेदांग हैं-शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प।

चार उपवेद हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व वेद और शिल्प वेद। इन में क्रमशः चिकित्सा, युद्ध विद्या, संगीत और शिल्प का

विधान है।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का यही खाका है। इनमें से सिर्फ संहिता भाग को हिन्दू ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं।

वेद—चारों वेदों के आधार पर सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को, जो उनके आधार पर ही विकसित हुआ है, चार भागों में बाँटा जा सकता है। उसमें क्या है, इस का यहाँ परिचय देना सम्भव नहीं है। वेदों को भारतीय सभ्यता और धर्म का आधार माना जाता है। यह बात निराधार नहीं है। भारतवर्ष के सम्पूर्ण ज्ञात इतिहास में, आर्यों के आगमन से लेकर आज तक इस देश के निवासियों का बड़ा भाग सदैव वेदों को अपनी सभ्यता का स्रोत मानता रहा है तथा उन्हें बड़ी श्रद्धा का विषय समझता रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक संस्थाओं और वैदिक विचारों का विकास, बाद में और भी होता गया, परन्तु वेदों में उन सब के बीज अवश्य विद्यमान हैं।

ऋग्वेद—वेदों में भी सब से अधिक प्राचीन कृति ऋग्वेद है। इसमें कुल मिला कर १०२८, और कुछ लोगों के अनुसार १०१७ सूक्त हैं। ये सूक्त १० काण्डों में विभक्त हैं। ख्याल है कि अकेले ऋग्वेद के निर्माण में अनेक शताब्दियों का समय लगा होगा। दसवाँ काण्ड सबसे पीछे निर्माण हुआ। दूसरे से लेकर सातवें काण्ड तक का भाग सब से पहले तैयार हुआ। ऋग्वेद के इन मन्त्रों की रचना छन्दों में की गई है, अधिकांश मन्त्रों का सम्बन्ध इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि प्रकृति के देवताओं से है। भाषा गुथीली नहीं, शैली और वर्णन आकर्षक हैं। ऋग्वेद से वैदिक युग की आर्य सभ्यता पर गहरा प्रकाश पड़ता है।

परन्तु दसवें काण्ड में बहुत से सूक्त इस ढंग के भी हैं, जिनका सम्बन्ध वैदिक देवताओं से नहीं है। इनमें से अनेक सूक्तों में कल्पना की ऊँची उड़ानें ली गई हैं। अनेक सूक्तों में उस ऊँची दार्शनिकता के बीज भी पाए जाते हैं, जो दार्शिनिकता, बाद में उपनिषदों में और अधिक विकसित रूप में आ गई। उदाहरण के लिए नासदीय सूक्त के मन्त्रों का अर्थ यहाँ दिया जाता है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक डूसेन (Duessen) के अनुसार इस वैदिक सूक्त के भाव इतने ऊँचे हैं कि मनुष्य का मस्तिष्क इस सम्बन्ध में इससे अधिक ऊँची कल्पना कर ही नहीं सकता। इस सूक्त का भाव है—

'तब न सत था, न असत था। यह सामने का चमकता आकाश भी तब नहीं था। न ऊपर ये तारे ही थे। तब किसने इन सब को ढका हुआ था? ये सब कहाँ निवास कर रहे थे? कहाँ छिपे हुए थे? क्या यह सब समुद्र की तह में डूबा हुआ था?

'तब मृत्यु नहीं थी, परन्तु अमृतत्व भी नहीं था। दिन और रात में तब कोई अन्तर नहीं था। तब केवल वह एक अकेला ही बिना श्वास के साँस ले रहा था। उसके अतिरिक्त और कोई भी नहीं हुआ।'

'तब अन्धकार था, सभी कुछ गहरे अन्धकारमें छिपा हुआ था; अदृश्यमान महासागर के समान। उसी समय, उत्पत्ति का जो बीज इस अन्धकार में छिपा हुआ था, खिलना शुरू हुआ। तब सब से पूर्व काम की उत्पत्ति हुई। काम जो मन की प्रथम शक्ति है। कवियो, वह काम तुम्हारे मनों में भी छिपा है। इसी शक्ति से उत्पत्ति और विनाश होते हैं।'

इसके बाद कवि पुनः सन्देह में पड़ जाता है। वह अनुभव

करता है कि वह बहुत दूर चला गया। 'अज्ञात' का रहस्य भी तो अज्ञात ही है—

'इस रहस्य को कौन जानता है? दावा भर कर कौन कह सकता है कि यह नाना प्रकार की सृष्टि किस तरह उत्पन्न हुई?'

प्रकृति की ये अग्नि, जल, वायु आदि देव-शक्तियाँ भी इस महान समस्या का हल नहीं कर सकतीं। ये देवता क्या बताएँगे—

'ये तो खुद भी बाद में ही बने हैं!'

सन्देहवाद अपनी पूर्णता को पहुँच गया। वेद कहता है—

'इस सम्पूर्ण रहस्य को केवल वही एक जानता है और मुमकिन है कि शायद वह भी न जानता हो!'

सामवेद—में उन मन्त्रों का संग्रह है, जो गाए जा सकते हैं। इस वेद के सिर्फ ७५ मन्त्र मौलिक हैं, शेष सब ऋग्वेद से लिए गए हैं। सिर्फ उनका देवता 'सोम' कर दिया गया है। इस वेद की संगीत शास्त्रज्ञों की दृष्टि से भारी महत्ता होते हुए भी ऐतिहासिकों के लिए इसका विशेष महत्त्व नहीं है।

यजुर्वेद—में यज्ञों का विधि विधान है। इस का कुछ भाग गद्य में भी है। ऋग्वेद के बहुत से मन्त्र यजुर्वेद में भी हैं। यजुर्वेद के कृष्ण और शुक्ल नाम से दो भेद प्राप्त होते हैं। शुक्ल में केवल संहिता भाग है और कृष्ण में गद्य नोट भी साथ ही है, इन्हीं के आधार पर बाद में ब्राह्मण ग्रन्थों का विकास हुआ।

यजुर्वेद से सम्बन्धित जितना भी साहित्य लिखा गया, उस में शतपथ ब्राह्मण सब से अधिक मुख्य है। यह भारी ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। इस गद्य ग्रन्थ से प्राचीन भारत की प्रथाओं, धार्मिक और दार्शनिक विचारों और भौगोलिक परिस्थितियों

पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। शतपथ के अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद दी गई है।

अथर्ववेद—के दो मुख्य भाग हैं। सम्पूर्ण अथर्ववेद २० काण्डों में विभक्त है। ख्याल है कि इनमें से अन्तिम दो बाद में बने। अथर्ववेद में जादू से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र भी हैं। कुछ मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। इस वेद में राजनीतिक और दार्शनिक विचारों का अनुशीलन भी है। कुछ मन्त्रों में प्राग्-ऐतिहासिक काल की प्रथाओं की झलक भी मिलती है। भारतीय संस्कृति तथा इतिहास के अध्ययन में अथर्ववेद की महत्ता भी बहुत अधिक है।

वैदिक काल का तिथिक्रम

भारतीय इतिहास की समस्याओं में वेद की तिथि निश्चित करना एक बहुत बड़ी समस्या है। वेद भारतीय साहित्य की सब से प्राचीन पुस्तक है, वह भारतीय आर्यों के बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास का स्रोत है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के निर्माण काल के सम्बन्ध में प्रामाणिक ऐतिहासिकों में भारी मतभेद पाया जाता है। यह भेद कुछ वर्षों या कुछ सदियों का नहीं, अपितु हजारों वर्षों का है। यहाँ किसी एक मत की पुष्टि किए बिना विभिन्न मतों का निर्देश कर देना ही पर्याप्त है—

मैक्समूलर का मत—इस समस्या को हल करने का प्रयत्न सब से पहिले मैक्समूलर ने किया। उसका कथन है कि वैदिक साहित्य का अधिकांश भाग प्राग्बौद्ध कालीन है। अर्थात् ईसा से ६०० साल पहले तक। मैक्समूलर ने वैदिक साहित्य को ३ भागों में बाँटा—

ब्राह्मण ग्रन्थ—	८००-६०० ईसा पूर्व
वेद (संहिता)—	१०००-८०० ,,
वैदिक कविता का विकास	१२००-१००० ,,

इस तरह उसने प्रत्येक साहित्य के विकास के लिए, बिना किसी आधार के २००, २०० वर्षों का समय निश्चित कर लिया। २०० की बजाय उसी तरह ४०० या ६०० वर्ष भी रक्खे जा सकते थे। वास्तव में मैक्समूलर का उद्देश्य वेदों का निश्चित समय बताना था भी नहीं। उसका अभिप्राय तो इतना ही था कि वेदों को बने कम से कम इतना समय ज़रूर हो चुका है। इससे अधिक कितना समय गुज़रा, इस सम्बन्ध में वह किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सका। मैक्समूलर ने स्वयं लिखा है—'वैदिक ऋचाएँ ईसा से १००० या १५०० या २००० या ३००० साल पहले लिखी गईं; इस सम्बन्ध में कोई कुछ भी नहीं कह सकता।"❀ फिर भी यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि बहुत से ऐतिहासिकों ने मैक्समूलर की कल्पना को वेदवाक्य के समान प्रामाणिक मान लिया है।

तिलक का मत—सन् १८९९ में भारतीय पुरातत्व के दो महान विद्वानों—जैकोबी और बाल गंगाधर तिलक—ने ज्योतिष की साक्षियों के आधार पर स्वतन्त्र रूप से वेद की तिथि निश्चित करने का प्रयत्न शुरू किया। वेद में ज्योतिष सम्बन्धी जो मन्त्र हैं, उनके वर्णनों तथा ग्रहों की वर्तमान अवस्थिति के आधार पर जैकोबी ने वेद का समय ४५०० ईसापूर्व और तिलक ने

❀ Max Muller, Grifford Lecutres' 1898. New Edition, Page 91

६००० वर्ष ईसापूर्व निश्चित किया। तिलक और जैकोबी के इन मन्तव्यों की पुरातत्वज्ञों ने कड़ी आलोचना की। इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों स्थापनाओं में भी कल्पना को बहुत अधिक स्थान दिया गया है।

ऐतिहासिक युक्तियाँ—ओल्डन वर्ग, मैकडानल और कीथ ने मैक्समूलर की कल्पना को उसी प्रकार स्वीकार कर लिया था, परन्तु प्रोफ़ेसर विण्टरनीटज़ ने इस समस्या पर पुनः स्वतन्त्रता पूर्वक विचार किया। वह इस परिणाम पर पहुँचे कि वेदों के तिथि-क्रम के सम्बन्ध में मैक्समूलर की अपेक्षा जैकोबी और तिलक का मत अधिक प्रमाणसिद्ध प्रतीत होता है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में विचारों और संस्थाओं का विकास स्पष्टरूप से प्रतीत होता है, विण्टरनीटज़ के अनुसार वह विकास ७०० वर्षों में होना सम्भव नहीं है। जितना वैदिक साहित्य प्राप्त होता है, वह बहुत विस्तृत है, परन्तु वह भी सम्पूर्ण नहीं है। यह स्पष्टरूप से प्रतीत होता है कि बहुत-सा वैदिक साहित्य आज उपलब्ध नहीं होता। ऋग्वेद अन्य वेदों और ब्राह्मणों से बहुत प्राचीन है। वह स्वयं भी एक ही समय में और एक साथ तैयार नहीं हुआ। उसमें विभिन्न काल की और विभिन्न कवियों द्वारा बनाई वैदिक कविताओं का संग्रह है। ऋग्वेद में अनेक मन्त्र अनेक बार आए हैं, यह बात स्पष्टरूप से सिद्ध करती है कि जिन दिनों ऋग्वेद का निर्माण हो रहा था, उन दिनों बहुत से मन्त्र आर्यों में इस ढंग के भी प्रचलित थे जिन पर किसी एक का अधिकार नहीं था; जो चाहता था, उन्हें इस्तेमाल कर सकता था। अर्थात् इस सम्बन्ध में उन दिनों के आर्यों में जो एक क़िस्म का महान साहित्यिक विकास

हो रहा था, ऋग्वेद उसकी अन्तिम सीढ़ी थी। इसमें अवश्य ही सदियों का समय लगा होगा।

इसके बाद ऋग्वेद और ब्राह्मणों के बीच का व्यवधान भी बहुत लम्बा होगा, क्योंकि उनकी भाषा, विचारों और दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर है। ब्राह्मणों में वेद मन्त्रों की मौलिक भावना जैसे बाकी ही नहीं रही। ब्राह्मण ग्रन्थों में बीसियों आचार्यों और उन के अनुयाइयों का जिक्र आता है। यह स्पष्ट है कि इन सब का काल काफी लम्बा चौड़ा होगा। फिर, ब्राह्मणों और उपनिषदों के समय में भी स्पष्टरूप से भेद प्रतीत होता है। उपनिषदों की शैली और विचार ब्राह्मणों से बिलकुल भिन्न हैं।

जितने समय में वैदिक साहित्य का निर्माण हुआ, उतने समय में आर्यों ने केवल पंजाब और गंगा की घाटी को ही विजय किया था। यदि आर्यों को सिन्धु नदी और गंगा नदी की घाटियों में अपनी सभ्यता का विस्तार करने में इतना समय लगा तो यह बात स्वयं सिद्ध है कि सुदूर दक्षिण तक आर्य सभ्यता का प्रसार होने में बहुत अधिक समय लगा होगा। तीसरी सदी ईसा-पूर्व के शिलालेखों से यह सिद्ध हो गया है कि तब तक दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति और वैदिक साहित्य का एकाधिपत्य स्थापित हो चुका था। इस सम्पूर्ण क्रिया में बहुत लम्बा समय लगा होगा। यह सब प्रक्रिया सिर्फ ६०० वर्षों में कदापि नहीं हो सकती थी।

सन् १९०७ में एशिया माइनर से १५ वीं सदी ईसा पूर्व के कुछ लेख प्राप्त हुए थे। इन लेखों में राजा हित्तिस (Hittits) और राजा मितानी (mitani) में हुए किसी सौदे का वर्णन

है। इस पर साक्षी के रूप में जिन देवताओं का नाम दिया गया है, उनमें मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्य आदि वैदिक देवताओं का उल्लेख भी है। कुछ पुरातत्वज्ञों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है कि सम्भवतः ये देवता ईरानी देवता ही हों और ये लेख उस समय के हों जब ईरानी और भारतीय आर्य, एशिया-माइनर के आसपास, एक ही साथ रहा करते थे। परन्तु यह सिद्ध करना असम्भव है। वास्तव में ये नाम वैदिक देवताओं के ही हैं, यह कल्पना बिलकुल दुरूह है कि ईसा से १५०० साल पहले कुछ योद्धा आर्यों का गिरोह सुदूर मितानी तक जा पहुँचा हो। इस लेख से वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में यह भली प्रकार सिद्ध हो गया है कि वे कम से कम ईसा से १५०० वर्ष पुराने जरूर हैं।

भाषा का आधार—प्राचीन फ़ारसी और अवस्ता (ज़िन्दा-वस्ता) की भाषा वैदिक भाषा से मिलती है। अवस्ता का निर्माण-काल तो ज्ञात नहीं है, परन्तु प्राचीन फ़ारसी ६०० वर्ष ईसापूर्व से अधिक प्राचीन नहीं है। अनेक भाषाविज्ञों का कहना है कि प्राचीन फारसी और वैदिक भाषा में साम्य होने के कारण वेद भी बहुत अधिक प्राचीन नहीं हो सकते। भाषाएँ क्रमश बदलती तो रहती हैं, परन्तु कुछ में परिवर्तन जरा शीघ्रता से आता है और कुछ में बहुत देर से। इस लिए भाषा के परिवर्तन के आधार पर कोई भी परिणाम निकलना खतरे से खाली नहीं होता। फिर, प्राचीन फ़ारसी और वैदिक भाषा में साम्य होते हुए भी वह साम्य इतना अधिक नहीं है, जितना उसे समझा जाने लगा है। इन दोनों भाषाओं के साम्य से सिर्फ इतना ही सिद्ध किया

जा सकता है कि वेदों का निर्माणकाल उस युग में नहीं हुआ, जिसके सम्बन्ध में पूर्णतः अन्धकार है।

परिणाम—वैदिक कविता के प्रारम्भ की एक तिथि निश्चित कर सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता। परन्तु इतना तो निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि वैदिक काल ८०० वर्ष ईसा-पूर्व से इधर नहीं है। मुमकिन है कि हमारी यह स्थापना कुछ निराशा उत्पन्न करने वाली-सी जान पड़े। परन्तु हमारा भी यही मत है कि 'विज्ञान के लिए यह एक बड़ी सेवा है कि जहाँ हमें कुछ ज्ञात न हो सके, वहाँ व्यर्थ ही में अपने को और दूसरों को धोखा देने के बजाय हम अपना अज्ञान स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर लें। और यह भी तो कोई छोटा काम नहीं कि कम से कम हम अपने अज्ञान की सीमा को तो निश्चित कर सकते हैं।'

प्रारम्भिक वैदिक-सभ्यता

वैदिक युग कई सदियों में व्याप्त है भारतीय आर्य जब इस देश में आए थे, तब भी काफ़ी सभ्य थे; परन्तु क्रमशः इस देश में रहते हुए उन्होंने अपनी संस्कृति और सभ्यता का और भी अधिक विकास कर लिया था। हम इस जगह वैदिक सभ्यता के प्रारम्भिक दिनों की दशा का बहुत संक्षेप में वर्णन करेंगे।

भारतीय-आर्य जातियाँ—भारतीय आर्य वीर और शक्तिशाली जाति के थे। उन का शरीर विशाल और रंग गोरा था। वे प्रतिभाशाली और प्रसन्न स्वभाव के थे। प्राचीन साहित्य के अनुसार वे लम्बे सिर वाले, पतली और लम्बी नाक के, चौड़े कन्धे और लम्बी बाहुओं वाले थे। आर्य जाति के लोग योद्धा

कवि थे, उनका दृष्टि-कोण उदार था। वे भारत में बड़े-बड़े गिरोह बना कर आए। उनका पेशा केवल युद्ध करना ही नहीं था। उनकी आजीवका का वास्तविक साधन खेती-बाड़ी था।

वेदों में अनेक आर्य गिरोहों (Tribes) का वर्णन है। इनमें पांचजन्य विशेष प्रसिद्ध हैं। वैदिक काल के पुरु, चेदी आदि कुछ थोड़े से नाम ही गाथा ग्रन्थों में पाए जाते हैं। उस युग में 'गिरोह' सब से अधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक सत्ता थी। एक गिरोह में अनेक परिवार होते थे और प्रत्येक परिवार में पिता ही प्रधान पुरुष होता था। युद्धों और नये-नये लोगों की आगात का परिणाम यह हुआ कि ये आर्य गिरोह गाँव बना कर रहने लगे। इन गांवों के चारों ओर किलेवन्दी भी की जाने लगी। ये आर्य गिरोह स्वभाव ही से प्रजासत्तात्मक थे। सम्पूर्ण गिरोह की 'समिति' अपने राजा का चुनाव करती थी और राजा चुनी हुई 'सभा' की मदद से राजकार्य करता था। परन्तु प्रायः राजा एक ही वंश के व्यक्ति को बनाया जाता था। साथ ही धार्मिक आचार्यों का भी तब बड़ा प्रभाव था। जहाँ राजा को असीम अधिकार दिए जाते थे, वहाँ भी वह उनका मनमाना उपयोग न कर सकता था। राजा को भी क़ानून का पालन करना पड़ता था।

ये 'सभा' और 'समितियाँ' भारतवर्ष में वैदिक काल के बाद भी बहुत देर तक जारी रहीं। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि इन 'सभा' और 'समितियों' में राजनीतिक मामलों पर खुली बहस होती थी और उस युग में इन संस्थाओं का बड़ा सम्मान था।

ऋग्वेद के पांचजन्यों में तुर्वश, यदु, पुरु, द्रुह्यु, और अण्व

कुल शामिल हैं। वहाँ भरत, मत्स्य, क्रिवि, त्रित्सु आदि कुछ अन्य कुलों के नाम भी उपलब्ध होते हैं।

वैदिक युग का राजनीतिक इतिहास निर्माण करने के लिए हमारे पास अनेक राजाओं के और जातियों के नामों के रूप में काफ़ी मसाला मौजूद है। परन्तु तिथिक्रम के नितान्त अभाव के कारण उस युग का इतिहास लिख सकना अभी तक असम्भव कार्य बना हुआ है। तथापि इस में सन्देह नहीं कि वेदों के भरत, सुदास, जामदग्न्य आदि राजाओं के नाम ऐतिहासिक हैं और राजाओं के युद्ध की बात भी एक ऐतिहासिक घटना है।

भारतीय आर्यों का निवास स्थान—वैदिक युग में सिन्धु नदी की घाटी (पंजाब) आर्यों का निवासस्थान था। नदी सूक्त में जिन नदियों का वर्णन है, उनसे प्राचीन भारतीय आर्यों के निवासस्थान की कल्पना करने में बड़ी सहायता मिलती है। उस से यह भी ज्ञात होता है कि आर्यों का विस्तार यमुना और गंगा नदी तक भी था। कुछ जत्थे अभी सिन्धु नदी के पश्चिमी भाग—काबुल, स्वात, कुर्रम, और गोमल नदियों के पास—तक ही थे। नदी सूक्त में १६ नदियों का नाम है। तब से अब तक इन नदियों की भौगोलिक अवस्थितियों में इतना अन्तर आगया है कि नदी सूक्त के आधार पर कोई नकशा तैयार कर सकना आसान कार्य नहीं है। कुछ नदियों का स्रोत ही बदल गया है। हक्र आदि कुछ नदियाँ अब विद्यमान ही नहीं रहीं। कुछ नदियाँ, जैसे पश्चिम में कुर्रम और पूर्व में सरस्वती, अब बहुत ही छोटे रूप में बच रही हैं।

सामाजिक जीवन—प्राचीन आर्यों के सामाजिक जीवन का आधार परिवार था और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन परिवारों का मुखिया बच्चों का पिता ही होता था। आर्यों का यह पारिवारिक जीवन विवाह पर आश्रित था। इन आर्य परिवारों में सुख, स्नेह और सौहार्द के भाव रहते थे। पत्नी घर की रानी होती थी और धार्मिक कार्यों के अनुष्ठान में वह पति के साथ पूरा भाग लेती थी। तब पर्दा नहीं था। मेलों में स्त्रियाँ स्वाधीनतापूर्वक भ्रमण करती थीं। उन्हें आभूषणों और कपड़ों का चाव था। बहुविवाह नहीं होते थे। स्त्रियों का आदर किया जाता था। उन्हें उच्च शिक्षा भी दी जाती थी। अनेक वेदमन्त्रों का निर्माण स्त्रियों ने भी किया है। विश्ववरा अपाला, घोषा आदि वेद की अनेक ऋषीकाएँ हैं।

कला के कार्य—आर्य लोग लकड़ी और बांस से बने घरों में रहते थे। ये घर उठा कर स्थानान्तरित भी किए जा सकते थे। वे रुई और रेशम दोनों ही कातना, बुनना जानते थे। धातुओं का काम भी उन्हें पर्याप्त अंश तक आता था। सुनार लोग सोने और जवाहरात पर काम करते थे। चमार चमड़े का सामान तैयार करते थे।

वैदिक युग के आर्यों का प्रमुख धन्धा कृषि और पशुपालन था। गौ सब से ज्यादा बहुमूल्य सम्पत्ति मानी जाती थी और मूल्यनिर्धारण तथा क्रय विक्रय भी गौओं के आधार पर ही किया जाता था। आर्य लोग जब से भारतवर्ष में आए, उन्होंने इस देश में जौ, गेहूँ, तिल, बाजरे आदि की खेती सफलता पूर्वक

शुरू करदी। उससे पूर्व प्रायः द्राविड़ लोग सिर्फ चावल ही खाया करते थे।

भोजन—भारतीय आर्य प्रायः शाकाहारी ही थे। यद्यपि उन लोगों ने मांस का भी सर्वथा बहिष्कार नहीं किया था। भोजन में दूध का स्थान बहुत महत्वपूर्ण था। वे सुरा और सोमरस के रूपमें, तीव्र पान भी करते थे। सोमरस सम्भवतः बड़ा स्वादिष्ट और स्वास्थ्यप्रद होता था। वेदों में उसकी बड़ी महिमा लिखी है। सोमरस उत्तेजना भी देता था और बाद म शरीर पर उसका शिथिलतापूर्ण प्रभाव भी नहीं पड़ता था।

धर्म—वैदिक काल के आर्यों का धर्म सरल और कवित्व-मय था। प्रकृति की शक्तियाँ उनके हृदय पर गहरा प्रभाव डालतीं थीं। उनके पारिवारिक और समाजिक जीवन में यज्ञों का बड़ा महत्वपूर्ण भाग था। वे अग्नि को अपने और देवताओं के बीच माध्यम मानते थे और आग में मन्त्रोच्चारण पूर्वक बहुमूल्य सामग्रियों को आहुति देते थे। यज्ञ के विधान तो सरल थे, परन्तु उनके सिद्धान्त बहुत गुथीले थे। यज्ञ-साहित्य का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि उनके दो तरह के उद्देश्य होते थे। एक तो यह कि अमुक देवता को हम उसकी प्रिय अमुक आहुति देते हैं, उसके बदले में वह हमें अमुक फल दे।' दूसरा यह कि 'अमुक देवता ने हमें यह फल दिया है, हम उसके प्रति यह भेंट समर्पित करते हैं।' साथ ही यज्ञों के सम्बन्ध में किसी अदृष्ट पारलौकिक कल्याण की भावना भी प्राचीन आर्यों में थी। सुप्रसिद्ध पुरुष सूक्त में इस सम्पूर्ण भौतिक सृष्टि को यज्ञ का नाम

दिया गया है और उसमें लिखा है कि सब देवताओं की उत्पत्ति भी यज्ञ से ही हुई।

वेद मन्त्रों द्वारा जिन देवताओं को आहुतियाँ दी जाती थीं उन देवताओं का स्वरूप मनुष्याकार प्राकृतिक शक्तियों के रूप में स्वीकार किया जाता था। वैदिक देवताओं में 'इन्द्र' सब से प्रसिद्ध है। वह बिजली का देवता है। आर्य लोग अपने से भिन्न जाति वाले लोगों के साथ युद्ध करते हुए सदैव इन्द्र का ही स्मरण किया करते थे। इन्द्र के सम्बन्ध में जो कथाएँ प्रचलित हुईं, उन में इन्द्र और वृत्र की लड़ाई सबसे अधिक प्रमुख है। इन्द्र देवताओं का राजा है और वृत्र असुरों का। देवताओं की गौएँ असुर चुरा ले गए थे। इन्द्र ने अपने अनुयायी देवताओं के साथ असुरों पर चढ़ाई करदी और वृत्र की हत्या करके वह अपनी गौओं को असुरों के हाथों से छुड़वा लाया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अग्नि मनुष्यों और देवताओं के बीच दूत का काम करता है। वेद की बहुत सी ऋचाएँ इसी अग्नि के प्रति मनुष्यों के 'निवेदन' हैं।

वैदिक देवताओं में, वेद के आधार पर यह कहना कठिन है कि अमुक देवता ही सब से बड़ा है। वास्तव में वैदिक देवता महान् प्रकृति की विविध शक्तियों के प्रतिनिधि हैं। वेद में यह भी साथ ही कहा है—'वह वास्तव में एक ही है, उसी को अनेक नामों से याद किया जाता है।' इस भाव को उपनिषदों के विचारों का प्रारम्भ भी कहा जा सकता है।

'वरुण' सर्वत्र व्याप्त है। वेद में वरुण के सम्बन्ध में कहा है।

"इस विश्व में जो कुछ चल और अचल है, जो कुछ प्रकट या छिपा हुआ है, उस सब को देवता देखते हैं। जहाँ कोई दो व्यक्ति मिल कर आपस में कोई सलाह करते हैं और समझते हैं कि यहाँ सिर्फ हम दो ही हैं, वे ग़लती करते हैं। तीसरा व्यक्ति राजा वरुण वहाँ अवश्य मौजूद होता है। वह सब कुछ सुनता है, सब कुछ देखता और सब कुछ जानता है। उसके गुप्तचर आसमानभर में व्याप्त हैं। अपनी हज़ारों आँखों से वे दुनिया भर के छिपे-छिपे से कोनों को देख रहे हैं।"

इस के बाद प्रार्थना शुरू होती है—

'हे वरुण, ये जो तेरे हज़ारों-लाखों बड़े-बड़े जाल सब जगह बिछे हुए हैं, इन से तू झूठे पुरुषों को ही बाँध, सचों को नहीं।'

वेदों में 'ऊषा' की कल्पना एक पवित्र और सुन्दरतम देवी के रूप में की गई है। उसकी स्तुति में वेदों के बहुत से सूक्तों का निर्माण हुआ है। उषा से सम्बन्ध रखने वाले कुछ मन्त्रों का भाव इस प्रकार है—

'हे सुन्दर देवी, तुम अपनी युवावस्था के सम्पूर्ण सौन्दर्य, चमकीली छाती, उजले चेहरे और सुनहले बालों के साथ बड़ी मधुरता से मुस्कराती हो।'

'एक शौकीन और विजयी कन्या चमक रही है। चमकीले कपड़ों में उसने अपना सुन्दर शरीर छिपा रक्खा है। अपने मुग्ध प्रभु को वह अपना अनुपम सौन्दर्य ज्ञात भाव से दिखा रही है।'

'इस ऊषा को उसकी माँ ने सजाकर और भी अधिक प्रकाशमान बना दिया है। उसकी इस शोभा को जो देखता है, वह उधर

से अपनी आँखें नहीं हटा सकता । वह हर एक हृदय को जीत लेती है ।'

'सुन्दरी ऊषा ! यद्यपि तुम अनन्तकाल से चली आरही हो, तथापि प्रतिदिन पुनः नए रूप में उत्पन्न होती हो । इस तरह तुम नई और पुरानी दोनों ही हो ।'

विनोद—भारतीय आर्य स्वभाव ही से बहुत विनोदप्रिय थे । उन्हें गाने-बजाने और नृत्य कला का बड़ा चाव था । रथों की दौड़ तथा शिकार का भी उन्हें बड़ा शौक था । जुआ भी तब होता था । ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में जूए का वर्णन है । वेदों में एक सूक्त 'द्यूत सूक्त' भी है । इस सूक्त में एक जुआरी की दुर्दशा का बहुत ही मनोरञ्जक वर्णन किया गया है । वेदों में त्यौहारों और मेलों का जो वर्णन मिलता है, उससे प्रतीत होता है कि मेलों पर स्त्री और पुरुषों का खूब जमाव होता था ।

युद्ध कला और आचार—आर्य लोग युद्ध-विद्या में काफ़ी उन्नत थे । उन के मुख्य हथियार धनुष-बाण ही थे, यद्यपि युद्धों में वे बरछी और कुल्हाड़ों का प्रयोग भी करते थे । उन के पास युद्धों के रथ भी थे और इन से उन्हें शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलती थी ।

आर्यों के सन्मुख आचार सम्बन्धी ऊँचे आदर्श रहते थे । वेद मन्त्रों से आर्यों के आचार की उच्चता का प्रमाण मिलता है । 'ऋत' वेद के आचार का आदर्श है । ऋत का अर्थ है सत्य । वरुण, जो सर्वव्यापक है, इस ऋत का देवता है । इस तरह इस सम्बन्ध में प्राचीन आर्य बहुत उन्नत दशा में थे ।

———

पाँचवाँ अध्याय

आर्य सभ्यता का विकास

राजनीतिक जीवन

आर्य लोग क्रमशः भारत के पूर्व और दक्षिण में बढ़ते चले गए। उनकी यह प्रगति बहुत धीरे-धीरे और बड़े लम्बे काल में हुई। जिन जातियों ने आर्यों का मुक़ाबला किया, उन्हें परास्त कर आर्यों ने देश से निकाल दिया। जिन्होंने आर्यों की अधीनता स्वीकार कर ली, उन्हें नीची जातियों के रूप में आर्यों ने अपनी सामाजिक व्यवस्था का भाग बना लिया। क्रमशः आर्यों की सभ्यता और उनके विचारों में भी बड़ा विकास होता चला गया। उन्होंने भारत की आदिम जातियों से भी बहुत कुछ सीखा। धीरे-धीरे आर्य लोग हिमालय से विन्ध्याचल तक व्याप्त हो गए। इस प्रदेश का नाम 'आर्यावर्त' पड़ गया। कुछ आर्य नर्मदा से नीचे भी चले गए। नर्मदा के नीचे, अर्थात भारत के दक्षिण में आर्य लोगों ने द्राविड़ों का मुक़ाबला उस तरह नहीं किया, जिस तरह उत्तर भारत में किया था। दक्षिण में पहले आर्यों के ऋषि, आर्य सभ्यता के प्रचारकों के रूप में गए और उसके बाद आर्यों

ने विभिन्न गिरोह बना कर उस प्रदेश को विजय किया। इस समय तक गङ्गा की घाटी आर्यों का केन्द्र स्थान बन चुकी थी। यह वैदिक युग के उत्तरार्ध की बात है।

प्रारम्भिक युग के गिरोहों की ज़िन्दगी अब तक इतिहास की चीज़ बन चुकी थी। इस समय तक अनेक शक्तिशाली राज्यों का विकास हो चुका था, जिन पर पराक्रमी राजा राज्य करते थे। वैदिक युग के अनेक प्रसिद्ध आर्य-गिरोह इस समय तक नष्ट हो चुके थे और उनकी जगह नए शक्तिशाली आर्य वंशों का उदय हो चुका था। आर्यों और अनार्यों के युद्ध अब बहुत कम होते थे। अब तक आर्यों के विभिन्न राज्यों में शक्ति सम्पादन के लिए भयंकर संघर्ष शुरू हो चुका था। आर्थों में साम्राज्य-स्थापन की भावना उत्पन्न हो चुकी थी। वैदिक साहित्य में सम्राट बनने के लिए अश्वमेध और राजसूय यज्ञ करने का विधान आता हैं। इस उत्तर वैदिक युग के इतिहास के सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं होती, सिर्फ़ पुराणों और गाथा ग्रन्थों का ही आधार है। श्रीयुत पार्जीटर के ऐतिहासिक अन्वेषणों के आधार पर ईसा से ७ सदी पूर्व तक की तिथिरहित महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख यहाँ किया जाता है।

प्रसिद्ध है कि भारतीय आर्यों के सभी राजवंशों का उदय, प्रथम राजा मनु से हुआ है। इन राजवंशों में प्रमुख ये हैं— (१) अयोध्या का इक्ष्वाकु वंश (२) पुरुरव वंश (३) यादव वंश (४) हैहय वंश (५) पौरव वंश। इन सब वंशों में परस्पर अनेक सम्बन्ध भी स्थापित थे।

अयोध्या का राज्य—राजा इक्ष्वाकु के साथ अयोध्या का

सूर्य वंश शुरू होता है। कहा जाता है कि विदेह की राजधानी मिथिला में राजा इक्ष्वाकु के एक पुत्र ने एक नए राजवंश की नींव डाली थी। उसके वंश का नाम हैहय वंश पड़ा। हैहय वंश का यह विदेह-साम्राज्य मान्धाता के राज्यकाल में बहुत समृद्ध हो गया। मान्धाता ने आसपास के अनेक राज्यों को विजय कर सम्राट का पद प्राप्त किया। उसका साम्राज्य दक्षिण में नर्मदा नदी तक व्याप्त हो गया और कुछ समय के लिए अयोध्या की शक्ति बहुत क्षीण पड़ गई।

परन्तु सगर और भगीरथ के राज्यकाल में अयोध्या पुनः शक्तिशाली राज्य बन गया। भगीरथ के पुत्रों में परस्पर झगड़ा हो गया और भगीरथ के देहान्त के बाद उसके उत्तराधिकारी ५, ६ पीढ़ियां तक आपस में लड़ते झगड़ते रहे। परिणाम यह हुआ कि अयोध्या की ताकत बहुत घट गई। उसके बाद दिलीप द्वितीय ने अयोध्या की शक्ति को पुनः समृद्ध किया। दिलीप द्वितीय के बाद दशरथ राजा प्रसिद्ध हुआ और उसके बाद उसका पुत्र रामचन्द्र। रामचन्द्र के देहावसान के बाद अयोध्या का राजवंश शक्तिशाली नहीं रहा। उसके बाद सातवीं सदी ईसवी में कोशल का राज्य एक बार पुनः शक्तिशाली बना, तब उसकी राजधानी अयोध्या नहीं थी। इस समय भी मगध के उन्नत साम्राज्य के मुकाबिले में कोशल को बहुत शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता था। नन्द वंश के प्रादुर्भाव तक अयोध्या में इक्ष्वाकु वंश का क्रम जारी रहा।

पुरुरव वंश—कहा जाता है कि पुरुरव वंश का प्रारम्भ मनु की लड़की के पुत्र से हुआ। इस वंश का प्रथम केन्द्रस्थान प्रतिष्ठान

नगर, जो वर्तमान इलाहाबाद के आसपास था, बना। पुरुरववंश के अनेक राजकुमारों ने कान्यकुब्ज (कन्नौज), वाराणसी (बनारस) आदि स्थानों पर नए राज्यों का निर्माण भी किया। पुरुरव वंश का सब से अधिक शक्तिशाली राजा ययाति हुआ। अपने राज्य का खूब विस्तार कर लेने के बाद उसने इसे अपने पाँचों पुत्रों में बराबर-बराबर बाँट दिया। ययाति के ये पाँचों पुत्र योग्य सिद्ध हुए, और उन सब ने पाँच सुप्रसिद्ध राजवंशों की नींव डाली। इनमें से पुरु और यदु, क्रमशः पौरव और यादव वंश की नींव डालने के कारण, विशेष प्रसिद्ध हैं। पौरव वंश के राजाओं में दुष्यन्त, भरत, हस्तिन—हस्तिनापुर का प्रतिष्ठापक—कुरु—कुरुक्षेत्र का प्रतिष्ठापक, शान्तनु और दुर्योधन विशेष प्रसिद्ध हैं। कुरु के समय से पौरव वंश, कौरव वंश कहलाने लगा। राजा दुर्योधन महाभारत के सुप्रसिद्ध महायुद्ध में एक पक्ष का मुखिया था। महाभारत की घटनाएँ अब ऐतिहासिक स्वीकार की जाने लगी हैं।

महाभारत के युद्ध के बाद पाण्डव वंश भारतवर्ष भर में सब से अधिक शक्तिशाली बन गया। अर्जुन के वंशधर बहुत समय तक राज्य करते रहे। कालान्तर में हस्तिनापुर एक भयंकर बाढ़ से नष्ट होगया और तब पाण्डव वंश की राजधानी कौशाम्बी नगरी बनी। क्रमशः इस वंश की शक्ति क्षीण होती गई। सात सदी ईसा-पूर्व का राजा उदयन पाण्डव वंश का ही वंशधर था।

मगध का जरासन्ध—पुरुरव वंश की एक शाखा गिरिव्रज (राजगृह) का बृहद्रथ वंश था। राजा कुरु ने इस वंश की स्थापना की थी। बृहद्रथ वंश का सब से अधिक शक्तिशाली राजा जरा-

सन्ध हुआ। जरासन्ध का राज्य मथुरा तक व्याप्त था। यादव वंश के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और दार्शनिक कृष्ण के साथ जरासन्ध के जो संघर्ष हुए, उनका विस्तृत वर्णन भागवत में है। बृहद्रथ-वंश के १६ राजाओं ने मगध पर राज्य किया। उसके बाद ७ सदी ईसापूर्व में शिशुनाग वंश के राजाओं ने बृहद्रथ ंश का राज्य नष्ट कर दिया।

यादव—वंश भी पुरुरव वंश की एक शाखा थी। चम्बल और बेतवा नदियों के आसपास का प्रदेश यादव वंश के अधीन था। सुप्रसिद्ध हैहय वंश की स्थापना भी एक यादव राजकुमार ने की थी। क्रमशः यादवों ने विदर्भ को भी विजय कर लिया और वे उत्तर-पश्चिम में अपना राज्य बढ़ाने लगे। यादव वंश के एक राजकुमारने चेदी वंश का प्रारम्भ किया। चेदी-वंश के शक्तिशाली राजा मधु के काल में उसका राज्य-विस्तार गुजरात से यमुना तक हो गया। यादव वंश की राजधानी मथुरा थी और गुजरात की द्वारिका पर भी उनकी एक शाखा राज्य कर रही थी।

हैहय—यादवों की शाखा हैहय वंश प्राचीन भारत का एक बहुत सुप्रसिद्ध राजवंश था। एक समय हैहय लोगों न अयोध्या के शक्तिशाली राज्य को भी नीचा दिखा दिया था। हैहय वंश का सब से प्रसिद्ध राजा कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन हुआ। अर्जुन का राज्य नर्मदा के उद्गम से लेकर हिमालय तक था। भार्गव वंश के ब्राह्मण जामदग्नि के साथ अर्जुन का झगड़ा हो गया और अर्जुन ने उसका वध कर दिया। तब जामदग्नि के पुत्र राम (परशुराम) ने अयोध्या और कन्नौज के राजाओं की सहायता लेकर अर्जुन

को नीचा दिखाया । इसके बाद हैहय वंश की शक्ति क्षीण हो गई और कालान्तर में अयोध्या के राजा सगर ने हैहय वंश का अन्त कर दिया।

अन्य राज्य—प्राचीन भारत के कतिपय अन्य राजवंश निम्न लिखित थे—तुर्वश, द्रुह्यु और अणु । अणव वंश पूर्वीय प्रदेश पर राज्य करता था। बाद में उसके पांच भाग हो गए—अंग, वंग, कलिंग, सुम्ह और पुण्ड्र । इनके अतिरिक्त मत्स्य, कुरुष और काशी वंशों का नाम भी यहां दिया जा सकता है। सुप्रसिद्ध राजा सुदास का जन्म उत्तर पांचाल वंश में हुआ था। सीमाप्रान्त के राजवंशों में तक्षशिला का नाग वंश विशेष शक्तिशाली प्रतीत होता है।

प्रसिद्ध नगर— मध्ययुग के अयोध्या, मिथिला, इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, मथुरा, कान्यकुब्ज, उज्जैन, तक्षशिला आदि नगर इस युग में भी सुप्रसिद्ध हो चुके थे। आर्य काल के नगर बड़े समृद्ध थे साथ ही उन दिनों गांवों की स्वाधीनता भी पूर्ण रूप से अबाधित थी । सड़कों तथा पानी के मार्गों द्वारा एक नगर से दूसरे नगर में आवागमन होता था। उनका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

इन शक्तिशाली राज्यों के अतिरिक्त पूर्व और पश्चिम में छोटे-छोटे स्वाधीन गणतन्त्र राज्यों की सत्ता भी थी। आर्य राजनीति में इन गणराज्यों का भी बहुत महत्वपूर्ण भाग था ।

यह प्रतीत होता है कि उस युग में भी भारतवर्ष का व्यापार अन्य देशों के साथ होता था । पश्चिम भारत का सब से बड़ा

व्यापारिक केन्द्र उज्जैन था। उन दिनों नागरिक जीवन का विकास भी हो रहा था।

ग्राम्य जीवन—आर्य राजनीति का आधार तत्कालीन ग्राम ही थे। गांवों की रचना तब नकशा बना कर की जाती थी। इन गाँवों के रूप का आधार सम्भवतः प्रथम आर्य आक्रान्ताओं के किले ही थे। शिल्प शास्त्रों में इन गाँवों की रचना के सम्बन्ध में विस्तार के साथ लिखा गया है। यह प्रायः स्वीकार किया जाता है कि भारतवर्ष में नगर-रचना की कला बहुत प्राचीन काल से विद्यमान है। शिल्प शास्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन आर्य रेखागणित से भी अनभिज्ञ नहीं थे। रेखागणित का प्रारम्भ सम्भवतः वैदिक यज्ञ-क्रियाओं से हुआ होगा।

आर्य गाँवों के चारों ओर अष्टकोण घेरा होता था। इस घेरे की चार भुजाएँ चार चौकोनों के सामने होती थीं। सारा ग्राम दो मुख्य बाजारों द्वारा चार भागों में विभक्त होता था। ये दोनों बाजार अपने केन्द्रों में एक दूसरे को काटते थे। इन बाज़ारों का अन्त चारों दिशाओं में बने चार बड़े फाटकों पर होता था। स्थान का चुनाव भी बहुत देख भाल कर किया जाता था। प्रायः ग्राम नदियों के किनारे ही बसाए जाते थे। दो नदियों का संगम नगर रचना के लिये सर्वश्रेष्ठ स्थान समझा जाता था।

प्रत्येक गाँव के निवासी प्रतिवर्ष एकत्र होकर पाँच नागरिकों की एक सभा का चुनाव करते थे। यही सभा नगर का प्रबन्ध करती थी। क्रमशः चुनाव का नियम क्षीण होता चला गया और कुछ वंश शक्ति संचय करते गए। तब अनेक राजवंशों की उत्पत्ति हुई। यह होते हुए भी आर्यकाल में लोकमत की महत्ता सदैव बनी रही।

धार्मिक विचारों की लहरें

इन दिनों भारतीय आर्य-सभ्यता के विकास में, तत्कालीन धार्मिक भावनाओं के अनुसार, वड़ा परिवर्तन आया। हम देखते हैं कि तव धार्मिक विचारों की लहर में तीन विभिन्न धाराएँ स्पष्ट-रूप से दिखाई देती हैं—याज्ञिक विधि-विधान, दार्शनिक और तपस्यामय।

विधि-विधानों की अभिवृद्धि—प्रतीत होता है कि सदियों तक भारतीय ब्राह्मणों की प्रवृत्ति गुथीले याज्ञिक विधि-विधानों की ओर रही। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन विधानों के सम्वन्ध में विस्तार के साथ लिखा है। इस सम्पूर्ण नीरस और अनाकर्षक साहित्य का अनुशीलन करने से प्रतीत होता है कि तव के ब्राह्मण यज्ञों के निष्फल, परन्तु वहुत गुथीले और रहस्यपूर्ण विधि-विधानों को पूरा करने में ही लगे रहते थे।

इन याज्ञिक विधि-विधानों का प्रारम्भ मनुष्य के व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन से होता है। क्रमशः इस तरह के ४० संस्कार निश्चित कर दिये गए, जिनका सम्वन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से है। ये संस्कार गर्भाधान से प्रारम्भ होकर मनुष्य के मरने के वाद तक चलते हैं। इन संस्कारों में उपनयन और विवाह सव से अधिक महत्वपूर्ण माने जाते थे। पारिवारिक विधि-विधानों में ५ दैनिक यज्ञ और ७ पाक यज्ञ भी सम्मिलित थे।

इन सामान्य विधिविधानों से अधिक वड़े यज्ञ भी थे। श्रौत सूत्रों में इन यज्ञों का वर्णन है। श्रौत सूत्रों के यज्ञों में अग्निष्टोम सव से अधिक महत्वपूर्ण है। इस यज्ञ में अग्नि-

विधान तो सिर्फ़ एक ही दिन के लिए किया जाता था, परन्तु उससे पूर्व बहुत दिनों तक उपवास और तपस्या का जीवन रखना आवश्यक था।

राजसूय और अश्वमेध—बड़े-बड़े सार्वजनिक यज्ञों में राजसूय और अश्वमेध बहुत अधिक महत्वपूर्ण हैं। राजसूय और अश्वमेध यज्ञ सार्वभौम या चक्रवर्ती राजा बनने का महत्वाकांक्षी पुरुष ही कर सकता था। इन दोनों यज्ञों को पूर्ण करने वाला अपने समकालीन सम्पूर्ण राजाओं से बहुत उच्चकोटि में गिना जाता था। यहाँ इन यज्ञों की विधि का विस्तृत वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। प्राचीन साहित्य में पुरुषमेध यज्ञ का वर्णन भी है, जिसमें पुरुष की बलि दी जाने का उल्लेख है। कुछ प्राक्विद्वानों की राय में पुरुषमेध धार्मिक युद्ध का नाम है।

'व्रात्य स्तोम' नाम के एक यज्ञ का भी उल्लेख मिलता है। इस यज्ञ द्वारा अनार्यों को आर्य लोग अपने में मिला लेते थे।

जीवन के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टि—ब्राह्मण पुरोहितों के उपर्युक्त विधि-विधान जब प्रारम्भिक वैदिक युग के विधि-विधानों से बहुत भिन्न और पेचीदा बन गए, उस समय भारतीय आर्य विचारकों में एक प्रबल मत इस अभिप्राय का भी था कि मुक्ति सिर्फ़ विशुद्ध ज्ञान से ही मिल सकती है। ये लोग यज्ञों को गौण मानते थे।

आर्य युग के दार्शनिक मन्तव्यों का परिचय उपनिषदों से मिलता है। आज क़रीब २०० उपनिषदें प्राप्त होती हैं, परन्तु इनमें

से अधिकांश बहुत पीछे बनी हैं। प्राचीन उपनिषदों, जिनकी संख्या अधिक नहीं है, द्वारा संसार के दार्शनिक ज्ञान में बड़ी अभिवृद्धि हुई है। यह बात बड़ी अर्थपूर्ण है कि उपनिषदों की रचना में क्षत्रियों का भी बड़ा महत्वपूर्ण भाग था।

भारतीय उपनिषदें संसार के साहित्य का बहुत ही महत्वपूर्ण भाग हैं। यूरोप में उपनिषदों का स्वाध्याय शुरू हुए तो बहुत समय नहीं हुआ, परन्तु पश्चिम की विचार धाराओं पर उपनिषदों का प्रभाव बहुत प्राचीन काल से पड़ता रहा हैं। फ़ारसी सूफ़ी मत के विकास में उपनिषदों के विचारों से बड़ी सहायता मिली है। एक पाश्चात्य विद्वान् के शब्दों में 'अलैक्ज़ण्ड्रिया के ईसाइयों के नव प्लेटो स्कूल (Neo-Platonic school) के रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक विचार (Mystic-theosophical Logos) तथा ईखार्ट (Eckhart) और तुलर (Taular) दोनों ईसाई रहस्यवादी आचार्यों के विचारों पर उपनिषदों के जीवन-ब्रह्म सिद्धान्त का गहरा प्रभाव है।' उन्नीसवीं सदी का महान रहस्यवादी दार्शनिक शोपनहार उपनिषदों का फ़ारसी से लेटिन भाषा में अनुवाद पढ़ कर इतना प्रभावित हुआ कि उसने बहुत ही मार्मिक भाषा में उपनिषदों के सम्बन्ध में लिखा है—'उपनिषदों का एक-एक वाक्य पढ़ कर मस्तिष्क में गहरे, मौलिक और पवित्र विचार इस अधिकता से उठते हैं कि मनुष्य बहुत ऊँचे और दैवीय भावों से ओतप्रोत हो जाता है।.........आहा, उपनिषदें पढ़ कर यहूदी अन्धविश्वास जैसे हृदय पर से बिलकुल धुल-से जाते हैं। स्वाध्याय के लिये संसार भर के साहित्य में उपनिषदों से बढ़ कर, ऊँचा उठाने वाली और अत्यधिक लाभप्रद और कोई पुस्तक नहीं है। मुझे इनसे

बड़ी सान्त्वना मिली है। मृत्यु के समय भी मुझे उपनिषदों ही से सान्त्वना मिलेगी ?

सत्रहवीं सदी में शाहजहाँ के बड़े पुत्र दारा शिकोह के पास उपनिषदों का एक फ़ारसी अनुवाद मौजूद था। उन्नीसवीं सदी के शुरू में एक फ्रैञ्च विद्वान् ने इन फ़ारसी उपनिषदों का लैटिन-भाषा में अनुवाद किया। इस अप्रामाणिक और दोषपूर्ण अनुवाद को पढ़ कर ही शोपनहार ने उपनिषदों के सम्बन्ध में इतनी ऊँची राय बनाई थी। कहा जाता है कि इस अनुवाद की एक कापी शोपनहार की मेज़ पर सदैव मौजूद रहती थी। उपनिषदों की शिक्षाओं के सम्बन्ध में शोपनहार का विचार था कि वे मानवीय ज्ञान और विचारशक्ति का सर्वश्रेष्ठ फल हैं। दार्शनिक दूसेन के अनुसार 'उपनिषदें यदि सत्ता के रहस्य के सम्बन्ध में सब से अधिक वैज्ञानिक नहीं, तो सब से अधिक गहरा और सीधा ज्ञान अवश्य देती हैं।' मैक्समूलर का कहना है—'इसमें कोई सन्देह नहीं कि संसार के साहित्य में उपनिषदों का वह अमर स्थान है जो किसी भी देश और किसी भी युग के मनुष्यों का अधिकतम विचारशील मस्तिष्क उत्पन्न कर सकता है।'

पूर्व और पश्चिम दोनों की दृष्टि में उपनिषदों के दार्शनिक कवियों की महत्ता इस बात में नहीं कि उन्होंने वास्तविक सत्य का चरम अन्वेषण कर लिया था। उनकी महत्ता इसमें है कि उन्होंने सत्य के अन्वेषण का बहुत ही गम्भीर, विचारपूर्ण और सच्चा प्रयत्न किया। बृहदारण्यक उपनिषद् के शब्दों में जीव और ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है—'नेति !

नेति'!!' अर्थात् 'वह इस तरह नहीं है ! वह इस तरह भी नहीं है !!'

उपनिषद् युग के बाद महाभारत और पुराणों का युग शुरू होता है । इस युग को योग (तपस्या) का युग भी कह सकते हैं ।

योगी और ब्राह्मण ये दोनों प्राचीन भारत के बौद्धिक तथा धार्मिक जीवन के विभिन्न प्रतिनिधि थे । इनका आचारशास्त्र पृथक् पृथक् था । इन दोनों के साहित्यों में स्पष्ट भेद दिखाई देता है। ब्राह्मण साहित्य का आधार वैदिक गाथाएँ नहीं, अपितु तत्कालीन जन साधारण में प्रचलित दन्त कथाएँ ही था । तपस्वी लोग आचार की पवित्रता पर विशेष बल देते थे और वे संन्यासी को, उसके सर्वस्व त्याग के कारण, सब से बड़ा पद देते थे । तपस्वियों के साहित्य में जिस पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त पर बल दिया गया है, उसमें निराशावाद को स्थान नहीं है । वे वर्ण का बन्धन नहीं मानते थे । तपस्वी लोगों के जिन आदर्शों का महाभारत, पुराण तथा प्रारम्भिक बौद्ध और जैन ग्रन्थों में पिता पुत्र के सम्वाद के रूप में सुन्दर वर्णन पाया जाता है, वे आदर्श ब्राह्मणों की आश्रम व्यवस्था से बिलकुल भिन्न हैं।

महाभारत में योग (कर्म) के सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रायः अब्राह्मण लोगों के मुँह से ही कराया गया है । यह बात अचानक नहीं हुई । विदुर का जन्म एक दासी से हुआ था, महाभारत में वर्णित कर्म और योग के सिद्धान्तों का काफ़ी बड़ा भाग उसी से सम्बद्ध है । चीनी, फारसी और यूरोपियन साहित्य में जिस मनुष्य और कूँए की घटना का उल्लेख है, वह सब से पहले विदुर द्वारा महाभारत में कहलवाई गई है । नीची जाति के महापुरुषों ने त्यागमय जीवन के इस तप-सिद्धान्त का विशेष प्रतिपादन किया ।

इनमें शिकारी धर्मव्याध, बनिया, तुलाधार आदि विशेष उल्लेखनीय हैं । ब्राह्मणों के प्रतिपादित यज्ञों में हिंसा का विधान है। इधर तपस्वी-साहित्य का मुख्य आधार ही अहिंसा है। ययाति और राजा विपश्चित आदि की प्रसिद्ध कथा में आश्चर्यजनक बलिदानों और तपस्याओं का वर्णन है।

यह तपस्या का सिद्धान्त एक ओर सांख्य और योग से सम्बद्ध है और दूसरी ओर बौद्ध तथा जैन आदर्शों से।

तपस्या के आदर्श से सम्बन्धित एक और आदर्श आत्मपीड़ा द्वारा आत्मशुद्धि तथा अपने में असाधारण शक्तियों का विकास भी था । यह माना जाता था कि अपने को भारी कष्ट पहुँचाने से मनुष्य को दिव्य दृष्टि मिल जाती है, जिससे वह दैवी रहस्यों को समझ सकता है । बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रारम्भ से पूर्व यह तीव्र आत्मयातना का आदर्श प्रबल था। महात्मा बुद्ध ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया, परन्तु महावीर ने जैन धर्म में इस आत्मयातना के सिद्धान्त को बड़ा महत्व दिया और मध्ययुग में भी यह सिद्धान्त हिन्दुओं के एक भाग में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा।

उसके बाद क्रमशः भक्ति के मार्ग ने भारतीय आर्यों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। इस लहर का असर बौद्ध धर्म पर भी पड़ा और एक समय भक्तिवाद भारतवर्ष में सब से अधिक व्यापक और शक्तिशाली बन गया।

भारतवर्ष के सब विचारक कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। कर्म और पुनर्जन्म का यह सिद्धान्त मनुष्य के किसी एक जन्म से शुरू नहीं होता । यह प्रवाह से

अनादि है । एक जन्म का दूसरे जन्म पर प्रभाव पड़ता है और दूसरे का अगले जन्म पर । प्राणिमात्र की सम्पूर्ण योनियाँ, जहाँ भी प्राण है, इस पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धान्त द्वारा एक शृंखला में बँध जाती हैं । अगले जन्मों के भविष्य का निर्णय हमारे आज के कर्म करते हैं। पूर्ण आनन्द पृथवी या स्वर्ग में नहीं, वह मुक्ति में ही है । निर्वाण, मुक्ति आदि इसी मोक्ष के अनेक नाम हैं । आजकल के सम्पूर्ण हिन्दु-मतों में भी कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त की बड़ी महत्ता है ।

वर्ण व्यवस्था का प्रादुर्भाव

वर्तमान हिन्दू धर्म वर्ण व्यवस्था पर आश्रित है। वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ हुए कम से कम ३००० वर्ष हुए हैं । यह एक बहुत ही गुथीली व्यवस्था है। इसने वर्तमान हिन्दुओं को क़रीब ३००० भागों में विभक्त कर रक्खा है । वर्ण व्यवस्था के विकास को समझने के लिए हमें प्राचीन वैदिक युग की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करना चाहिए।

जातियों की समस्या—जब आर्य लोगों ने अपनी सैनिक शक्ति से इस देश के अधिकांश भाग पर प्रभुत्व क़ायम कर लिया, तब उनके सामने सब से बड़ी समस्या यह आ खड़ी हुई कि वे अपनी पृथक् सत्ता किस तरह क़ायम रख सकते हैं । आर्यों की संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम थी । उनके मुक़ाबिले में इस देश के मूल निवासी—मंगोल और द्राविड़ लोगों—की संख्या बहुत अधिक थी । इन परिस्थितियों में आर्य विचारकों ने, कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ निकालने का सिरतोड़ प्रयत्न किया जिससे भारतवर्ष के मूल निवासियों को अपने सामाजिक संगठन का भाग भी बना

लिया जा सके और आर्यों की पृथक् सत्ता पर भी आघात न पहुँचे।

ऐतिहासिक साक्षियों से यह प्रकट होता है कि आर्य विजेता हारी हुई जातियों से घृणा नहीं करते थे। वे उन्हें अपने सामाजिक संगठन का भाग बना लेते थे। क्रमशः यह सामाजिक और सांस्कृतिक सम्मिश्रण अपनी पूर्णता को पहुँच गया और आर्य तथा द्राविड़ देवता एक ही मन्दिर में और एक ही पंक्ति में बैठा दिए गए। ऋग्वेद के आर्य देवता और अथर्ववेद के द्राविड़ पिशाच ये दोनों आर्य और द्राविड़ सभ्यताओं के दार्शनिक संघर्ष के परिणाम स्वरूप एक दूसरे से कन्धा मिला कर खड़े होगए। दोनों महान सभ्यताओं का संघर्ष एक वाञ्छनीय लेन-देन में परिवर्तित हो गया। भारत के मूल निवासियों का मुखिया हनुमान रामचन्द्र का भक्त अनुचर बन गया। आर्य सम्राट् रामचन्द्र ने दक्षिण तक भारत की सांस्कृतिक विजय को पूर्ण कर सब जातियों में एकत्व स्थापन द्वारा इस महान देश में एक ही सभ्यता का शानदार झण्डा खड़ा कर दिया।

दो महान संस्कृतियों का सम्मिश्रण—भारत के मूल निवासियों का देवता साँप आर्य माइथोलोजी (गाथाएँ) का महत्वपूर्ण भाग बन गया। कृष्ण, कालिय सर्प के फण पर नाच करने लगा और विष्णु शेषनाग को सेज बना कर उस पर विश्राम करने लगा। उधर आर्य देवता शिव, दक्षिण का एक मुख्य देवता बन गया। इस तरह क्रमशः आर्यों के प्राचीन वैदिक धर्म और द्राविड़ सभ्यता के संसर्ग से हिन्दू धर्म की उत्पत्ति हुई और इस हिन्दू धर्म में दोनों प्राचीन संस्कृतियाँ मिल कर एक हो गईं। यज्ञों के

साथ देव पूजा ने भी अपना स्थान बना लिया। धीरे-धीरे विजित और विजेता में कोई भेद नहीं रह गया। विजित लोगों की संस्कृति में से सम्पूर्ण अच्छी और सच्ची बातों को लेकर आर्य संस्कृति हिन्दू धर्म के रूप में और भी विशाल और समन्वयात्मक संस्कृति बन गई। इस व्यापक धार्मिक और सामाजिक संगठन में जंगली जातियों के अनघड़ विश्वासों और रीति रिवाजों को भी बरदाश्त किया गया। किसी पर कोई जबरदस्ती नहीं की गई, यद्यपि अवनत श्रेणियों के सामने भी नई भावनाएँ स्वयं ही उपस्थित हो गईं। कुछ ही समय के बाद नाम में परिवर्तन न आने पर भी प्राचीन अनार्य मन्तव्यों का कायापलट हो गया। काली एक अनार्य देवी थी; शराब, माँस और हत्या में मस्त रहने वाली। वही काली देवी हिन्दू धर्म में दीक्षित होकर दयामयी काली माता बन गई। हिन्दू धर्म का आधार सहनशीलता और दूसरों के अस्तित्व को स्वीकार करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि प्राचीन अवनत जातियों के अन्ध विश्वासों को भी हिन्दू-धर्म में स्थान मिल गया; मगर उन जातियों के सामने हिन्दुत्व के उच्चतम धार्मिक आदर्श भी मौजूद रहे। इन आदर्शों की मौजूदगी में हिन्दुओं की अवनत श्रेणियाँ उन्नति के मार्ग का प्रकाश जैसे स्पष्टरूप में देखती रहीं। हिन्दुत्व में जबरदस्ती को स्थान नहीं है। हिन्दू धर्म का सिद्धान्त है कि किसी को सत्य का दर्शन पाशविक शक्ति की सहायता से नहीं करवाया जा सकता। हिन्दू-धर्म का यह भी विश्वास नहीं कि मनुष्य मात्र को यन्त्र के समान एक ही ढंग से जीवन व्यतीत करना चाहिये और एक ही ढंग से भगवद्‌भक्ति करनी चाहिए। हिन्दू धर्म का यह भी सिद्धान्त

नहीं कि मोक्षप्राप्ति का सिर्फ़ एक ही उपाय है। * आर्य धर्म दूसरी सभ्यताओं के प्रति सहनशील था। आर्य संस्कृति की व्यापक और सहनशील भावना मनुष्यमात्र में एक सम्पन्न मृदुलता चाहती थी, वह उन्हें नीरंग एकत्व में नहीं ढालना चाहती थीं। हिन्दू धर्म की इन्हीं भावनाओं ने वर्ण व्यवस्था को जन्म दिया। यह वर्ण व्यवस्था एक विशाल जंगल के समान है, जिस में विविध प्रकार के हज़ारों बड़े-बड़े वृक्ष हैं, सब वृक्षों की अपनी-अपनी विशेषता और पृथक्-पृथक् उपयोग हैं, परन्तु इन सब की प्रेरक-शक्ति एक ही है।

प्राचीन आर्य समाज के नेताओं ने इस बात के लिए अनथक प्रयत्न किया कि वे द्राविड़ जातियों में रलमिल न जाएँ, एक जाति के रूप में उनकी पृथक् सत्ता भी बनी रहे। उन्होंने अपने वंश की पवित्रता और अपनी आध्यात्मिक थाती को बनाए रखने की ओर अत्यधिक ध्यान दिया। परन्तु कालान्तर में उनका यह प्रयत्न भारतवर्ष भरके सामाजिक संगठन का ताना-बाना बन गया और इस देश के लाखों-करोड़ों अनार्य जाति के हिन्दुओं ने भी इस व्यवस्था को पूरी तरह अपना लिया। क्रमशः धारावाहिक रूप से आर्य और द्राविड़ सभ्यताओं का सम्मिश्रण अधिक-अधिक होता चला गया। इस सम्मिश्रण में दोनों जातियों का सर्वश्रेष्ठ भाग सम्मिलित था। इस तरह दो विभिन्न संस्कृतियों में स्थिर एकता स्थापित करना प्राचीन आर्यों का एक असाधारण महान

---

* Hindu view of Culture.

—by Sir Radha Krishna.

कार्य था विभिन्न जातियों और विभिन्न संस्कृतियों को एक समन्वयात्मक समाज के रूप में मिला दिया गया। इस समाज का दृष्टिकोण और प्रथाएँ एक जैसी ही थीं। भविष्य में इस हिन्दू-संस्कृति के विकास में द्राविड़ लोगों ने भी बड़ा भाग लिया।

वर्ण का उद्गम—इस तरह वर्ण-व्यवस्था उन समस्याओं के जवाब के रूप में प्रारम्भ हुई, जो समस्याएँ आर्य विजेताओं के सन्मुख विजित जातियों के साथ रहते हुए उत्पन्न हुई। इसी साधन के द्वारा उन्होंने विभिन्न जातियों को अपना भाग बना कर उन्हें सभ्यता का प्रकाश दिया; इसी के द्वारा उन्होंने अपने रुधिर की पवित्रता बनाए रखने का प्रयत्न किया। नई जातियों को भी हिन्दू-धर्म में मिला लिया जाता था, परन्तु उन्हें अपना अलग गिरोह रखना पड़ता था। उन्हें भी ब्राह्मणों की सामान्य अधीनता स्वीकार करनी होती थी। वर्ण-व्यवस्था की अभिवृद्धि का आधार विश्वास और सहनशीलता था।

वर्ण के जातीय आधार—'वर्ण' शब्द का अर्थ है रंग। इस शब्द से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शुरू-शुरू में विभिन्न रंगों की जातियों में भेद करने के लिए इस शब्द का प्रयोग जारी हुआ। गोरे वर्ण के विजेता अपने को आर्य कहते थे और वे इस देश के काले मूल निवासियों को दस्यु नाम से पुकारते थे। कालान्तर में आर्य जाति, कार्यों के विभाग के अनुसार, चार विभिन्न वर्णों में बांट दी गई। ब्राह्मणों का कार्य पढ़ना-पढ़ाना और पौरोहित्य का काम करना था; क्षत्रिय योद्धा थे और वैश्य व्यापारी तथा किसान, शूद्र सब से निचला वर्ण था। शूद्रों का कार्य था ऊँची

जातियों की सेवा करना। इन शूद्रों में पतित तथा बहिष्कृत आर्य और स्वेच्छा से आर्य वर्ण व्यवस्था को स्वीकार करने वाले अनार्य लोग सम्मिलित थे। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' में इन्हीं चार वर्णों का ज़िक्र है। अधिकांश पुरातत्त्वज्ञों की राय में यह 'पुरुष सूक्त' बाद की रचना है। प्रायः ऐतिहासिक, जिनमें विन्सेण्ट स्मिथ भी सम्मिलित है, इस चातुर्वर्ण्य सिद्धान्त को प्राचीन विचारकों की सिर्फ़ एक आदर्श कल्पनामात्र ही मानते हैं, उनकी राय में भारत के इतिहास में ऐसा चातुर्वर्ण्य विभाग व्यावहारिकरूप में कभी नहीं हुआ। इस चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का द्राविड़ आदि सभ्य अनार्य जातियों ने भी स्वीकार नहीं किया, तब भारत की मूल जंगली जातियों का तो कहना ही क्या। उनमें इस चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त की बू तक भी नहीं पहुँची। परन्तु वंशों के आधार पर विभिन्न जातियों का सिद्धान्त भारतवर्ष का रग-रग में व्याप्त हो गया।

वर्ण का मूल आधार कार्य-विभाग और जाति का भेद था। ये वर्ण अपरिवर्तनीय नहीं थे। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाना, अनेक हिन्दु शास्त्रों की साक्षियों के आधार पर, असाध्य नहीं था।

वर्णों की तुलनात्मक महत्ता—ब्राह्मण वर्ण प्राचीन भारतीय इतिहास का एक बहुत ही महत्वपूर्ण और मनोरंजक पहलू है। आर्यों के सामाजिक संगठन पर उनका जो गहरा प्रभाव था, उसका वर्णन आगे चल कर किया जायगा। कालान्तर में उनके दावे सीमा को भी लांघ गए; परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वैदिक युग का समाज ब्राह्मणों से बहुत ऊँचे आचार की आशा करता था। जन्म के समय ब्राह्मण का पद भी शूद्र के समान होता था। यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार के समय,

जब गुरु उसके कान में गायत्री मन्त्र का उपदेश करता था, तभी उस बालक में ब्राह्मणत्व का उदय स्वीकार किया जाता था। वास्तव में उनका सन्मान उनकी विद्वत्ता के आधार पर ही किया जाता था। मनु ने लिखा है कि 'जिस तरह लकड़ी का हाथी और चमड़े का बना हिरण सिर्फ़ नाम के ही हाथी तथा हिरण हैं, उसी तरह अविद्वान ब्राह्मण भी नाममात्र ही का ब्राह्मण है।' भारतीय ब्राह्मण कैथोलिक पादरियों अथवा मुसलमान मुल्लाओं के समान नहीं थे, जिनका काम एक विशेष प्रकार की व्यवस्था को क़ायम रखना था। यह भारतवर्ष का एक बौद्धिक कुलीनतन्त्र था, जिसका काम सब प्रकार के भारतीय विचारों का नेतृत्व करना था। अनेक ब्राह्मण प्रथम कोटि के योद्धा थे। महाभारत के समय प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य द्रोण का आश्रम युद्ध विद्या तथा सैनिक शिक्षा देने के लिए इतना प्रसिद्ध था कि भारतवर्ष के प्रमुख राजवंशों के राजकुमार वहाँ सैनिक शिक्षा ग्रहण करने के उद्देश्य से जाते थे।

क्षत्रियों का काम भी सिर्फ़ युद्ध करना ही नहीं था। वैदिक विचारों के विकास में ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों ने भी बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। वैदिक युग के द्वितीयार्ध में क्षत्रियों ने भी आर्य साहित्य में एक नई लहर-सी चला दी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपनिषदों की दार्शनिकता के महान आचार्य प्रायः क्षत्रिय ही थे।

वैदिक युग में शिल्पियों और कारीगरों का बड़ा सम्मान था। गाथा ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्य युग में अनेक कारीगरों का सम्मान ब्राह्मणों के समान किया जाता था।

उपर्युक्त चारों वर्णों के अतिरिक्त एक पंचम वर्ण भी वैदिक

युग में स्वीकार किया जाता था। इन्हें 'सामान्य' या 'सूत' कहा जाता था। आर्य और अनार्य रुधिर के सम्मिश्रण से इस पञ्चम-वर्ण की उत्पत्ति होती थी। यह पञ्चम वर्ण भी आर्य वर्णव्यवस्था का ही एक भाग था।

वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भिक आधार क्रमशः अधिक-अधिक व्यापक होता चला गया। आर्य संस्कृति के मुख्य सिद्धान्त स्वीकार कर लेने पर अनार्य जातियों को भी आर्य सामाजिक सङ्गठन में सम्मिलित कर लिया जाता था और उनसे यह आशा भी नहीं की जाती थी कि वे अपनी प्रथाओं और विश्वासों को छोड़ दें।

परिवर्तनशील वर्ण—स्मृतिकार मनु का कथन है कि जन्म के समय सभी मनुष्य शूद्र होते हैं। परन्तु दीक्षापूर्वक उपनयन से वे द्विज बन जाते हैं। द्विज का अर्थ है दूसरी वार जन्म लेने वाला। यह दूसरा जन्म आध्यात्मिक होता है। 'मनुष्य अपने कर्मों से ही ब्राह्मण बनता है, एक चाण्डाल भी ब्राह्मण है यदि वह ब्राह्मणों के समान कार्य करता है।' आर्यों के अनेक ऋषियों का जन्म भी नीच कुलों में हुआ था। रघुकुल गुरु वसिष्ठ ऋषि का जन्म एक वेश्या के गर्भ से हुआ था। महाकवि ऋषिवर व्यास का जन्म एक मछिहारे की लड़की से और पाराशर का जन्म एक चाण्डाल कन्या से हुआ था। गर्ग, गृत्समद, कण्व आदि अनेक जन्म के क्षत्रिय ब्राह्मणत्व को पाकर ऋषि बन गए। वेदों की अनेक ऋचाओं के मन्त्रकार क्षत्रिय थे। इनमें से देवापि और विश्वामित्र आदि, जो जन्म के क्षत्रिय थे, बड़े-बड़े यज्ञों में पुरोहित का काम भी करते थे। आचरण की ही महत्ता थी, जन्म की नहीं। कालान्तर में वर्ण विभाग अपरिवर्तन-शील बनता चला गया।

इस युग में भी अनेक क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का एकाधिकार तोड़ने के लिये भारी आन्दोलन किए। इस ढङ्ग के प्रयत्नों में विश्वामित्र और वसिष्ठ का सङ्घर्ष बहुत ही प्रसिद्ध है। वेण, नहुष, नेमी आदि के सङ्घर्ष भी उल्लेखनीय हैं।

जब सूत्र साहित्य ने प्रधानता प्राप्त की, तब यह नियम बना दिया गया कि जिस व्यक्ति का जन्म तीन ऋषियों के गोत्रों में नहीं हुआ, वे पौरोहित्य का कार्य नहीं कर सकते। सूत्र युग के इस नियम से भी यही सिद्ध होता है कि ब्राह्मण वंश की पवित्रता एक आदर्श मात्र ही था, वास्तव में तब तक आर्यों में वर्ण परिवर्तन होता रहा था।

अन्तर्वर्ण सम्मिलन—आर्य विचारक विभिन्न रुधिरों के सम्मिलन के पक्ष में नहीं थे। परन्तु अज्ञातरूप से इस देश में एक साथ रहने वाली जातियों का परस्पर सम्मिश्रण स्वयं ही होता चला गया। आर्य लोग सवर्ण (अपनी जाति में) विवाह को श्रेष्ठ मानते थे। अनुलोम विवाह (ऊँची जाति के पुरुष का छोटी जाति की कन्या से विवाह) सहन कर लिया जाता था; परन्तु प्रतिलोम विवाह (ऊँची जाति की कन्या का छोटी जाति के पुरुष से विवाह) बड़ी घृणा के साथ देखा जाता था। विभिन्न वंशों की पवित्रता बनाये रखने के लिए भारी प्रयत्न किया जाता था। एक वंश जिन गुणों में विशेषता प्राप्त कर लेता था, उन्हें परम्परा द्वारा उसी वंश मे सीमित रखकर विकसित किया जाता था।

अपरिवर्तनशील जातियां—ज्यों-ज्यों समय गुज़रता गया, प्रत्येक गिरोह का धर्म अधिक-अधिक कठोर होता चला गया। क्रमशः वर्ण सर्वथा अपरिवर्तनशील बन गया। एक वर्ण से दूसरे

वर्णों में जाना असम्भव हो गया। जातियों की संख्या शीघ्रता से बढ़ती गई और कुछ ही समय में हिन्दू लोग हज़ारों पृथक्-पृथक् जातियों के रूप में बँट गए। जातियों की संख्या बढ़ने के अनेक कारण थे। प्रत्येक गिरोह और प्रत्येक धन्धे का सङ्गठन पृथक जाति बन गया। कार्य-विभाग के आधार पर भी चमार, लोहार आदि इतनी जातियां बन गईं कि आज अनेक ऐतिहासिक इसी कार्य-विभाग को ही विभिन्न जातियों का मुख्य आधार मानने लगे हैं।

अनेक आदिम निवासी वंश आर्यों के संसर्ग में आकर विभिन्न जातियों के रूप में परिवर्तित हो गए। उदाहरण के लिये बङ्गाल के राजबंसी और मध्य भारत के गोंड लोगों का नाम पेश किया जा सकता है।

विदेशी आक्रान्ताओं ने नई जातियों का निर्माण किया। अनेक जातियों और वंशों के रुधिर के सम्मिश्रण से बहुत-सी नई जातियों का जन्म हो गया। एक जुदा जाति बनाने के लिये प्रथाओं या कार्य का परिवर्तन अथवा नए धार्मिक विचारों का ग्रहण ही पर्याप्त होता था। गुड़गांवां और दिल्ली के गौरिया राजपूत विधवा-विवाह करने लगे, अतः अन्य राजपूतों से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रह गया।

नए सम्प्रदायों से अनेक नई जातियों का जन्म हुआ। लिंगायत, कबीरपन्थी आदि जातियां इसी ढङ्ग की हैं। कुछ वंशों ने अपना निवास स्थान बदल लिया, इससे भी अनेक नई जातियाँ उत्पन्न हुईं; यथा गौड़ ब्राह्मण आदि। ऊँची जाति का कोई व्यक्ति जब कोई भारी अपराध करता था, तब उसे जाति से बहिष्कृत कर

दिया जाता था, इन बहिष्कृतों से भी अनेक जातियों का प्रारम्भ हुआ। इन्हें व्रात्य कहा जाता था। स्मृतिकारों ने व्रात्य जातियों की लम्बी सूची दी है।

आजकल इस जात-पात का रूप बहुत ही अपरिवर्तनशील और कठोर है। हिन्दुओं की सैकड़ों विभिन्न जातियाँ अपनी-अपनी प्राचीन प्रथाओं की रक्षा करती आ रही हैं। इन जातियों में परस्पर खान-पान बहुत कम होता है। अन्तर्जातीय विवाह हिन्दू धर्म को सह्य नहीं है। प्रत्येक जाति की अपनी-अपनी प्रथाएँ हैं; और उन्हीं प्रथाओं की रक्षा में हिन्दुओं की सम्पूर्ण शक्ति व्यय हो रही है।

इस प्रचलित वर्ण-व्यवस्था से हिन्दू धर्म को सब से बड़ा लाभ यह हुआ है कि जहाँ एक ओर हिन्दू धर्म अधिक व्यापक होता चला गया है, वहाँ दूसरी ओर सदियों के उपद्रवों और लड़ाई झगड़ों के वातावरण में भी हिन्दुओं के सैंकड़ों अपरिवर्तनशील वंशों और जातियों की प्रथाएँ बिलकुल सुरक्षित रही हैं। वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण हिन्दू समाज एक शरीर है, और विभिन्न जातियाँ उस शरीर के विभिन्न अङ्ग हैं। प्रत्येक अङ्ग की अपनी-अपनी विशेषता और अपनी-अपनी उपयोगिता है। हिन्दुत्व में प्रत्येक प्रथा और प्रत्येक मत के लिए स्थान है।

जाति-विभाग से लाभ—इसी वर्ण-व्यवस्था की बदौलत हिन्दू लोग एक के बाद दूसरी आक्रान्ता जातियों को बड़ी सफलतापूर्वक अपने सामाजिक सङ्गठन का भाग बनाते चले गए। इस आर्य नीति का परिणाम यह हुआ कि मध्य एशिया के जङ्गली

तुर्कमान (Turkoman) वीर इस देश में आकर सभ्य राजपूत बन गये। इसी वर्ण-व्यवस्था के दरवाजे से द्राविड़ लोग हिन्दू बन गए। प्रत्येक वंश या जाति को यह स्वाधीनता थी कि वह एक नई उपजाति के रूप में हिन्दुओं में सम्मिलित हो सकती थी। इन जातियों और उपजातियों को चार मुख्य वर्णों में से उसे किसी से सम्बद्ध कर दिया जाता था।

कार्य-विभाग के आधार पर आश्रित, वंश परम्परागत जातियां अपने-अपने कार्य में बड़ी निपुणता प्राप्त कर लेती थीं। ये जातियां अपने सामाजिक और आर्थिक संगठन बना कर अपने हितों की रक्षा करती थीं। इन शिल्पी जातियों को इस अपरिवर्तनीय जात-पांत की व्यवस्था से विशेष लाभ पहुँचा। उन्हें स्वयं ही वे लाभ प्राप्त हो गए, जिन लाभों के लिए आजकल सहयोग समितियों का निर्माण किया जाता है। वंश परम्परा से एकही काम करते चले आने के कारण निपुणता भी बढ़ती गई। पुत्र के लिए अपने पिता का काम संभालना जीवन का उद्देश्य होता था और उसका सम्पूर्ण ध्यान उसी कार्य की ओर सीमित रहता था। इस जाति विभाग से हिन्दुओं में अपनी-अपनी जातियों के लिए जो आत्माभिमान का भाव आगया था उसकी बदौलत हिन्दू उपजातियों को इस्लाम के आक्रमणों से बचे रहने में बड़ी सहायता मिली। इस देश पर मुसल्मानी आक्रमणों का एक प्रभाव यह भी हुआ कि यहाँ पर वर्ण-व्यवस्था का बन्धन और भी अधिक कठोर हो गया।

जाति विभाग से हानियाँ—वर्ण-व्यवस्था से हिन्दू धर्म को जहाँ कुछ बड़े-बड़े लाभ पहुँचे, वहाँ हानियां भी कम नहीं हुईं। जाति-विभाग ने हिन्दुओं को हजारों हिस्सों में बाँट दिया। क्रमशः

एक हिस्सा दूसरे हिस्से को अपने से छोटा समझने लगा और इस का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज बहुत ही असंगठित और अस्तव्यस्त-सा हो गया। धीरे-धीरे नौबत यहाँ तक आ पहुँची कि विभिन्न उपजातियों को एक ही समाज में मिलाने की बजाय यह जाति-विभाग हिन्दुओं को फाड़ने का काम करने लगा। इससे दूसरी हानि यह हुई कि व्यक्ति को स्वाधीनता का पूर्ण ह्रास हो गया। वर्तमान प्रजातन्त्रवाद मनुष्य समाज के मस्तिष्क को एक ही समता पर लाने का कार्य कर रहा है। इसके प्रतिकूल वर्ण-विभाग नीचे कुल में उत्पन्न प्रतिभाशाली व्यक्तियों और ऊंचे कुल मे उत्पन्न अयोग्य पुरुषों की यथोचित व्यवस्था नहीं करता। आजकल जब वर्तमान हिन्दू समाज अपने को ज़माने की आवश्यकताओं के अनुसार नए सांचे में ढालना चाहता है, यह प्राचीन अपरिवर्तनीय वर्ण-विभाग इस काम में बड़ा बाधक सिद्ध हो रहा है।

मौजूदा जाति-विभाग ने हिन्दू समाज के एक बड़े भाग को अछूत और पतित बना रक्खा है; इन लोगों को यह जाति-विभाग उन्नति करने का कोई भी अवसर नहीं देता। सामाजिक सुधार और बौद्धिक उन्नति के मार्ग में, यह अपरिवर्तनशील जाति-विभाग बड़ी बाधा डाल रहा है। यह हिन्दुओं को अहिन्दुओं से तो बहुत दूर करता ही है, साथ ही एक हिन्दू उपजाति को दूसरी हिन्दू उपजाति से भी बहुत दूर कर देता है। वर्तमान विचारक इसकी तीव्र आलोचना करते हैं। एक प्रसिद्ध विद्वान के शब्दों में 'सम्पूर्ण मानवीय संस्थाओं में हिन्दुओं का यह जाति-विभाग सब से अधिक बाधा और हानि पहुँचाने वाला है।'

स्त्रियों की स्थिति

वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति काफ़ी उन्नत थी। उस युग के विचारों का निर्माण करने में स्त्रियों का भी पर्याप्त भाग था। विदेह के राजा जनक के दरबार में जो दार्शनिक वादविवाद होते थे, उनमें उस युग की प्रसिद्ध विदुषी गार्गी ने विशेष ख्याति प्राप्त की थी। याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के सम्भाषण से ज्ञात होता है कि वैदिक युग की स्त्रियाँ भी आध्यात्मिक चर्चा में पर्याप्त भाग लेती थीं।

ऋग्वेद के समय की अपेक्षा इस युग में विवाह के बन्धन अधिक कड़े हो गए थे, परन्तु आचार और संयम के आदर्शों में उतनी दृढ़ता नहीं रही थी। आचार के सम्बन्ध में काफी शिथिलता आगई थी। महाभारत के युग में बहुत से ऋषि इस तरह के थे, जिनका जन्म इस तरह की आचार की अवैध शिथिलता से हुआ था। ऋषि पराशर और महासैनिक कर्ण का नाम उदाहरण के लिए दिया जा सकता है। महाभारत में एक स्थान पर युधिष्ठिर ने कहा है—'जातियों में जो अव्यवस्था हो गई है, उसकी बदौलत जन्म का निश्चय कर सकना बहुत कठिन हो गया है।'

नियोग—इस युग में नियोग की प्रथा मौजूद होने के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। किसी वंश को समाप्ति से बचाने के उद्देश्य से ही नियोग किया जाता था। महाभारत में नियोग के कई उदाहरण मिलते हैं।

बहु विवाह—वैदिक युग की अपेक्षा इस युग में बहु विवाह

भी बहुत अधिक होने लगा था। मनु की १० पत्नियां थी। राजा लोग बहुधा ४ विवाह किया करते थे। परन्तु एक-पत्नीत्व को ही आदर्श समझा जाता था।

स्त्रियों का सन्मान—क्रमशः स्त्रियों का सन्मान कम होता चला जा रहा था। इस तथ्य का कारण यह प्रतीत होता है कि अनार्य जाति की बहुत सी स्त्रियों के विवाह आर्य पुरुषों से हो जाते थे और उनकी बदौलत स्त्री मात्र की प्रतिष्ठा कम होती जाती थी।

इस समय भी पत्नी को पति के जीवन का संगी और हिस्सेदार माना जाता था। उसे अब भी 'अर्धाङ्गिनी' जैसा प्रतिष्ठा पूर्ण सन्मान का विशेषण दिया जाता था। परन्तु इस युगमें स्त्रियों को अवज्ञा की दृष्टि से भी देखा जाने लगा था। उन्हें 'निरृंति' भी कहा गया है जिसका अर्थ यह है 'बुराई का अवतार'। मैत्रेयी संहिता में लिखा है कि स्त्रियों को सामाजिक जीवन में भाग लेने का अधिकार नहीं है। एक जगह स्त्री को यज्ञ का निकृष्ट भाग भी कहा गया है। स्त्रियों को जायदाद मिलने का अधिकार इस युग में नहीं था। इस सब का यह अभिप्राय नहीं कि इस काल में स्त्रियों की वह दुरवस्था थी, जो बाद में आकर हो गई। अब भी स्त्रियां यज्ञों और दार्शनिक चर्चा में भाग लेती थीं। पुरुष और स्त्री दोनों के सम्बन्ध में आचरण का प्रायः एक जैसा विधान ही लागू होता था।

बहुपति विवाह—वास्तव में बहुपति विवाह की प्रथा आर्यों में नहीं थी। भारत की कुछ मूल-जातियों में ही इसका रिवाज था। जब वे जातियां आर्यों के सामाजिक जीवन में सम्मिलित हो गई, तब भी उनमें बहुपति विवाह की प्रथा जारी रही। पाँचों

पाण्डव द्रौपदी के पति थे, यह बात द्योतक है कि महाभारत के समय भी इस प्रथा का नाश नहीं हुआ था। पहाड़ी पाण्डव जाति में शुरू ही से यह रिवाज जारी था।

बाल विवाह उस युग में बिलकुल नहीं होता था। सीता, देवयानी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा आदि सब सुप्रसिद्ध नारियों का विवाह बड़ी उम्र में हुआ था। उस युग के योद्धाओं और क्षत्रियों में स्वयंवर विवाह तथा गांधर्व विवाह (पारस्परिक आकर्षण से विवाह) का भी खुला रिवाज था।

विधवा विवाह—विधवाओं को पुनर्विवाह करने की स्वाधीनता थी। ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है—'एक स्त्री के एक समय में एक से अधिक पति नहीं हो सकते।' सम्पूर्ण टीकाकारों की राय में इसका यही भाव है कि पति की मृत्यु के बाद पत्नी नया विवाह कर सकती है। तैतिरीय संहिता में लिखा है—'एक समय में एक स्त्री के दो पति होना उचित नहीं है।' तथापि वैदिक साहित्य में विधवा विवाह का कोई उदाहरण ढूँढ़ सकना आसान नहीं है। विधवा का विवाह प्राय: उसके देवर (पति का भाई) से कर दिया जाता था। गाथा साहित्य से विधवा विवाह के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—नहुष इन्द्र की रानी से विवाह करना चाहता था। जयद्रथ द्रौपदी से विवाह करना चाहता था। त्रिशंकु ने विदर्भराज की हत्या करके उसकी पत्नी से स्वयं विवाह कर लिया

और उससे उसका एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ । जब राजा नल का कुछ पता न चला तो उसकी पत्नी दमयन्ती के पिता ने अपनी पुत्री के द्वितीय स्वयंवर की घोषणा कर दी । इस पर राजा ऋतुपर्ण दमयन्ती से विवाह करने के लिए उतावला हो गया, परन्तु नल के आ जाने से यह स्वयंवर रुक गया। शान्तनु की मृत्यु के बाद उसकी विधवा रानी सत्यवती से एक और राजा विवाह करना चाहता था परन्तु यह विवाह भी हो नहीं सका।

मनुष्य जीवन के चार भाग

भारतीय आर्यों के जीवन का आदर्श वर्णाश्रम व्यवस्था थी। वर्ण का सम्बन्ध उनके सामाजिक जीवन से था और आश्रम का उनके व्यक्तिगत जीवन से । मनुष्य के जीवन का उद्देश्य विभिन्न स्थितियों में से होकर अनन्त जीवन की यात्रा करना था। मनु ने इस उद्देश्य का विस्तार से वर्णन किया है ।

विद्यार्थी जीवन—पहला आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। इसमें शरीर और बुद्धि का विकास करना होता है । जवानी की कच्ची मिट्टी से कठोर कर्तव्यपूर्ण जीवन तैयार किया जाता है। ब्रह्मचारी अपने गुरु के आश्रम (गुरुकुल) में रह कर कठोर जीवन व्यतीत करता है। उसे विद्या तथा शिल्पों की शिक्षा दी जाती है। यह शिक्षा उसे भावी जीवन के योग्य बनाएगी। यह कठोर जीवन २५ वर्षों के लिए है। ब्राह्मणों का ब्रह्मचर्याश्रम ३६ अथवा ४८ वर्ष का भी हो सकता है। स्त्रियां भी ब्रह्मचर्य धारण करती थीं। परन्तु बाद में उनके वेदाध्ययन पर बाधाएँ लगा दीगईं यह बात सम्भवतः उसी समय हुई जब अनार्य जातियों की बहुत सी

स्त्रियाँ आर्य घरों में पहुँच गई थीं। ब्रह्मचर्यावस्था में सम्पूर्ण विद्यार्थियों को चाहे वे कितने ही अमीर या कितने ही ग़रीब क्यों न हों, गुरुकुलों में एक समान जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

पारिवारिक जीवन—जीवन की दूसरी मञ्जिल गृहस्थ की मञ्जिल है। आर्य लोग इस आश्रम को बड़ी महत्ता देते थे। यह प्रयत्न किया जाता था कि सब युवक विवाह कर लें। परन्तु कुछ युवक स्वेच्छापूर्वक आजन्म अविवाहित रह कर अध्यात्म विद्या का अभ्यास भी करते थे। अनेक स्त्रियाँ भी आजन्म कुमारी रहती थीं। उपनिषदों में कुमारी गार्गी, रामायण में कुमारी शबरी और महाभारत में कुमारी सुलभा का वर्णन उपलब्ध होता है।

विवाह—आर्य साहित्य के अनुसार विवाह एक बड़ा पवित्र कार्य है। देवगण भी प्रायः विवाहित हैं। शिव 'अर्धनारीश्वर' अर्थात् आधा पुरुष और आधा स्त्री है। सम्भोग को आर्य सभ्यता में बुरा नहीं माना जाता। आर्य आदर्श के अनुसार विवाह मनुष्यों की कमज़ोरी छिपाने के लिये नहीं, अपितु दो व्यक्तियों में आचार और बुद्धि की घनिष्टता स्थापित कर उन्हें आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाने के लिये किया जाता है। जो विवाह से घबराता है, वह डर कर लड़ाई से भागे हुए सैनिक के समान है। सामाजिक दृष्टि से विवाह को वंश परम्परा का ऐसा साधन माना जाता था, जिससे मृत पूर्वपुरुषों के साथ भी सम्बन्ध बना रहता है। मृत पूर्वजों के तर्पण के लिये प्रति वर्ष हिन्दू लोग श्राद्ध संस्कार भी करने लगे। वैदिक युग की यह एक प्रचलित प्रार्थना थी कि 'हमें वीर पुत्र मिलें।' स्त्रियों को भी यही आशीर्वाद दिया जाता था कि वे 'वीर-प्रसवा' (वीर पुत्र उत्पन्न

करने वाली) हों। पति पत्नी दोनों एक ही उद्देश्य से काम करते थे और पारिवारिक जीवन के लिए अपना-अपना व्यक्तित्व भुला देते थे। पत्नी को पति के सम्पूर्ण कार्यों में उसका साझीदार समझा जाता था। वह सहधर्मिणी कहाती थी। एकपत्नीव्रत को आदर्श माना जाता था। हिन्दू संस्कृति राम और सीता तथा सावित्री और सत्यवान के पारस्परिक सम्बन्धों को पारिवारिक जीवन का आदर्श मानती है।

विवाह के प्रकार—परन्तु अन्य बातों के समान विवाह के सम्बन्ध में भी हिन्दू समाज में अवनत ढंग की प्राचीन प्रथाओं को बरदाश्त किया जाता था। स्मृति ग्रन्थों में आठ प्रकार के विवाहों का ज़िक्र है। इन में गांधर्व, राक्षस, असुर और पिशाच विवाह भी होते थे। इन चारों का अभिप्राय क्रमशः यह है, दोनों पक्षों में प्रेम होने के कारण, शक्ति के बल पर कन्या का अपहरण, कन्या को धन से खरीदना और अधम उपायों से कन्या को ज़बरदस्ती ले जाना। प्रतीत होता है कि उस समय का समाज इन विवाहों को भी बरदाश्त करता था। ये विवाह सम्भवतः इस लिए वैध स्वीकार किये जाते थे, क्योंकि इसके बिना अपहृत कन्या की सन्तान को और अधिक कष्ट भोगने पड़ते। क्षत्रियोंमें गान्धर्व विवाह विशेष तौर से प्रचलित था। राजघरानों ने इसे स्वयंवर का रूप दे दिया था। पुत्र उत्पन्न न होने की दशा में वंश परम्परा बनाए रखने के लिए एक पत्नी की मौजूदगी में दूसरा विवाह कर लेना भी तब बुरा नहीं माना जाता था। बाद में विधवा विवाह अवैध क़रार दे दिया गया। तलाक़ की भावना का तब तक जन्म नहीं हुआ था। एक बार विवाह हो जाने पर वह आजीवन नहीं

टूट सकता था । पुरुष 'यज्ञ प्राधान्य' समझा जाता था और पत्नी 'तपः प्राधान्य'; अर्थात् पति का कार्य सांसारिक कामकाज देखना था और पत्नी का कार्य परिवार के लिए कष्ट उठाना ।

विश्राम का जीवन—मनुष्य जीवन की तीसरी सीढ़ी वानप्रस्थ है । इस समय घर की सम्पूर्ण चिन्ताएँ और ज़िम्मेदारियों से छुटकारा कर लिया जाता है । मनुस्मृति के अनुसार किसी गृहस्थ को वानप्रस्थ तब लेना चाहिए, जब उसके बाल सफ़ेद हो जायँ, उसकी त्वचा में झुरियाँ पड़ जायँ और वह किसी बच्चे का दादा बन जाय। इस अवस्था में शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है, अतः मनुष्य को एकान्त में जाकर आध्यात्मिक उन्नति करनी चाहिए । जंगल में रहते हुए वानप्रस्थी जीवन की गम्भीर समस्याओं पर विचार करता है और शान्ति का जीवन बसर करता है । पत्नी इस दशा में भी पति के साथ जा सकती है । आर्य आश्रम मर्यादा में यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य को एक अवस्था में घर-बार के बन्धनों से छुटकारा दे देना चाहिए और तब उस मनुष्य को आध्यात्मिक जीवन का आनन्द लेना चाहिए । दूसरे शब्दों में मनुष्य को जीवन भर के लिए समाज का दास नहीं समझना चाहिए।

सर्वत्याग का जीवन—मनुष्य जीवन की चौथी दशा संन्यास आश्रम है । जीवन की अन्तिम मंज़िल अकेले ही पार करनी चाहिए । संन्यासी पूर्ण आध्यात्मिक स्वाधीनता और समता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । उसके लिए कोई व्यक्तिगत स्वार्थ या सम्बन्ध शेष नहीं रह जाता। वह अकेला एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता है । स्वयं सामाजिक उत्पत्ति के कार्य में वह स्वयं कोई

भाग नहीं लेता, फिर भी वह समाज के लिए निरर्थक नहीं होता। उसके लिए राजा, प्रजा सब एक समान हैं। संन्यासी से कोई बड़ा नहीं है। वह गृहस्थियों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखता, अपितु जहाँ तक बन पड़ता है, उन्हें सन्मार्ग का दर्शन कराता है।

साहित्य

बाद का वैदिक साहित्य—वैदिक युग के उत्तरार्ध में जो साहित्य तैयार हुआ, उसमें मुख्य-मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—सब वेदों के प्रातिशाख्य, पिंगल का छन्दसूत्र, भारतीय रेखा-गणित के प्राचीनतम ग्रन्थ ज्योतिष वेदांग, शल्व-सूत्र, मानव, बौद्धायन, आपस्तम्ब आदि धर्मसूत्र ग्रन्थ, कात्यायन आदि की अनुक्रमणिकाएँ जिन से वैदिक ऋचाओं की सुरक्षा और उन का समन्वय जोड़ने में बड़ी सहायता मिलती है, वैदिक देवताओं का परिचय देने वाला ग्रन्थ 'बृहद्देवता',यास्क का निरुक्त और पाणिनी की अष्टाध्यायी।

यास्क का निरुक्त—वेदों का अभिप्राय समझने में यास्क के निरुक्त से बड़ी सहायता मिलती है। निघण्टु में किसी विद्वान ने वेद के कठिन शब्दों का संग्रह किया था। यास्काचार्य ने निरुक्त में उन शब्दों का अर्थ, सप्रमाण और साधार दिया है। वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति बताने में यास्क का निरुक्त सब से अधिक प्रामाणिक सिद्ध हुआ है। आचार्य यास्क ने अपने अर्थों की पुष्टि में सैकड़ों ऋचाएँ भी दी हैं। मध्य युग के वेदभाष्यकार सायण ने अपने वेदभाष्य में निरुक्त से बड़ी सहायता ली। वर्तमान वैदिक विद्वानों के लिए भी यास्क का निरुक्त बहुत उपयोगी और प्रामा-

णिक सिद्ध हुआ है । यास्क ने अपने ग्रन्थ में भाषा विज्ञान के अनेक वैदिक स्कूलों का नाम भी दिया है। इन में एक मत ऐतिहासिक-सम्प्रदाय के रूप में भी है। शीघ्र ही यास्क के निरुक्त ने इतनी ख्याति प्राप्त कर ली कि लोग इस विषय की अन्य सम्पूर्ण प्राचीन पुस्तकों को भूल गए।

पाणिनी—संस्कृत व्याकरण का सब से अधिक प्रामाणिक सूत्र ग्रन्थ पाणिनी की अष्टाध्यायी है। निरुक्त के समान अष्टाध्यायी ने भी अपने से पूर्व के सभी व्याकरण ग्रन्थों को ओझल में कर दिया। संस्कृत व्याकरण के सम्बन्ध में पाणिनी की अष्टाध्यायी से बढ़ कर प्रामाणिक ग्रन्थ दूसरा नहीं है। छोटे-छोटे सूत्रों में संस्कृत का गुथीला और विस्तृत व्याकरण इतने वैज्ञानिक ढङ्ग से बांध दिया गया है कि उसे जो भी पढ़ता है, वह चकित हुए बिना नहीं रह सकता। यह इतना श्रेष्ठ ग्रन्थ है कि इस ढंग का अन्य कोई ग्रन्थ इस से श्रेष्ठ तो क्या, इस कोटि का भी नहीं है। कुछ दृष्टियों से इसे आदर्श ग्रन्थ कहा जा सकता है।

पिछले २५०० वर्षों में पाणिनी की अष्टाध्यायी से सम्बद्ध बहुत-से साहित्य का निर्माण हुआ है। इनमें से मुख्य-मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—कात्यायन की वृत्तिकाएँ, पातञ्जलि का महाभाष्य, भर्तृहरि का वाक्यदीय, काशिका और भट्टोजी दीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी।

गाथा ग्रन्थ—वैदिक युग के उत्तरार्ध को गाथा युग भी कहा जाता है। रामायण और महाभारत के कारण ही इस युग को यह नाम दिया गया है। इस युग में संस्कृत भाषा अपने विकास की पूर्णता को पहुंच गई। संस्कृत में बहुत ही उच्चकोटि का काव्य-

साहित्य लिखा गया। बाल्मीकि की रामायण और व्यास का महाभारत इस युग की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। इन दोनों ग्रन्थों की कथाएँ इतनी सुप्रसिद्ध हैं कि उन्हें यहाँ देना अनावश्यक है। हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में इन दोनों ग्रन्थों का अभी तक बड़ा भारी सम्मान है। ये गाथाएँ प्राचीन भाट और चारण कण्ठस्थ कर लिया करते थे और उनके मुँह से छोटे-बड़े सभी लोग इन मंगल कथाओं को मन्त्रमुग्ध हो कर सुना करते थे। पिछले दो हज़ार वर्षों में भारतीय जनता को सदाचार की शिक्षा देने के कार्य में रामायण और महाभारत से कल्पनातीत सहायता मिली है। उनमें प्राचीन भारतीय समाज का जो जीवित चित्र खींचा गया है, वह ऐतिहासिकों के लिए बहुमूल्य है।

ये गाथाग्रन्थ किसी एक युग के नहीं हैं। इनमें समय-समय पर हेर-फेर तथा वृद्धि भी होती रही। क्रमशः उनका आकार बढ़ता चला गया। उनका यह वर्तमान रूप सम्भवतः ईसा की पहली सदी में बना होगा। तथापि इसमें सन्देह नहीं कि रामायण और महाभारत की मौलिकताएँ, उनमें अन्त तक अक्षुण्ण बनी रहीं और उनसे आठ सदी ईसापूर्व तक का इतिहास जानने में बहुमूल्य सहायता मिल सकती है। इन्हें क्षत्रिय साहित्य की अन्तिम कृति कहा जा सकता है। यद्यपि बाद में समय-समय पर, ब्राह्मणों ने इन ग्रन्थों में बड़ा परिवर्तन और परिवर्धन किया, तथापि उनके द्वारा तत्कालीन क्षत्रियों की स्वाधीन उन्नत दशा का यथेष्ट परिचय मिलता है।

रामायण—महाकवि बाल्मीकि का रामायण काल्पनिक कविता का सब से पहला महाग्रन्थ है। इसी से इसे 'आदि काव्य' भी

कहा जाता है। इस महाकाव्य की शैली और भाषा दोनों ही आकर्षक तथा सरल हैं। उनमें वह क्लिष्टता ज़रा भी नहीं, जो बाद की संस्कृत कविता में पाई जाती है। रामायण की कविता बहुत ही स्वाभाविक और बहुत उच्च कोटि की है।

रामायण सात कांडों में विभक्त है। अनेक विद्वानों की राय में प्रथम और सप्तम (बाल तथा उत्तर) काण्ड बाद की कृति हैं। इस महाकाव्य की शैली यद्यपि श्रेष्ठ संस्कृत की शैली से मिलती है, तथापि उसमें ऐसे प्रयोग भी बहुतायत से हैं, जिन से रामायण की प्राचीनता स्पष्टरूप से सिद्ध होती है। रामायण से प्राग्बौद्ध कालीन भारत की राजनीतिक और सामाजिक दशा पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। इस काव्य के तीन रूप आजकल प्राप्त होते हैं। इन में से लाहौर से प्रकाशित काश्मीरी अथवा उत्तर-पश्चिमी पाठभेद सम्भवतः मौलिक कृति से बहुत मिलता है।

आर्य सभ्यता का दक्षिण में प्रसार—विन्ध्याचल से परे, दक्षिण में भारतीय आर्यों के प्रवेश का सर्वप्रथम उल्लेख रामायण में ही मिलता है। अगस्त्य आदि आर्य ऋषि दक्षिण में आर्य सेनाओं के प्रथम अग्रदूत सिद्ध हुए। आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा विन्ध्याचल के भी पार, आर्य ऋषियों के अनेक आश्रम दूर-दूर तक व्याप्त थे। मध्य भारत के दुर्भेद्य विशाल जंगल उन दिनों आर्य और अनार्य भारत को एक दूसरे से पृथक् किए हुए थे। सब से पूर्व आर्य ऋषियों ने दक्षिण को आर्य सभ्यता का परिचय दिया और उसके बाद आर्यों ने उसे अपनी सैनिक शक्ति के बल से विजय कर लिया।

रामायण के वर्णन में अनार्य सभ्यता की समुन्नत भौतिक

दशा का वर्णन विशेष ध्यान देने योग्य है। उससे प्रतीत होता है कि अनार्य लोग भी बड़े सम्पन्न तथ शक्तिशाली थे। आर्यों के सद्गुणों का वर्णन मर्यादा पुरुष रामचन्द्र के रूप में किया गया है, जो पिता के प्रति आज्ञाकारी, पत्नी के प्रति सच्चा और भाई के प्रति स्नेह शील था। राजा के रूप में वह शान्ति तथा युद्ध दोनों दशाओं के योग्य बरताव कर सकता था। उस में फूल की-सी कोमलता थी और बिजली का-सा तेज। सत्य तथा कर्तव्य के प्रति उसकी असीम निष्ठा, उसका सत्साहस, उसकी वीरता और ज़िन्दादिली ने उसे आर्यों के लिए आदर्श पुरुष बना दिया। वह विष्णु का अवतार माना जाने लगा और आज भी हिन्दू जनता के हृदय में राम के लिए भक्ति और अगाध श्रद्धा के भाव हैं।

कुछ ऐतिहासिकों का अनुमान है कि रामायण में ऐतिहासिक सत्यता नहीं है। उनमें से कुछ की राय में वह सिर्फ एक कविता-ग्रन्थ है, कुछ की राय में उसका निर्माण प्राचीन वैदिक गाथाओं के आधार पर किया गया और अनेक ऐतिहासिकों के मन्तव्यानुसार वह आर्यों की दक्षिण विजय का वृत्तान्त है। ऐतिहासिक स्मिथ की राय में भी रामायण का निर्माण, कोशल की राजधानी अयोध्या के सम्बन्ध में चली आ रही प्राचीन अनुश्रुतियों के आधार पर, एक काव्य के रूप में किया गया।

महाभारत—इस विशाल महाकाव्य में करीब १००००० श्लोक हैं। यद्यपि व्यास को महाभारत का कर्त्ता स्वीकार किया जाता है, परन्तु वास्तव में यह वर्तमान महाभारत किसी एक व्यक्ति की कृति नहीं है। यह अनेक पीढ़ियों में तैयार हुई। इस

बात के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि महाभारत में परिवर्तन और परिवर्धन होते रहे। सम्भवतः इस महाग्रन्थ का प्रारम्भिक निर्माण, 'जय' नाम से, महाकवि व्यास ने किया था। तब यह ग्रन्थ अपने वर्तमान आकार का क़रीब दसवां भाग ही था। उसके बाद अनेक सम्पादकों ने इसकी वृद्धि की। इनमें से एक का नाम 'सौति' था। ईसवी सन् के प्रारम्भ तक महाभारत के आकार में बड़ी वृद्धि आ चुकी थी। उसमें आर्य साहित्य की अनेक गाथाएँ तथा राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक सम्वाद भी जोड़ दिए गए और इस तरह यह विश्वकोश के रूप का महाग्रन्थ 'महाभारत' बन गया। ऐतिहासिक साक्षियों से यह सिद्ध होता है कि गुप्तकाल के प्रारम्भ तक महाभारत अपने वर्तमान स्वरूप को पहुँच चुका था। स्मृति ग्रन्थों में महाभारत के प्रमाण प्रायः उपलब्ध होते हैं।

महाभारत में कौरव और पांडवों के पारस्परिक संघर्ष का वर्णन है। इन दोनों पक्षों के बीच में एक महायुद्ध हुआ, जिस में भारतवर्ष के प्रायः सभी राजकुल, अपनी सेनाओं सहित सम्मिलित हुए थे। अनुश्रुति के अनुसार यह महायुद्ध ईसा से ३१०२ वर्षपूर्व हुआ। प्रायः सभी ऐतिहासिकों का मत है कि महाभारत का आधार पूर्णरूप से ऐतिहासिक है। अनेक पुरातत्वज्ञों की राय में यह युद्ध १००० वर्ष ईसापूर्व हुआ था।

महाभारत के कथानक से प्रतीत होता है कि वह युग रामायण के युग की अपेक्षा अधिक उन्नत था महाभारत के युग में अनेक बड़े-बड़े राज्य शक्तिसंचय के लिए संघर्ष कर रहे थे। तब युद्धकला और कूटनीति भी अधिक विकसित हो गई थी। अनार्य और आर्यों के पारस्परिक संघर्ष का अन्त हो चुका था। महाभारत

काल के इन अन्तर्जातीय युद्धों का प्रभाव जनता के शान्तिपूर्ण जीवन पर बहुत कम पड़ता था; सिर्फ कुछ शक्तिशाली और समुन्नत कुल ही आपस में संघर्ष किया करते थे। साथ ही प्राचीन आर्यों में यह एक प्रथा थी कि वे विजित राजवंश का समूल नाश न करके उन से केवल अपनी अधीनता स्वीकार करवा लेते थे और उन से कर लेते रहते थे। किसी-किसी जगह राजवंश का नाश कर देना भी युद्ध का उद्देश्य था; मगर ऐसा प्रायः अपवादस्वरूप ही होता था। इस प्रथा का परिणाम यह हुआ कि प्राचीन भारत में राजवंशों की निरन्तरता प्रायः बनी रही। प्राचीन काल से लेकर नन्दवंश तक के लम्बे युग के विभिन्न राजवंशों की सूचियाँ हमें आज भी उपलब्ध होती हैं और इन सूचियों की व्यावधानरहित लम्बी निरन्तरता को देख कर आश्चर्य होता है। चौथी सदी ईसा पूर्व में महापद्म नन्द के दिल में यह महत्वाकांक्षा पैदा हुई कि वह विभिन्न राजवंशों का समूल नाश कर देश भर में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर ले। प्राचीन साहित्य इस बात का साक्षी है कि महापद्मनन्द के इस प्रयत्न का घोर विरोध किया गया। पुराणों में नन्द का ज़िक्र घृणा के साथ किया गया है। उससे प्रतीत होता है कि इस शक्तिशाली राजा ने अनेक बड़े-बड़े राजवंशों का समूल नाश कर दिया। महापद्म नन्द से पूर्व के सम्राट् केवल कर एकत्र करते और अपनी शक्ति को स्वीकार करवाते थे।

गीता—महाभारत में अनेक अन्य अत्यधिक मनोरंजक घटनाओं और श्रेष्ठ कोटि की कविताओं का उल्लेख भी है। इनमें सर्वश्रेष्ठ और सुप्रसिद्ध भगवद्‌गीता है। कहा जाता है कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में कायरता से आविष्ट अर्जुन को उनके सारथी योगिराज

कृष्ण ने जो उपदेश दिया, वह गीता में वर्णित है। गीता भारतीय साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृति समझी जाती है और संसार के श्रेष्ठतम साहित्य में उसका स्थान है। इस देश के करोड़ों हिन्दू तथा हज़ारों विदेशी गीता को बड़ी श्रद्धा के साथ पढ़ते और सुनते हैं। यूरोप की प्रायः सभी भाषाओं में गीता का अनुवाद हो चुका है।

यूरोपियन भाषाओं में गीता का अनुवाद सब से पूर्व हुआ। सन १७८५ में चार्ल्स विल्किन्स ने जब सब से पूर्व गीता का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया था, तब वारन हेस्टिंग्स ने अपने मित्र नैथानिअल स्मिथ को लिखा था—'जब भारतवर्ष में से अंग्रेज़ी राज्य नष्ट हो जायगा, तब भी गीता ज़िन्दा रहेगी। जब इंगलैण्ड को धन और शक्ति देने वाले भारतीय स्रोत सिर्फ याद करने वाली चीज रह जाएँगे, गीता तब भी ज़िन्दा रहेगी।' सन् १८२३ में प्रो० श्लीगल (Schlegel) ने गीता का लेटिन में सटीक अनुवाद किया। इससे सुप्रसिद्ध जर्मन लेखक विल्हम वॉन हम्बोल्ट (Wilhelm von Humboldt) का ध्यान गीता की ओर आकृष्ट हुआ और उसने गीता पर एक लम्बा निबन्ध लिखा; जिसमें हम्बोल्ट ने घोषित किया—'गीता संसार की सब से ऊँची और सब से अधिक गम्भीर कृति है।' गीता को पहली बार समाप्त करते ही हम्बोल्ट ने अपने एक मित्र को लिखा—'परमात्मा का हज़ार बार धन्यवाद है, जिसने मुझे गीता का स्वाध्याय करने के लिए अब तक ज़िन्दा रक्खा!'

गीता के भक्तिवाद का ईसाई आदर्शों से इतना साम्य है कि

अनेक विद्वानों की राय में ईसाइयत पर गीता का गहरा प्रभाव पड़ा है। भक्तिवाद पाणिनी के युग में भी था। ईसा के जन्म से बहुत पूर्व ग्रीक लोग भी इसी भक्तिवाद की ओर आकृष्ट हो रहे थे। इससे कम से कम इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि संसार के दो विभिन्न और सुदूर भागों में, असामान्य समता लिए हुए, एक ही ढंग की विचार-धारा का पृथक्-पृथक विकास हो रहा था। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि एक विचार धारा का दूसरी धारा पर अवश्य प्रभाव पड़ा, तब तो यही मानना होगा कि गीता के विचारों का ईसाइयत पर प्रभाव पड़ा।

भागवत धर्म—गीता का भक्तिवाद क्रमशः भागवत धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया और उस युग में वासुदेव कृष्ण से सम्बन्धित बहुत-सा साहित्य और शिल्प की कृतियाँ तैयार कीगईं। मध्ययुग में चैतन्य आदि धार्मिक नेताओं ने इस भागवत धर्म को और भी अधिक परिपुष्ट किया।

गीता और महायान – गीता के भक्तिवाद का बौद्धधर्म के विकास पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव से बौद्ध धर्म में 'महायान' का आविर्भाव हुआ।

राजा नल—महाभारत में से राजा नल और दमयन्ती की प्रभावोत्पादक कथा भी संसार भर में सुप्रसिद्ध है। सब से पूर्व सन् १८१९ में फ्राँज़ वाप ने नल दमयन्ती की कथा का पद्य में अनुवाद किया था। तब से यह कहानी संसार के कविता साहित्य का एक अमूल्य हीरा समझी जाती है। इसी कहानी से प्रभावित होकर यूरोप और अमेरिका के बहुत से प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान संस्कृत साहित्य की ओर आकृष्ट हुए।

मनु का धर्मशास्त्र—मानव धर्मशास्त्र भी एक बहुत महत्व-पूर्ण साहित्यिक कृति है। यद्यपि उसका वर्तमान रूप लगभग २०० वर्ष ईसापूर्व से लेकर २०० ईसवी के बीच में बना स्वीकार किया जाता है, तथापि उसका मौलिक आधार निस्सन्देह बहुत प्राचीन है। मानव धर्मशास्त्र में कुल मिला कर २७०० श्लोक हैं। इनकी रचना बहुत उत्कृष्ट है। यह स्मृति भारतीय कानून की सर्वप्रथम पुस्तक समझी जाती है। मानव सम्प्रदाय के धर्मसूत्रों के आधार पर इस धर्मशास्त्र का निर्माण किया गया है। हिन्दू धर्म में, जब जाति-विभाग गहरी जड़ें जमा चुका था, उस युग का सही-सही चित्र मनुस्मृति के आधार पर खींचा जा सकता है। वर्तमान अदालतों में भी मनुस्मृति को हिन्दू कानून का आधार स्वीकार किया जाता है।

दर्शन—अन्य दार्शनिकों की तरह भारतीय दार्शनिकों के गम्भीर प्रयत्नों ने भी यही सिद्ध किया है कि मनुष्य का मस्तिष्क विश्व के रहस्यपूर्ण परम तत्व को पूर्णता से समझ ही नहीं सकता। बड़े से बड़े विचारक इसे 'रहस्य' ही मानते हैं। उपनिषदों के महान दार्शनिकों से पूछा गया—'हमें ब्रह्म की परिभाषा बतलाइए।' वे चुप रहे। प्रश्न पुनः और भी अधिक आग्रह के साथ दोहराया गया। इस पर उपनिषदों के महान विचारकों ने बड़ी गम्भीरता के साथ कहा "शान्तोयं आत्मा!" अर्थात्—चुप्पी में ही वास्तविकता है। उन्होंने कहा—"न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाक् न मनो, न विद्मो न विजानीमो!" अर्थात्—न वहां आंख जाती है, न वाणी से उसे व्यक्त किया जा सकता है, न वहां मन ही पहुँच पाता है; हमें उसके सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात ही नहीं है, न हम

उस परमतत्व को समझ ही सकते हैं; इस दशा में उसका वर्णन हो ही कैसे सकता है ! ऋषि याज्ञवल्क्य बोले—"नेति ! नेति !!"—वह यह भी नहीं है ! वह इतना ही नहीं है !! याज्ञवल्क्य के इस नेति सिद्धान्त में बर्नार्ड का नेशो (nescio) सिद्धान्त, रेसब्रौक्की उस प्रगाढ़ निस्तब्धता की वह कल्पना, जिसमें पहुँच कर सम्पूर्ण प्रेमी अपनी सत्ता खो बैठते हैं और डयोनीसिस का प्रतिकूल सीमा वर्णन (Negative description) ये सभी समाविष्ट हो गये हैं।

इसी युग के अन्त में उपनिषदों के विचारों का ६ विभिन्न दर्शनों के रूप में विकास हो गया। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को आधार बना करके अनादि जीवन परम्परा की कल्पना भी स्वीकार करली गई।

(१) इन छः दार्शनिक साम्प्रदायोंमें कपिल का सांख्यमत प्रकृतिको अनादि मानता है; यह प्रकृति परम पुरुष साक्षिचेता परमेश्वर (पुरुष) के अधीन नहीं है। बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक दार्शनिक साहित्य पर इस सांख्य फिलौसफी का गहरा प्रभाव पड़ा। (२) पातञ्जलि मुनि ने इसी सांख्य मत के आधार पर योग मत की स्थापना की। योग दर्शन के अनुसार मन को परमात्मा की ओर केन्द्रित करने की साधना द्वारा परम पुरुषार्थ की उपलब्धि हो सकती है। (३) गौतम का न्याय दर्शन मुख्यतया एक तर्कशास्त्र है। बाद में हिन्दू और बौद्ध तर्कशास्त्र का एक ही साथ पृथक-पृथक ढङ्ग पर विकास होता रहा। (४) कणाद के वैशेपिक दर्शन के अनुसार इस संसार के सभी भौतिक पदार्थ कुछ स्थिर तत्वों से ही बने हैं। (५) जैमिनी के पूर्वमीमांसा के अनुयायी मोक्ष के लिए वैदिक कर्मकाण्ड के पालन

पर ही बल देते हैं। (६) व्यास की उत्तरमीमांसा वेदान्त नाम से पुकारी जाती है। यह वेदान्त मत उपनिषदों पर आश्रित है। वेदान्त मत के अनुसार यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही से बना है और कभी पुनः ब्रह्म में ही विलीन हो जायगा। उपनिषदों में जिन सिद्धान्तों और तत्वों का वर्णन केवल आत्म दर्शन और आत्मिक अनुभूति के आधार पर ही किया गया था, उन्हीं तत्वों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन वेदान्त शास्त्र में तर्क के आधार पर किया गया।

वेदान्त में तीन प्रस्थान सम्मिलित किए जाते हैं— उपनिषद्, व्यास का ब्रह्म सूत्र और भगवद्गीता। मोटे तौर से इन तीनों को श्रद्धा, ज्ञान और कर्म का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। गीता को योगशास्त्र भी कहा जाता है और गीता के शब्दों में 'कर्म में कुशलता का नाम योग है।' वेदान्त सदैव बहुत प्रतिष्ठित और सर्वप्रिय बन कर रहा है। कालान्तर में शंकराचार्य की विद्वत्ता ने वेदान्त को भारतवर्ष की सबसे बड़ी और लोकप्रिय फिलासफ़ी बना दिया।

एक प्राचीन कहावत है—'जब वेदान्त प्रकट होता है, तब अन्य शास्त्र चुप होकर बैठ जाते हैं; जिस तरह जंगल में शेर के आने पर लोमड़ियाँ दुबक जाती हैं।'

लेखन-कला

सबसे पूर्व मैक्समूलर ने यह स्थापना उपस्थित की कि प्राचीन आर्य लिखना नहीं जानते थे। उसने कहा कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में लिखने का नाम कहीं भी नहीं आया। इसी आधार पर यह माना जाने लगा कि भारतीय आर्यों ने अशोक के युग में आकर लेखन कला सीखी। उससे पूर्व स्मरणशक्ति के आधार

पर ही सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की रक्षा की जाती थी। रौथ आदि अनेक पुरातत्वज्ञों का विचार था कि स्मरणशक्ति और प्रातिशाख्यों के आधार पर सम्पूर्ण वैदिक साहित्य की रक्षा करना मनुष्य की शक्ति से बाहर की बात है, अतः उस युग में लेखनकला अवश्य होगी।

ब्राह्मी और खरोष्ठ—प्राचीन भारत में दो लिपियाँ प्रचलित थीं—ब्रह्मी और खरोष्ठी। ब्राह्मी लिपि बाईं से दाहिनी ओर लिखी जाती है। यह भारतवर्ष की जातीय लिपि है। प्राचीन काल से आज तक ब्राह्मी वंशज लिपियां ही भारत की लिपियां बनी रही हैं। वर्तमान देवनागरी भी ब्राह्मी लिपि से ही निकली है। खरोष्टी लिपि दाहिनी से बाई ओर लिखी जाती थी। यह लिपि केवल उत्तर-पश्चिमी भारत में, करीब ९०० वर्षों तक (५०० ईसा पूर्व से ४०० ई० पू०) तक प्रचलित रही। इसमें सन्देह नहीं कि पांचवीं सदी ईसा पूर्व में फारस के सरकारी अफसरों के अधीनस्थ भारतीय कर्मचारियों द्वारा इस लिपि का जन्म हुआ। इस का निर्माण फारस की आर्मेक (Aramaic) लिपि के आधार पर हुआ था।

बुहलर की खोज—इस विषय के सम्बन्ध में प्रो० बुहलर (Buhler) ने गम्भीर अध्ययन और अन्वेषण करके एक पुस्तक लिखी।* प्राचीन भारतीय साहित्य का गहरा अनुशीलन कर वह इस परिणाम पर पहुँचा कि महात्मा बुद्ध के समय भारत में लेख कला प्रचलित थी, और यदि अधिक नहीं तो कम से कम करीब ९०० वर्ष ईसापूर्व तक तो अवश्य ही लिपि की

* Origin of the Brahmi Alphabet.

मौजूदगी के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इस मत की स्थापना उस ने प्राचीन युग के अवशेषों के आधार पर भी की। अशोक के शिलालेखों में 'अ' वर्ण के अनेक रूपान्तर प्राप्त होते हैं। दक्षिण और उत्तर के शिलालेखों में इस वर्ण के आठ भेद पाए जाते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अशोक से बहुत समय पूर्व लिपि का विकास हो चुका था।

बुहलर की कल्पना के अनुसार ब्राह्मी लिपि का प्रादुर्भाव प्राचीन उत्तरीय सैमेटिक लिपि से हुआ है। बुहलर का कथन है कि सम्भवत: यह लिपि विदेशी व्यापारियों द्वारा इस देश में आई हो और तत्कालीन ब्राह्मणों ने परिवर्तन और संशोधन करके इसे अपने देश की लिपि बना लिया हो। प्राचीन सैमेटिक लिपि दाहिनो से बाईं ओर लिखी जाती थी, परन्तु यह ब्राह्मी लिपि बाईं से दाहिनी ओर लिखी जाने लगी।

अपनी इस कल्पना को सिद्ध करने के लिये बुहलर ने सैमेटिक लिपि और ब्राह्मी लिपि के अक्षरों में समता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पिछली पीढ़ी के भारतीय ऐतिहासिक बुहलर की कल्पना को निर्भ्रान्त स्वीकार करते रहे हैं, परन्तु कुछ दिनों से ऐतिहासिकों में इस कल्पना के प्रतिकूल प्रतिक्रिया होने लगी है। हमें इस गुथीली कल्पना के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है; उसके सम्बन्ध में कुछ बातों का निर्देश करना ही पर्याप्त होगा। जिन समता-दर्शक सिद्धान्तों के आधार पर बुहलर ने अपनी कल्पना को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, वे सिद्धान्त इतने विस्तृत हैं कि अनेक भाषाविज्ञों के अनुसार, उन सिद्धान्तों के आधार पर किसी एक लिपि को किसी भी अन्य लिपि से

निकला सिद्ध किया जा सकता है। ब्राह्मी लिपि ने अपनी दिशा क्यों बदल ली, इस सम्बन्ध में बुहलरने जो कुछ भी लिखा है, वह बहुत कमज़ोर युक्ति-शृङ्खला के समान प्रतीत होता है। वास्तव में इस दिशापरिवर्तन का कोई भी कारण प्रतीत नहीं होता। यही बात थी तो खरोष्ठी लिपि की दिशा क्यों नहीं बदल दी गई। इस युक्ति से तो दूसरा ही पक्ष पुष्ट होता है। यह एक ज्ञात तथ्य है कि अरब लोगों ने दशमलव (Decimal) का अर्थ-गणित सम्बन्धी सिद्धान्त भारतीयों से सीखा। इसका प्रभाव यह हुआ कि यद्यपि अरबी लिपि दाहिनी से बाईं ओर लिखी जाती थी, तथापि उसमें अङ्क बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखे जाने लगे। एक बात और भी। जब बुहलर ने अपनी कल्पना की स्थापना की थी, तब से लेकर आज तक लिपि-विज्ञान ने बड़ी उन्नति कर ली है। बुहलर के समय यह स्वीकार किया जाता था कि मिश्र की चित्रलिपि संसार की सब से पहली लिपि है। परन्तु अब फ्लिण्डर्स पेट्री * ने यह सिद्ध कर दिया है कि मिश्र की यह चित्रलिपि संसार की सब से प्राचीन लिपि नहीं। सब से प्राचीन लिपि बहुत सुगम होगी और वह चिन्हलिपि ही हो सकती है। चिन्हों को समझना चित्र को समझने की अपेक्षा निस्सन्देह अधिक कठिन है, परन्तु चित्र बनाने की अपेक्षा चिन्ह बनाना बहुत आसान भी है। चित्रलिपि के लिये अपेक्षाकृत अधिक विकसित मस्तिष्क की आवश्यकता है। बुहलर के समय यह स्वीकार किया जाता था कि प्राचीन ग्रीक लोग भी शुरू-शुरू में दाहिनी से बाईं ओर को लिखा करते थे; परन्तु उसके बाद जो

*Origin of Alphabet, by Flinders Petrie.

प्राचीन ग्रीक लेख उपलब्ध हुए हैं, उनसे ज्ञात हो गया कि प्राचीन ग्रीक लिपि की दिशा अनिश्चित थी। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि बुहलर के बाद से लेकर आज तक प्राचीन ब्राह्मी और प्राचीन सैमेटिक लिपियों के बहुत से नए लेख उपलब्ध हो गए हैं। उनके आधार पर इस सम्बन्ध में पुनः अन्वेषण करने की आवश्यकता है। यह सामग्री हमें सत्य की ओर ले जाने में बड़ी सहायता देगी।

छठा अध्याय

नवीन धार्मिक आन्दोलन

बौद्ध धर्म और जैन धर्म

विधि-विधानों के खिलाफ़ प्रतिक्रिया—हम देख चुके हैं कि ब्राह्मणों के याज्ञिक विधि-विधान क्रमशः बहुत गुथीले और मँहगे बनते चले जा रहे थे। वे एक कला के रूप में परिवर्तित हो गए थे। बलि की दैवीय शक्ति में जनता को अगाध विश्वास था, उस से ब्राह्मण अपना मतलब साध रहे थे। अभिषेक और अश्वमेध यज्ञ आदि सामाजिक विधान इतने खर्चीले थे कि उन्हें पूरा करने में राष्ट्र की सम्पूर्ण आय ही खर्च हो जाती थी। साधारण नागरिकों के लिए इन याज्ञिक विधि-विधानों को निभा सकना एक आफत की चीज बन गया था। धर्म जीवन रहित और शुष्क हो गया था। मनुष्य की आत्मा के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। यज्ञों में खून की जो नदी बहाई जाती थी, वह अनेक दिलों में घृणा की गहरी भावना उत्पन्न करती थी। जाति-विभाग के बन्धन कठोर हो गये थे और धर्म के अन्धभक्त अपने शरीर को कष्ट पहुँचाने में ही मोक्ष-साधना मानने लगे थे। ब्राह्मणों के

अधिकार असीमित हो गये थे और समाज पर उनका घातक एकाधिपत्य स्थापित हो गया था। जनता के आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर अन्ध विश्वासों का भारी बोझ पड़ गया था। इस सब के खिलाफ़ प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था। यह प्रतिक्रिया खूब प्रबलताके साथ हुई और उपनिषदों में इस प्रतिक्रिया की प्रारम्भिक चिनगारियां सुलगती हुई दिखाई देती हैं।

ईसा से छः सदी पूर्व का युग भारतवर्ष में धर्मप्रधान युग था। मनुष्यों का हृदय तब जीवन और मरण की ऊँची समस्याओं से ओत-प्रोत था। जन्म-मरण के बन्धन से मोक्ष प्राप्त करने के साधन खोज निकालने की ओर मनुष्य के मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्ति लगी हुई थी। इसी युग में, विभिन्न अवसरों पर, बिहार के दो राजकुमारों ने आर्य-जनता को दो नए धर्मों का मार्ग दिखाया। ये धर्म बौद्ध और जैनधर्म थे। उस युग में अन्य भी अनेक नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति इस देश में हुई थी। उनमें अधिकांश सम्प्रदाय नष्ट होगये। परन्तु जैन और बौद्ध धर्म चिरस्थायी सिद्ध हुए। जैन धर्म का प्रसार भारत से बाहर बिलकुल नहीं हुआ। परन्तु बौद्ध धर्म क्रमशः संसार का सब से बड़ा धर्म बन गया। भारतवर्ष में करीब १५०० वर्षों तक मानवीय मस्तिष्क पर अपनी गहरी छाप डाले रखने के बाद बौद्ध धर्म इस देश से नष्टप्राय सा हो गया; परन्तु लंका, बर्मा, स्याम, तिब्बत, मंगोलिया, चीन और जापान आदि देशों में वह आज भी एक महान सम्प्रदाय के रूप में विद्यमान है।

बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव—छः सदी ईसापूर्व बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव से भारतवर्ष में एक नये युग का प्रारम्भ हो गया। गौतम

बुद्ध नाम के एक असाधारण प्रतिभाशाली महापुरुष ने इस धर्म का प्रारम्भ किया। अनेक विचारकों के अनुसार संसार भर के सम्पूर्ण इतिहास में किसी अन्य एक व्यक्ति का मानव जाति के विचारों पर इतना गहरा और इतना व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा, जितना महात्मा बुद्ध का। इस महापुरुष के जीवन की घटनाएँ हजारों वरसों तक एशिया भर की कला का मुख्य स्रोत बन कर रही हैं। करोड़ों सन्तप्तों को महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं से शान्तिलाभ हुआ है और भविष्य में भी होता रहेगा।

महात्मा बुद्ध के देहावसान के १५०० वर्ष बाद तक भारतीय संस्कृति वैदिक और बौद्ध धर्म की दो विभिन्न धाराओं में बहती रही। धीरे-धीरे बौद्ध धारा हिन्दू धारा में ही लीन हो गई। हिन्दू धारा बौद्ध धारा के रंग में रंगी जाकर भी आज इस महा देश की प्रमुख धारा बन गई है और इस देश में बौद्ध धर्म इतिहास की चीज़ रह गया है।

महात्मा बुद्ध का व्यक्तित्व—इस देश के इतिहास में प्रथम ऐतिहासिक महापुरुष महात्मा बुद्ध हुए हैं। उनसे पू॰ के व्यक्तियों का ऐतिहासिक चरित्र धुन्धला और अज्ञात-सा है। उपनिषद् के कर्त्ताओं का नाम तो ज्ञात है, मगर उनके सम्बन्ध में और कुछ भी ज्ञात नहीं। इस देश में सबसे पूर्व महात्मा बुद्ध ही एक ऐसे व्यक्ति हुए, जिन्हें संसार के सब से बड़े व्यक्तियों की प्रथम श्रेणी में भी मूर्धन्य स्थान दिया जा सकता है। सौभाग्य से महात्मा बुद्ध के सम्बन्ध में आज भी इतना विस्तृत साहित्य उपलब्ध होता है कि उनके आधार पर उनके जीवन की सम्पूर्ण घटनाएँ क्रमबद्ध रूप से लिखी गई हैं। संसार की प्राचीन मूर्त्तियों में सब से बड़ी

संख्या महात्मा बुद्ध की मूर्त्तियों की है, उनके आधार पर उनका सही-सही चित्र भी आज हमें ज्ञात है।

आज से करीब २५०० वर्ष पूर्व हिमालय की तराई में कपिलवास्तु नाम का एक छोटा परन्तु सम्पन्न नगर बसा हुआ था। यह नगर कोशल राज्य का भाग था और इसमें शाक्य जाति के लोग निवास करते थे। ये क्षत्रिय वर्ण के शाक्य लोग सुन्दर, वीर और स्वाधीन थे। उनके महाराजा शुद्धोदन के घर वृद्धावस्था में एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस पुत्र का नाम सिद्धार्थ रक्खा गया और इसका पालन बड़े लाड़-प्यार के साथ किया गया। सिद्धार्थ के सामने कोई ऐसा दृश्य नहीं लाया जाता था, जिससे उसके जी को चोट लगे। तथापि सिद्धार्थ का जी शिकार आदि मन बहलाव के साधनों की ओर नहीं लगता था। वह बचपन ही से सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा बहुत भिन्न प्रतीत होता था। उसकी आंखों में सदैव ध्यान-मग्नता दिखाई देती थी। यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि बालक सिद्धार्थ की दृष्टि बाह्य जगत की ओर नहीं, अपितु वह गहरी अन्तर्दृष्टि लेकर आया है।

विवाह—युवक पुत्र की संन्यासियोंकी सी मनोवृत्ति देखकर पिता का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। अतः सिद्धार्थ का ध्यान संसार के सब से बड़े आकर्षण 'प्रेम' की ओर खींचने के लिए महाराज शुद्धोदन ने एक सुन्दरी कन्या से उसका विवाह करने का निश्चय कर लिया। कोशल देशमें कुमारी यशोधरा एक अनुपम रत्न थी, बहुत ही सुन्दर और अत्यधिक मीठे स्वभाव की। महाराजकी इच्छा हुई कि सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा से हो जाय। एक दिन यशोधरा का स्वयंवर रचा गया। अनेक राजकुमार उम्मीदवार

थे, परन्तु प्रत्येक परीक्षा में सिद्धार्थ सर्वश्रेष्ठ उतरा और नियमानुसार यशोधरा से उसका विवाह हो गया। पिता ने सोचा—"मैं ने एक स्वतन्त्र पक्षी को आज पिंजरे में बन्द कर दिया है। यशोधरा जैसा नारीरत्न पाकर सिद्धार्थ का सम्पूर्ण वैराग्य स्वयं ही हवा हो जायगा।"

इसके बाद महाराजा ने अपने पुत्र के लिए एक आनन्द-उद्यान बनवा दिया। वहाँ शोक, बुढ़ापा और बीमारी का एक भी दृश्य सिद्धार्थ के सामने नहीं आने पाता था। सिद्धार्थ के चारों ओर नाच और गान का वायुमण्डल बना रहता था। मगर उसका निर्मोही हृदय इन भोगों की ओर ज़रा भी आकृष्ट नहीं होता था। वह निरन्तर ध्यानमग्न दशा में बैठकर दूर की एक पहाड़ी की ओर स्थिर दृष्टि से ताकता रहता था।

जीवन की यन्त्रणाएँ—एक दिन सिद्धार्थ के जी में आया कि ज़रा शहर की सैर कर आऊँ। महाराज ने इस बात का पूरा प्रयत्न किया कि इस सैर में युवराज की आँखों के सामने कोई दुखद दृश्य न आने पाए। मगर दैव महाराज के इस निरर्थक प्रयत्न पर हँस रहा था। युवराज रथ पर सवार हो कर सैर के लिए निकले ही थे कि गली के एक कोने में उन्हें लाठी के सहारे खड़ा हुआ एक बूढ़ा आदमी दिखाई दिया। झुकी हुई कमर, पोपला मुँह, सफ़ेद बाल और काँपता हुआ शरीर। युवराज सिद्धार्थ ने यह दृश्य देखा और उसका जी काँप गया। उसने बड़े उद्वेग के साथ अपने सारथी से कहा—'चन्न ! वह कौन आदमी है ? ओह, क्या मनुष्य ऐसा भी हो सकता है ?'

'हुजूर, यह एक बूढ़ा आदमी है। यह बूढ़ा भी किसी दिन

किसी मां का नन्हा-सा लाल रहा होगा जनाब! इसने कभी जवानी की उमंगें भी देखी होंगी। आज बुढ़ापे ने इसे चकनाचूर कर दिया है।'

'क्या कभी मेरे पिता जी का भी यह हाल होगा?'

'जी हां हजूर!'

'मेरी प्यारी पत्नी का भी?'

'जी हां हजूर!'

'मेरा भी?'

चन्न एक ठंडा श्वास लेकर चुप रह गया।

सिद्धार्थ ने उतावली के साथ कहा—'रथ लौटा ले चलो चन्न! इस दुनिया में आनन्द है ही कहां? मैंने जो कुछ देखना था, देख लिया।'

यथासमय महाराज को भी यह सम्वाद मिल गया। उन्होंने सिद्धार्थ के चारों ओर का वायुमण्डल और भी अधिक प्रसन्नता-पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। मगर अब भी सिद्धार्थ ध्यानमग्न की-सी दशा में रहता था।

एक दिन सिद्धार्थ पुनः रथ पर सवार होकर नगर का अवलोकन करने निकला। इस बार राह में उसे एक मरणासन्न बीमार व्यक्ति दिखाई दिया। उसका शरीर फूला हुआ था, चेहरा विकृत हो गया था और वह पड़े-पड़े कष्ट से कराह रहा था। सिद्धार्थ को बताया गया कि यह पुरुष बीमार है और बीमारी प्रत्येक मनुष्य को हो सकती है। इसी तरह तीसरी सैर में सिद्धार्थ की निगाह एक अर्थी पर पड़ी। चन्न ने युवराज को बताया कि एक पुरुष मर गया है और उसके रिश्तेदार उसकी लाश को जलाने के लिए श्मशान में ले जा रहे हैं।

सिद्धार्थ ने चौंक कर पूछा—'जलाने के लिए ?'

'जी हां हजूर ! उसमें जीवन जो नहीं रहा।'

'ओह, तो क्या प्रत्येक मनुष्य की यही दशा होती है ?'

'जी हां!'

सिद्धार्थ चुप हो गया । चन्न समझ गया कि युवराज अब आगे नहीं जाना चाहते । उसने रथ लौटा दिया। सिद्धार्थ अपने जी में सोच रहा था—'मनुष्य जीवन में सुख कहां है। बीमारी और बुढ़ापे की यन्त्रणा सहने के बाद मनुष्य इस दुनियां से कूच कर जाता है। इस अल्प जीवन का उद्देश्य क्या है !'

पुत्र जन्म—सिद्धार्थ के विवाह के दश वर्ष बाद यशोधरा एक सुन्दर पुत्र की माता बनी। जब यह शुभ समाचार युवराज को ज्ञात हुआ तो उसने सोचा कि मुझे बांधने के लिए एक और जंजीर मेरे पांव में पड़ गई।

पुत्र जन्म के कुछ दिनों बाद सिद्धार्थ ने यह निश्चय कर लिया कि वह अब संन्यास धारण कर घर-बार छोड़ देगा। इस निश्चय के अनुसार एक अंधेरी रात में वह साधुओं के भगवे वस्त्र पहन कर चुपचाप राजमहलों को छोड़ चला। वह बाहर आया ही था कि उसके जी में आया—"एक बार अपनी प्यारी पत्नी और नवजात पुत्र के दर्शन तो करलूँ।" सिद्धार्थ अपनी पत्नी के शयनागार की ओर लौट चला। कमरे के मध्यम प्रकाश में उसने देखा कि सुन्दरी यशोधरा अपने चांद के टुकड़े-से नवजात शिशु को छाती के साथ चिपका कर मीठी नींद में सो रही है। सिद्धार्थ के जी मे दो बार यह प्रबल अभिलाषा उत्पन्न हुई कि वह अपने पुत्र को कम से कम एक बार तो, छाती से लगा ले। मगर यशो-

घरा जग जायगी तो जाना असम्भव हो जायगा। सिद्धार्थ कुछ क्षणों तक एकटक दृष्टि से अपनी प्यारी पत्नी और पुत्र की ओर चुपचाप देखता रहा। इसके बाद, बिना शब्द किए, एक गहरा श्वास लेकर सिद्धार्थ अपनी पत्नी के शयनागार से बाहर चला आया।

गौतम बुद्ध—संन्यास धारण कर लेने के बाद से सिद्धार्थ अपने को गौतम कहने लगा था। पूरे सात वर्षों तक वह सत्य की खोज में दर-ब-दर और एक जंगल से दूसरे जंगल में भटकता फिरा। अनेक ब्राह्मण विचारकों का शिष्यत्व भी उसने स्वीकार किया, मगर उनके जीवनशून्य उपदेशों से उसकी जिज्ञासु आत्मा की तृप्ति नहीं हुई। इन लम्बे सात वर्षों में उसने कठोर तप की साधना भी की। बिलकुल निर्जन स्थानों पर अकेले पड़े रह कर उसने उपवास और जप का पारायण किया। इन क्रियाओं से वह इतना कमज़ोर हो गया कि उसके शरीर की एक-एक हड्डी दिखाई देने लगी। मगर इतनी तपस्या के बाद भी वह जीवन के रहस्य को नहीं पा सका। इसके बाद उसने कष्टसाधना का मार्ग छोड़ कर मध्य मार्ग का आश्रय लिया। नियमित आहार विहार द्वारा स्वस्थ होकर, गया नगर के निकट, पीपल के एक वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ ने ध्यान-साधना शुरू की। इन्द्रियों को शान्त और मस्तिष्क को क्रियाशील बनाकर वह जीवन की गम्भीर समस्याओं पर विचार करने लगा। इस बार उसे सफलता मिली। जब उसने अपनी लम्बी ध्यान-समाधि भंग की, तब वह 'बुद्ध' (तत्वज्ञानी और प्रचेतन) बन चुका था। गौतम की अविद्या नष्ट होगई, वह ज्ञानी बन गया। उसे अनन्त प्रकाश दिखाई दे गया। उस दिन के बाद क्रमशः गया का वह बोधि वृक्ष संसार

भर के करोड़ों बौद्धों के लिए आदरणीय बन गया। यह प्राचीनतम वृक्ष आजभी मौजूद है। एक बड़े भूकम्प के उपरांत खंडरातों में दब जाने के बाद, उसी बोधि वृक्ष की जड़ों से आज भी एक सुन्दर वृक्ष फल-फूल गया है। पिछली बीसों शताब्दियों में इस ऐतिहासिक वृक्ष के सामने अरबों मनुष्यों के अभिमानी सिर श्रद्धावनत हुए हैं। अपनी इस महान साधना के बाद से गौतम बुद्ध, भगवान, शाक्य मुनी, शाक्यसिंह, तथागत आदि नामों से याद किया जाने लगा।

प्रथम उपदेश—पूर्णरूप से तत्वज्ञानी बन जाने के बाद गौतम ने अपने ज्ञान को अपने लिए ही सीमित नहीं रक्खा। उसके हृदय में यह प्रबल प्रेरणा हुई कि वह मनुष्यमात्र में उस सत्य ज्ञान का प्रकाश करे। उसने निश्चय कर लिया कि अब वह मनुष्य मात्र में उस सत्य ज्ञान का प्रकाश करे। उसने निश्चय कर लिया कि अब वह मनुष्यमात्र को सत्य का प्रकाश दिखाने में अपने शेष जीवन की सम्पूर्ण शक्तियों का व्यय करेगा। वह प्रथम उपदेश देने के लिए बनारस के निकट सारनाथ पहुँचा। "जिनके कान हों, वे सुनें, बुद्ध मानव जाति को सत्य की राह बताने लगा है।" मृगोद्यान में गौतम बुद्ध का प्रथम उपदेश हुआ। सैंकड़ों मनुष्यों ने बुद्ध का यह उपदेश सुना और वे उसकी शिक्षाओं से बड़े प्रभावित हुए।

बुद्ध के इस प्रथम उपदेशको सुनकर ही बनारसके कुलीन और धनी घरानोंके बहुतसे नवयुवक उनके शिष्य बन गए। इसके बाद बुद्धने निश्चय किया कि अब वह घूम-घूम कर लोगों को उपदेश देगा।

अपने शिष्यों में भी उसने यही भावना भरी और उन्हें आदेश दिया कि तुम में से सभी को पृथक्-पृथक् स्थानों पर जाकर सत्य का उपदेश करना चाहिए। उन्हीं दिनों संजय नाम का एक व्यक्ति मध्य भारत में प्रमुख धार्मिक नेता गिना जाता था। उसके बहुत से शिष्य महात्मा बुद्ध की शरण में आ गए। सारनाथ से बुद्ध जब राजगृह में गए तो राजवंशों के बहुत से क्षत्रिय राजकुमार बौद्ध संघ में दीक्षित हो गए।

पाँच वर्षों तक महात्मा बुद्ध एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार करते रहे। उन्होंने भिक्षु संघ नाम से एक महान संस्था की स्थापना की। भिक्षु एक तरह के धार्मिक स्वयंसेवक होते थे, जिनका उद्देश्य आजन्म संयम का जीवन बिताते हुए मानव जाति की सेवा करना था। शीघ्र ही महात्मा बुद्ध का यह भिक्षु संघ एक बड़ी प्रबल संस्था बन गया।

पुनर्मिलन—गौतम बुद्ध के माता, पिता, पत्नी और पुत्र—सभी लोग अभी जीवित थे। उन्हें जब गौतम बुद्ध के समाचार ज्ञात हुए तो उन्होंने कपिलवास्तु में उन्हें साग्रह निमन्त्रित किया। महात्मा बुद्ध कपिलवास्तु पहुँचे और अपने आत्मीय जनों से मिले। बौद्ध साहित्य में इस पुनर्मिलन का अत्यधिक करुण और विस्तृत वर्णन है। रानी यशोधरा भी अपने पति से मिली। इस सम्मिलन के समय उसने अपने पुत्र राहुल को बुला कर कहा—'देखो, यह भगवे वस्त्रधारी महात्मा तुम्हारे पिता हैं।'

बारह बरस का कुमार राहुल कुछ देर तक उनकी ओर बड़े विस्मय से देखता रहा। इसके बाद वह बड़ी गम्भीरता के साथ अपने पिता की ओर बढ़ा और उनकी भगवी पोशाक को छूकर बोला—

'पिता जी, ये वस्त्र मुझे भी दीजिए!'

यशोधरा आँसू बहा रही थी, मगर बुद्ध मुस्करा रहे थे। उन्हों ने कुमार राहुल को भी अपने संघ में सम्मिलित कर लिया।

राहुल के भिक्षु संघ में सम्मिलित होने का समाचार जब उस के बूढ़े दादा महाराज शुद्धोदन के पास पहुँचा तो उन्हें इस से मर्मान्तिक कष्ट हुआ। वह स्वयं महात्मा बुद्ध के निवास स्थान पर पहुँचे। बुद्ध ने अपने पिता का बड़े आदर के साथ स्वागत किया। महाराज शुद्धोदन ने उनसे कहा—'तुम तो मुझ से पृथक् हुए ही थे। तुम्हारा सौतेला भाई नन्द भी तुम्हारे संघ में सम्मिलित हो गया। और अब राहुल को भी तुम अपने ही साथ लिये जा रहे हो। सिद्धार्थ! गौतम!! इस बात ने मेरे कमज़ोर हृदय को चकनाचूर कर दिया है।'

महात्मा बुद्ध कुछ क्षणों तक चुपचाप सोचते रहे। इसके बाद उन्होंने कहा—भविष्य में पिता की अनुमति लिए बिना किसी भी पुत्र को संघ में सम्मिलित नहीं किया जायगा।'

कपिलवास्तु से गौतम कोशल की राजधानी श्रावस्ती में गए। वहाँ उन दिनों प्रसेनजित नाम का राजा राज्य कर रहा था।

इसके बाद क़रीब ४५ वर्षों तक महात्मा बुद्ध कोशल, मगध, अंग आदि देशों में अपनी सर्वहितकारी शिक्षाओं का प्रचार करते रहे। सभी जगह जनता, कुलीनों तथा राजाओं सभी ने महात्मा बुद्ध का खूब सम्मान किया। महात्मा बुद्ध अपने भिक्षु संघ के साथ-साथ देश का परिभ्रमण किया करते और जहाँ भी वह जाते थे, जनता के अतिथि बन कर काफ़ी दिनों तक निवास करते थे। उनका जीवन बिलकुल सादा था। जब वह एक

राजा के राजमहलों में गए तो उसने उनका स्वागत करने के लिए महल के सब भागों पर सफ़ेद कपड़ा बिछवा दिया। महात्मा बुद्ध महल के द्वार पर पहुँच कर खड़े हो गए। उन्होंने उस कपड़े पर चलने से इन्कार कर दिया। जब वह कपड़ा हटाया गया, तभी वह आगे बढ़े।

देहावसान—८० वर्ष की उम्र में, जब महात्मा बुद्ध चुन्ड के आम्रवन में निवास कर रहे थे, उन्हें आँतों की बीमारी हो गई और इसी बीमारी से उनका शरीरान्त हो गया। अन्तिम समय में उन्होंने अपने शिष्यों से ये शब्द कहे थे—'मेरे देहावसान के बाद, जिन सत्य सिद्धान्तों के लिए इस की स्थापना की गई थी, उन्हीं को अपना पथप्रदर्शक मानना। संघ को पूर्ण अधिकार होगा कि जब वह चाहे अपने मूल आधारों पर स्थिर रह कर अपने आदर्शों और उपायों में परिवर्तन कर सके।'

महात्मा बुद्ध के शरीर का तो अवसान होगया, मगर उनकी शिक्षाओं और उद्देश्यों का अवसान नहीं हुआ। बौद्ध भिक्षु, बड़ी शान्ति और धैर्य से महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार देशभर में करते रहे। महात्मा बुद्ध के देहान्त के २०० वर्ष बाद एक शक्तिशाली सम्राट् ने बौद्ध धर्म को अपना लिया और तब शीघ्र ही बौद्ध धर्म संसार की सब से बड़ी शक्ति बन गया।

महात्मा बुद्ध के दाह संस्कार के बाद उनके भस्मान्त अवशेष को लेने के लिए भारतवर्ष के अनेक राजाओं और गणों ने अपने प्रतिनिधि भेजे। ये थे—मगध के राजा अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवी, कपिलवस्तु के शाक्य, मल्ल और एक ब्राह्मण गणराज्य आदि। भस्मान्त को ८ भागों में बांटा गया। पिप्परवा

के प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि सभी जगह महात्मा बुद्ध के इन अवशेषों को बड़े सन्मान के साथ रक्खा गया।

भिक्षु संघ—महात्मा बुद्ध के जीवन का पिछला भाग बौद्ध भिक्षु संघ के निर्माण में व्यतीत हुआ था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस संघ के सदस्यों का आदर्श आत्म संयम तथा निग्रहपूर्ण जीवन के साथ मानव जाति की सेवा करना और बौद्ध सिद्धान्तों का प्रचार करना था। क्रमशः यह संघ संसार के धार्मिक इतिहास की सब से बड़ी संस्था बन गया। वह एक तरह के आध्यात्मिक भ्रातृभाव के रूप में परिवर्तित हो गया, जिसमें अनेक दर्जे थे।

संघ का निर्माण प्राचीन आर्य ग्रामों के संगठन के आधार पर किया गया था। संघ बनाते हुए, उसके सम्बन्ध में कोई विस्तृत नियम नहीं बनाए गए। परन्तु ज्यों-ज्यों विभिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में समस्याएँ उत्पन्न होती रहीं, उन्हें महात्मा बुद्ध के सन्मुख पेश किया जाता रहा। प्रत्येक समस्या या प्रश्न के सम्बन्ध में वह जो व्यवस्था देते थे, वही सदा के लिए स्थिर कानून का रूप धारण कर लेती थी। तथापि महात्मा बुद्ध ने सदैव यही प्रयत्न किया कि संघ में स्वतन्त्र निर्णय की भावना का जन्म हो। महात्मा बुद्ध में नेतृत्व की असाधारण शक्ति थी। उनके सभी निर्णय यथोचित, कबूल करा देने वाले और न्यायपूर्ण होते थे। हैवेल के अनुसार महात्मा बुद्ध संघ के सम्पूर्ण कार्यों में इतनी दिलचस्पी लेते थे कि उनके नियन्त्रण पर किसी को आपत्ति हो ही नहीं सकती थी। भिक्षुओं से यह आशा की जाती थी कि वे स्वयं त्यागमय जीवन व्यतीत करेंगे और अन्य लोगों के लिए सदैव

कल्याण की भावना रक्खेंगे।

भिक्षु संघ अवश्य ही धीरे-धीरे विकसित हुआ होगा। परन्तु उसकी नींव महात्मा बुद्ध ने स्वयं ही डाली थी। भिक्षु संघों के संगठन में सबसे बड़ा दोष यह था कि उन्हें आपस में मिलाए रखने की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। इस कार्य के लिए कई बार महासभाएँ बुलाने का प्रयत्न भी किया गया। अगर हम देखते हैं कि प्रायः इन संघों में छोटी-छोटी बातों पर भारी संघर्ष खड़ा हो जाता था। संघ में कोई किसी को कोई आज्ञा नहीं दे सकता था। इसका एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि मतभेद हो जाने पर भी भिक्षु संघ विभिन्न दलों में नहीं बँटते गए। ईसाई संघों की तरह बौद्ध संघों में मतभेद के कारण भौतिक अत्याचार करने की नौबत कभी नहीं आई।

संघ का सदस्यत्व—प्रत्येक व्यक्ति, जिसमें असाधारण-तौर से कोई नैतिक अथवा शारीरिक दोष न हो, भिक्षु संघ का सदस्य बन सकता था। यह व्यवस्था थी कि कोई मनुष्य सांसारिक उत्तरदायित्व से बचने के इरादे से ही भिक्षु संघ का सदस्य नहीं बन सकता। अपराधी, दिवालिए, दास और चोर संघ के सदस्य नहीं बनाये जाते थे। भिक्षु संघों का नियन्त्रण पूर्णरूप से प्रजासत्तात्मक असूलों पर किया जाता था। संघ के सदस्य मिल कर ही प्रत्येक कार्य का संचालन करते थे। वे सब मिल कर ही संघ-सम्बन्धी न्याय व्यवस्था भी करते थे। वर्ष भर में ६ महीनों तक भिक्षुओं को घूम-घूम कर प्रचार का कार्य करना होता था। और बरसात के ३ महीनों में वे आश्रमों में एक साथ रहते हुए स्वाध्याय और विश्राम किया करते थे।

संघों का निर्माण महात्मा बुद्ध के जीवन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य था। एशिया के अनेक देशों में अभी तक इन संघों का प्रभाव बाकी है। बौद्ध धर्म के प्रसार में इन संघों से बड़ी सहायता मिली।

प्रमुख शिष्य—भिक्षु संघ के निर्माण में महात्मा बुद्ध को अपने अनेक प्रमुख शिष्यों से बड़ी सहायता मिली। इनमें संजय के ब्राह्मण शिष्य शारिपुत्र और मौद्गलायन विशेष प्रसिद्ध हैं। महात्मा बुद्ध के जीवन काल में ही इन दोनों का देहान्त हो गया। शारिपुत्र पर महात्मा बुद्ध का इतना अगाध विश्वास था कि वह उसकी उपमा किसी साम्राज्य के युवराज से दिया करते थे, जो प्रत्येक कार्य में सम्राट का दाहिना हाथ बन कर रहता है। अनेक स्थानों पर शारिपुत्र उनके प्रतिनिधि रूप से भी कार्य करता था। उपालि भी उनके प्रमुख शिष्यों में था। महात्मा बुद्ध के देहान्त के बाद उपालि ने विनयपिटकों में संशोधन करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। आनन्द से महात्मा बुद्ध का विशेष स्नेह था। वह उन्हीं के वंश में से था और महात्मा बुद्ध ने उसे अपना व्यक्तिगत सहायक बनाया हुआ था।

देवदत्त का विद्रोह—महात्मा बुद्ध के जीवन काल में संघों के इतिहास में सिर्फ एक ही दुर्घटना हुई और वह देवदत्त के विद्रोह के रूप में थी। जब महात्मा बुद्ध कपिलवास्तु में गए थे, तभी राजवंश के अन्य युवकों के साथ देवदत्त भी संघ में सम्मिलित हुआ था। रिश्ते में वह उनका चचेरा भाई था। देवदत्त में योग्यता भी थी। उसकी महत्वाकांक्षा थी कि संघ में उसका स्थान गौतम बुद्ध से भी ऊँचा हो जाय। महात्मा बुद्ध की आयु ७२

वर्ष की हो गई तो वह आन्दोलन करने लगा कि अब उन्हें संघ से पृथक् होकर विश्राम का जीवन व्यतीत करना चाहिए। देवदत्त स्वयं संघ के सम्बन्ध में अत्यधिक कठोर नियन्त्रण से काम लेना चाहता था। महात्मा बुद्ध का शासन अधिक उदार था। उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ देवदत्त की बात मानने से इन्कार कर दिया। तब देवदत्त ने अपने मित्र मगध के युवराज अजातशत्रु को इस बात के लिए उकसाया कि वह अपने पिता की हत्या करके स्वयं मगध का सम्राट् बन जाय और तब वे दोनों मिल कर बौद्ध संघ पर क़ब्ज़ा कर लें। उधर से असफल हो कर देवदत्त ने महात्मा बुद्ध की हत्या करने का प्रयत्न किया; मगर इसमें भी वह सफल न हो सका। जिन दिनों फ़ाहियान भारतवर्ष में आया, उन दिनों भी कोशल में देवदत्त के कुछ अनुयायी विद्यमान थे। ये लोग तीन प्राचीन बुद्धों की पूजा करते थे, मगर गौमत बुद्ध पर उनकी आस्था नहीं थी। इस तथ्य से यह सिद्ध होता है कि महात्मा बुद्ध की अधिकांश शिक्षाएँ अनेक प्राचीन भारतीय विचारकों द्वारा पहले भी दी जाती रही होंगी। पिटक ग्रन्थों में महात्मा बुद्ध ने इस बात को अनेक स्थानों पर स्वयं भी स्वीकार किया है।

प्रतिद्वन्द्वी मतों के प्रति बुद्ध की प्रवृत्ति—महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का सबसे बड़ा आदर्श मनुष्यमात्र में भ्रातृत्व और स्नेह की भावनाओं का विकास करना था। तथापि आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने तत्कालीन अन्धविश्वासी पुरोहितों की तीव्र आलोचना भी की। यह होते हुए भी उनके उपदेशों में कड़वापन या मालिन्य कभी नहीं आया। पुरोहितों के कार्यों को वह सदैव बरदाश्त करते रहे। अपने शरीर की रक्षा करने की चिन्ता महात्मा बुद्ध ने कभी

नहीं की। अनेक अवसरों पर महात्मा बुद्ध ने जिस सहनशीलता का परिचय दिया, उसकी मिसाल मिलना कठिन है। वह राजगृह में प्रायः आते-जाते रहे और उन्होंने अपने जीवन का एक बहुत ही श्रेष्ठ और सुप्रसिद्ध उपदेश अजातशत्रु के सम्मुख ही दिया था। उनमें अद्भुत इच्छा-शक्ति थी। वह पूर्णरूप से निडर थे। उनकी युक्तियां अकाट्य और मना देने वाली होती थीं। अन्य धर्माचार्यों के मुक़ाबले में वह इतने अधिक नम्र थे कि पाप या अपराध के प्रति भी उन्हें क्रोध कभी नहीं आया। दूसरे लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं, इसकी उन्होंने कभी परवाह ही नहीं की। अपनी मृत्युशैया पर से महात्मा बुद्ध ने कहा था— 'अन्य आचार्य ठीक कहते हैं या ग़लत, इसकी आलोचना मत करो। मेरी बात सुनो, मैं तुम्हें सत्य का दर्शन कराऊँगा।'

स्त्रियों का सहयोग—महात्मा बुद्ध के जीवन काल में उन्हें अनेक स्त्रियों से भी बड़ी सहायता मिली। अनेक स्थानों पर वह स्त्रियों के मेहमान बन कर रहे। उनके दानियों में देवी विशाखा का नाम विशेष प्रसिद्ध है। अपने जीवन के अन्तिम वर्ष भी उन्होंने नर्तकी अम्बपाली का निमन्त्रण स्वीकार किया था। जब वह मृत्युशैया पर थे, तब उनसे पूछा गया-'भगवन्! हम भिक्षुओं को स्त्रियों के साथ किस तरह का आचरण करना चाहिये?'

बुद्ध ने कहा—'उनके मुँह की ओर मत देखो।'

'मगर यदि देख लें?'

'तो उनसे बातचीत न करो।'

'मगर यदि वे हम से बोलें।'

'तो मन पर काबू रक्खो। सतर्क रहो।'

महात्मा बुद्ध ने भिक्षुणियों को संघ में सम्मिलित करने की आज्ञा किस प्रकार दी, यह बात भी अर्थपूर्ण है। जब बुद्ध कपिलवास्तु में गए थे, तब उनकी धाय महाप्रजापति और मौसी ने तीन बार उनसे अनुरोध किया कि वह उन्हें संघ में सम्मिलित कर लें। महात्मा बुद्ध ने तीनों बार इन्कार कर दिया। इस पर वे रोने लगीं। तब आनन्द को उन पर दया आ गई और उसने उनकी तरफ़ से महात्मा बुद्ध से इन शब्दों में अनुरोध किया—'भगवन्, उन देवियों को, जिन्होंने अपने शरीर का भाग देकर आपको यह शरीर दिया है, सत्य सेवा की दीक्षा देने से इन्कार न कीजिए।'

महात्मा बुद्ध ने इस बात को स्वीकार तो कर लिया। परन्तु साथ ही कहा—'आनन्द, यदि भिक्षु संघ में स्त्रियों को सम्मिलित न किया जाता तो इसकी पवित्रता बहुत समय तक अक्षुण्ण रह सकती। मगर अब, जब उन्हें संघ में शामिल करने की अनुमति दे दी गई है, संघ की पवित्रता ५०० वर्षों से अधिक समय तक कायम नहीं रहेगी।'*

बुद्ध का चरित्र—महात्मा बुद्ध संसार के सब से बड़े महापुरुषों में हुए हैं। उनके व्यक्तिगत चरित्र का सही-सही चित्रण करना सुगम नहीं है। तथापि अनेक घटनाओं से प्रतीत होता है कि उनका हृदय बहुत ही कोमल था। उनके शरीर की सुन्दरता और उनकी वाणी के माधुर्य का बौद्ध ग्रन्थों में जगह-जगह पर वर्णन हैं। सारनाथ और बौद्ध गया से उनकी जो प्रस्तर

---

* महापरिनिब्बान सुत्त ५. २३

मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं, उनके आधार पर उनके शारीरिक सौन्दर्य का अन्दाज़ा आसानी के साथ लगाया जा सकता है। सूत्त तथा जातक ग्रन्थों से उनकी असाधारण प्रतिभा, और उनकी मनो-रंजक शैली का यथेष्ट परिचय मिलता है। एक बार एक स्थान पर उन्हें बताया गया कि 'यहाँ दो तपस्वी नंगे रहते हुए, कठोर तपस्या के उद्देश्य से ठीक गाय और कुत्ते के समान जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्हें अगले जन्म में इसका क्या फल मिलेगा।'

'यदि उन्हें सफलता मिली, तब तो वे गाय और कुत्ता बन जाएँगे। अन्यथा वे नरक में तो हैं ही।'

एक बार शारिपुत्र में अगाध श्रद्धा उमड़ पड़ी और उसने महात्मा बुद्ध से कहा—'भगवन! मेरी राय में आप के समान न कोई और व्यक्ति कभी हुआ है, न है और न होगा।'

'हाँ शारिपुत्र! मालूम होता है, तुम सम्पूर्ण प्राचीन महा-पुरुषों के सम्बन्ध में सभी कुछ जानते हो।'

'नहीं भगवन!'

'अच्छा तो कम से कम भविष्य के महापुरुषों को तो जानते ही होगे।'

'नहीं भगवन्।'

'खैर; कम से कम मेरे दिल की प्रत्येक बात तो तुम जानते ही होगे।'

'वह भी नहीं जानता भगवन!'

'तो शारिपुत्र! तुम इतनी व्यापक स्थापना कैसे करते हो!'

महात्मा बुद्ध की शिक्षाएँ इतनी नैतिक और इतनी स्पष्ट हैं तथा उनकी शैली इतनी मनोरंजक है कि संसार के धार्मिक साहित्य

में आज भी उनका बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है । तथापि यह स्पष्ट है कि उनका व्यक्तित्व उनकी इन अमर शिक्षाओं से भी अधिक प्रभावशाली होगा।

बुद्ध और मुहम्मद—मुहम्मद की तरह से बुद्ध ने भी एशिया में एक बहुत बड़ी धार्मिक क्रान्ति को जन्म दिया। परन्तु बुद्ध ने मुहम्मद की तरह धर्म और राजनीति को मिला नहीं दिया । मुहम्मद में वह शक्ति थी, जिसकी बदौलत उसने धार्मिक और राजनीतिक क्रान्तियों को एक दूसरे के साथ पूरी तरह से मिला दिया। भारतीय प्रथाओं के अनुसार इस तरह दोनों को मिलाना अनभीष्ट था । साथ ही मुहम्मद की तरह बुद्ध ने अपने सम्पूर्ण विचारों को अपने अनुयाइयों पर थोपने का प्रयत्न नहीं किया। महात्मा बुद्ध के जीवन काल में उनके अनेक प्रमुख शिष्यों ने उनसे यह अनुरोध किया कि वह संघ के नियमों को बहुत कठोर बना दें। इन लोगों की राय में संघ के नियन्त्रण में स्वच्छन्दता का अवसर बहुत अधिक था । यदि महात्मा बुद्ध भी यह बात चाहते तो तत्कालीन बौद्ध जनता इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लेती। परन्तु महात्मा बुद्ध ने ऐसा नहीं किया। इसी बात की बदौलत बौद्ध धर्म एक ऐसी चीज़ बन गया, जिसे प्रत्येक देश की विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल ढाला जा सकता था। बौद्ध धर्म की इस आन्तरिक उदार मनोवृत्ति ने उसे विश्वधर्म बनाने में बड़ी सहायता पहुँचाई । इसके बिना वह भी जैन धर्म की तरह एक संकुचित दायरे तक ही सीमित रहता। बुद्ध ने सदैव केवल आधारभूत बातों पर ही बल दिया। विस्तार की बातें उन्होंने संघ के बहुमत पर छोड़ दी। इन विभिन्न संघों को भी आन्तरिक स्वाधीनता थी।

बौद्ध धर्म की आन्तरिक स्वाधीनता और इस्लामकी फौजी भावना ये दोनों दो सर्वथा पृथक मनोवृत्तियों के उदाहरण हैं।

बुद्ध और ईसा—महात्मा बुद्ध ने बरसों तक सत्य की खोज की और अनथक प्रयत्न से सत्य मार्ग की खोज कर लेने के बाद उन्होंने धार्मिक क्रान्ति का आन्दोलन शुरू किया। इसी कारण उनकी शिक्षाएँ तर्क और बुद्धि के आधार पर भी खरी उतरती हैं। इधर ईसाइयत में भावुकता का स्थान सब से अधिक है। ईसाइयत का सिद्धान्त है कि ईसा पर बच्चों की तरह विश्वास करो, वह तुम्हें सन्मार्ग और शान्ति की ओर ले जायगा। मगर बौद्ध धर्म इसकी अपेक्षा बहुत अधिक ऊँचे आधार पर स्थित है। उस युग में भारतीय जनता की रुचि तर्कप्रधान थी, अतः बुद्ध को तर्क और भावुकता दोनों ही का आश्रय लेना पड़ा। व्यर्थ की धार्मिक चरचाओं की ओर बुद्ध और ईसा दोनों ही का झुकाव नहीं था। दोनों ने उनकी उपेक्षा की। दोनों ने क्रिया-कलाप को भी महत्ता नहीं दी; दोनों ने हार्दिक भावना को ही सब से अधिक महत्व दिया।

बुद्ध की शिक्षाएँ—महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं को धार्मिक न कह कर सामाजिक कहना चाहिए। उन्होंने धार्मिक फिलासफ़ी की गुथीली और पेचीदी बातों की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। बुद्ध का धर्म व्यावहारिक, मानवोपयोगी, क्रियात्मक और स्पष्ट था। उन्होंने सीधी भाषा में आचार सम्बन्धी रोज़मर्रा की बातों का प्रचार जनता में किया। अन्य भारतीय विचारकों की तरह उन्होंने कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार किया। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में बुद्ध ने कभी चिन्ता या बहस नहीं की।

वेदों के प्रति भी उन्होंने काफ़ी उपेक्षा वृत्ति दिखाई। याज्ञिक विधि-विधानों का उन्होंने घोर विरोध किया। जाति विभाग को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनके मन्तव्यानुसार सब मनुष्य एक समान हैं और अपनी किस्मत का बनाना उनके अपने हाथ में है। महात्मा बुद्ध की राय में जीवन पवित्र है। किसी के भी जीवन का अपहरण करना अनुचित है। उन्होंने अनेक स्थानों पर स्पष्ट शब्दों में कहा कि उनका उद्देश्य इस महान् देश में धर्म के प्राचीन और पवित्र रूप की पुनः स्थापना करना है। महात्मा बुद्ध ने यह कभी नहीं कहा कि मैं एक नए धर्म की नींव डालने आया हूँ। उन्होंने कहा "भाइयो! मैं ने उस प्राचीन मार्ग का साक्षात् कर लिया है, जिसका अनुसरण प्राचीन काल के ज्ञानी करते रहे हैं। मैं जीवन और मृत्यु के रहस्य से भी परिचित हो गया हूँ। इसी से उस पुण्य मार्ग का मैं सम्पूर्ण मानव भाइयों में प्रकाश करना चाहता हूँ, जिससे विश्व भर के मनुष्यों में वही प्राचीन पवित्रता व्याप्त हो जाय।" ❋

महात्मा बुद्ध ने सारनाथ में जो प्रथम उपदेश दिया था, उसके आधार पर उनकी शिक्षाओं का संक्षिप्त सार यहां दिया जाता है।

मध्यम मार्ग—वैषयिक सुखों पर जो जीवन अवलम्बित है, वह निकृष्ट और अवांछनीय है। दूसरी ओर आत्मपीड़ा का जीवन अवास्तविक और दुःख पूर्ण है, जिससे कोई लाभ नहीं

❋ Buddhism, by Mrs. Rhys Davids, Page 181.

होता। वास्तविक मार्ग मध्यम मार्ग है। यह अष्टविध श्रेय मार्ग, श्रेष्ठ विचार, श्रेष्ठ निश्चय, श्रेष्ठ कथन, श्रेष्ठ व्यवहार, श्रेष्ठ जीवन, श्रेष्ठ प्रयत्न, श्रेष्ठ ध्यान और श्रेष्ठ समाधि के रूप में है।

जन्म दुख का कारण है, क्यों कि जीवन स्वयं भी एक दुःख है। जन्म से लेकर मरण तक अनेक दुखों का सामना करना पड़ता है। सम्भोगपूर्ण जीवन की इच्छा जन्म का कारण है। इसके शमन का उपाय अनुचित इच्छाओं का दमन कर वासनाओं को शान्त करना है। पूर्वोक्त अष्ट विधि कल्याण मार्ग से मनुष्य अपने चरित्र को उन्नत कर शान्ति प्राप्त कर सकता है।

जिसका आरम्भ है, उसका अन्त भी अवश्य है। इस तथ्य को समझ कर विशुद्ध और निष्कलंक सत्य का दर्शन किया जा सकता है।

बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव के बाद भी ब्राह्मण धर्म का पूर्ण नाश तो नहीं हो गया, मगर उनकी प्रमुखता जाती रही। बौद्ध धर्म के संघर्ष में आकर ब्राह्मण धर्म में भी सुधार की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और उनका दर्शन-साहित्य अधिक ऊँचे दर्जे का बनने लगा।

प्रारम्भिक बौद्ध फिलासफ़ी—महात्मा बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं में व्यवहारिक कर्म की पवित्रता पर सब से अधिक बल दिया। सत्याचरणको जीवन और स्वभाव का भाग बना देना उन्हें अभीष्ट था। केवल कुछ सिद्धान्तों पर अगाध विश्वास कायम कर लेने में बौद्ध धर्म कोई भी विशेष लाभ स्वीकार नहीं करता। वास्तव में महात्मा बुद्ध ने तर्क और फिलासफ़ी की बातों को इतनी उपेक्षा के साथ देखा कि तत्कालीन भारतीयों के तार्किक मस्तिष्कों को यह फिलासफ़ी-रहित बौद्ध धर्म पूर्णरूप से अपनी ओर आकृष्ट

ही नहीं कर सका। इसी कारण, बाद में बौद्ध नेताओं ने बौद्ध फिलासफी का भी खूब विकास किया।

महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं में भावुकता की बजाय बुद्धिवाद को अधिक प्रधानता है। इनमें धार्मिक बहसें नहीं, परन्तु वे मनोवैज्ञानिक पूर्ण रूप से हैं। यह विश्व किस तरह शुरू हुआ और इसका अन्त क्या होगा, इस सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध ने कभी कुछ नहीं कहा, परन्तु मन की रचना के सम्बन्ध में, सत्यज्ञान और कारण परम्परा के ज्ञान के लिए उन्होंने बहुत कुछ कहा। जीवन के रहस्य सम्बन्धी बहसें, उनकी राय में व्यर्थ थीं। बुद्ध ने आत्मा की सत्ता से भी इन्कार किया। उनका यह सिद्धान्त 'अनात्ता सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्ध दर्शन आत्मा अथवा 'स्व' के अभाव पर इतना बल देता है कि अनेक विचारक बौद्ध आचार शास्त्र को 'स्व रहित जीवन' की फिलासफी कहते हैं। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन को धर्मशास्त्र न कह कर मनोवैज्ञानिक कहना चाहिये। उसमें धर्म का अर्थ कानून है, जो सार्वत्रिक है।

अनेक लोगों की राय में बौद्ध धर्म निराशावाद पूर्ण है और वह मनुष्य को क्रियाशून्य बना कर उसकी प्रसन्नता और जीवन-शक्ति का नाश कर देता है। ऐसे आलोचकों का क्रियात्मक जवाब बरमा के वर्तमान बौद्ध हैं, जिन्हें संसार भर में सब से अधिक निश्चिन्त और मौजी कहा जा सकता है; जापान के बौद्ध निवासियों की क्रियाशीलता तो विदित ही है।

बौद्ध धर्म का प्रचार—बौद्ध धर्म इतना शीघ्र क्यों व्यापक धर्म बन गया, इसके कारण स्पष्ट हैं। उन दिनों भारतवर्ष में ब्राह्मण पुरोहित और धर्माचार्य व्यर्थ के क्रिया-कलाप को इतनी

महत्ता देते थे कि उनके खिलाफ़ जनता में प्रतिक्रिया की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। महात्मा बुद्ध ने अपनी असाधारण प्रतिभा और सत्यज्ञान के बल पर इस प्रतिक्रिया का नेतृत्व किया। वह एक बड़े कुलीन वंश के राजकुमार थे, उनका महान त्याग उन्हें सर्वप्रिय बनाने में और भी अधिक सहायक हुआ। राज्य, धन और परिवार इन सब का मोह छोड़ कर जो प्रतिभाशाली राजकुमार बरसों तक सत्य की खोज में जंगलों की खाक छानता फिरा, उसके व्यक्तित्व की उज्ज्वल गरिमा से पुरोहितों के खिलाफ़ उठी हुई प्रतिक्रिया यदि देशव्यापी ज्वालाओं के रूप में भभक पड़ी, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है। बुद्ध ने धर्म के बन्द फाटक को खोल कर भारत की जनता को सत्य की वह राह दिखा दी, जिस पर चलने के लिए किसी प्रकार का आडम्बर करने की आवश्यकता नहीं है, जिस पर चलने से कोई किसी को रोक नहीं सकता। क्षत्रियों ने उस क्षत्रिय राजकुमार की बातों को स्वभावतः अधिक ध्यान के साथ सुना होगा, क्योंकि वह उन्हें ब्राह्मणों की बौद्धिक अधीनता से मुक्त कर रहा था। बुद्ध की शिक्षाएँ इतनी सरल और इतनी स्पष्ट हैं, कि उनके प्रचार में अवश्य ही कोई बाधा न हुई होगी। साथ ही, बुद्ध ने अपने उपदेश उस भाषा में दिये थे, जो सर्वसाधारण में बोली और समझी जाती थी। उनकी सरल और व्यावहारिक शिक्षाओं को, जो चाहे व्यवहार में ला सकता था; वहाँ किसी किस्म की बाधा या आडम्बर नहीं किया जाता था। भिक्षु संघ द्वारा भी बौद्ध धर्म के प्रचार में असाधारण सहायता मिली और कालान्तर में शक्तिशाली सम्राट् अशोक ने अपने राज्य की सम्पूर्ण शक्ति लगा

कर बौद्ध धर्म को विश्वव्यापी धर्म बना दिया।

प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य— प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य 'त्रिपिटक' नाम से प्रसिद्ध है। इन्हें विनय, सूत्त और अभिधम्म कहते हैं। इन तीनों में क्रमशः संघ के संगठन सम्बन्धी निर्देश, महात्मा बुद्ध के उपदेश और बौद्ध शिक्षाओं की दार्शनिकता वर्णित है। कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध के देहावसान के बाद उनके बड़े-बड़े शिष्यों ने राजगृह में एक महासभा बुलाई थी और उसमें त्रिपिटक का निर्माण किया गया था। यह सम्भव है कि त्रिपिटक का वर्तमान रूप बनने में एक शताब्दी का समय लगा हो।

जैन धर्म

जैन धर्म के प्रारम्भिक आचार्य—जैन मत का प्रारम्भ वर्धमान महावीर से स्वीकार किया जाता है। परन्तु जैन साहित्य के अनुसार जैन मत के संस्थापकों, उनके तीर्थकरों में, वर्धमान महावीर अन्तिम थे। ये सभी तीर्थंकर क्षत्रिय जाति के थे। इन २४ तीर्थंकारों में प्रथम का नाम "ऋषभ" था। वह अयोध्या के राजा के पुत्र थे। प्रारम्भ के बाईस तीर्थंकरों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, तेईसवें तीर्थंकर का नाम 'पार्श्व' था। उनका जन्म चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर से २५० वर्ष पूर्व हुआ था। उन्होंने अपनी शक्ति तथा सुधारात्मक प्रवृत्ति के आधार पर लोगों में पुनर्जीवन का संचार किया था।

महावीर का जीवन—वैशाली के एक क्षत्रिय राजवंश में महावीर का जन्म हुआ था। उनका प्रारम्भिक नाम वर्धमान था। ३० वर्ष की आयु में घर-बार छोड़ कर वर्धमान तपस्वी बन गए।

वह पार्श्व मत में दीक्षित हो गए। १२ वर्ष की कठोर तपस्या के बाद, जैनग्रन्थों के कथनानुसार, उन्हें लक्ष्य सिद्धि हो गई, और वह 'निर्ग्रन्थ'—बन्धन रहित—बन गए। तब से वह अपने को महावीर तथा जिन—विजयी—कहलाने लगे। 'जिन' शब्द से ही "जैन" शब्द का प्रारम्भ हुआ। इसके बाद, करीब ३० वर्षों तक वह सम्पूर्ण पूर्वीय भारत में घूम-फिर कर जैन धर्म का प्रचार करते रहे। महावीर का कार्य क्षेत्र भी वही था, जो महात्मा बुद्ध का कार्य क्षेत्र था। उनका सम्बन्ध भी बिम्बसार, अजातशत्रु आदि से पड़ा। स्वयं राजवंश का होनेके कारण अनेक राज पुरुषों पर उनका पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा। राजगृह के निकट एक स्थान पर ७२ वर्ष की आयु में महावीर का देहान्त हुआ। कहा जाता है कि उस समय तक उनके, १४ हज़ार अनुयायी हो चुके थे। उनके देहान्त का वर्ष ५२७ ईसा पूर्व स्वीकार किया जाता है। परन्तु जैकोबी के कथनानुसार ४७७ ईसा पूर्व में उनका देहान्त हुआ।

जैन सिद्धान्त—जैन लोग ईश्वर की सत्ता से इन्कार करते हैं। वे वेद और ब्राह्मणों की प्रमाणिकता का मज़ाक उड़ाते हैं। वे मनुष्य की दोहरी सत्ता स्वीकार करते हैं। एक भौतिक और दूसरी आध्यात्मिक। कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त वे भी मानते हैं। जैन दर्शन में सूक्ष्म सिद्धान्तों की भरमार है। जैन धर्म का मुख्य उद्देश्य तीन साधनों, शुद्ध विश्वास, शुद्ध ज्ञान, और शुद्ध क्रिया द्वारा आत्मा को प्रकृति के बन्धन से मुक्त करना है। व्यवहारिक आचार शास्त्र की दृष्टि से वे अहिंसा को सब से अधिक मुख्यता देते हैं। यदि अहिंसा को ही जैन धर्म का आधार कहा जाय, तो

इसमें कुछ भी अनौचित्य न होगा। उनके कथनानुसार वृक्ष आदि सभी वस्तुओं में पृथक-प्रथक चेतना है। किसी जीव को ज़रा भी कष्ट न पहुँचाने में ही मनुष्य जीवन की सफलता है। जैन लोग तपस्या को ही मोक्ष का साधन मानते हैं। पूर्ण उपवास-पूर्वक अपने जीवन का अन्त कर लेना, जैन धर्म की दृष्टि से, एक महान् पुण्य है।

जैन धर्म यद्यपि कभी भारतवर्ष भर में व्याप्त नहीं हुआ, तथापि पिछले २५०० वर्षों में वह इस देश का एक महत्वपूर्ण सम्प्रदाय अवश्य रहा है। उसके पिछले इतिहास की कुछ संक्षिप्त बातों का यहाँ निर्देश करना अभीष्ट होगा।

जैन मत का इतिहास—सम्भवतः महावीर के देहान्त के बाद जैन लोगों में मतभेद खड़े हो गए होंगे। यह मतभेद कब हुआ, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु जैन लोगों में दो मुख्य भेद बहुत दिनों से चले आरहे हैं। ये दोनों एक दूसरे से बड़ी घृणा करते रहे हैं। अब तक भी इन दोनों में परस्पर खान-पान और विवाह आदि के सम्बन्ध नहीं होते। इन दोनों का साहित्य भी पृथक-पृथक है। कम से कम ईसवी सन् के प्रारम्भ से तो अवश्य ही पूर्व इन दोनों विभागों का जन्म हो चुका था। ये विभाग श्वेताम्बर और दिगम्बर के रूप में हैं। श्वेताम्बर जैन सफेद कपड़े की पोशाक पहनते हैं और वे वस्त्र धारण करने को पाप नहीं मानते। दिगम्बर जैन नग्न रहने में ही धर्म समझते हैं; आज भी अनेक दिगम्बर नंगे रहते हैं। इन दिगम्बरों में ४ भेद हैं और श्वेताम्बरों में ८४ भेद। कहा जाता है कि ये भेद ईसा की दसवीं शताब्दी से शुरू हुए। इन ८८ भेदों के अतिरिक्त जैनों

में यति और अनुयायी नाम के दो और भेद भी हैं। यति संन्यासियों के समान होते हैं और सामान्य अनुयाइयों से इनका दर्जा बहुत ऊँचा होता है।

जैन मत का प्रचार—महावीर के बाद भी जैन मत में अनेक आचार्यों का जन्म हुआ। जैन साहित्य में इन आचार्यों के उपदेशों का संग्रह है। प्राचीन शिलालेखों तथा ताम्र लिपियों से यह प्रतीत होता है कि शुरू-शुरू में जैन मत, बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक रहा होगा। ईसा से चौथी सदी पूर्व दक्षिण भारत में भी जैन मत की सत्ता के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। अशोक के शिलालेखों में भी जैन लोगों का ज़िक्र है। जैन प्रथाओं के अनुसार सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य तथा सम्राट सम्प्रति जैन ही थे। ईसा से दूसरी सदी पूर्व में सुप्रसिद्ध राजा खारवेल ने जैन मत स्वीकार कर लिया। कुशान काल में जैन मत मथुरा में भी सर्वप्रिय रहा ईसवी सन् के प्रारम्भ से पूर्व तामिल प्रान्त में भी जैन धर्म का प्रचार था। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार महावीर के देहावसान के २०० वर्ष बाद उत्तरीय भारत में एक भारी दुर्भिक्ष पड़ा, और तत्कालीन जैन आचार्य भद्रबाहु अपने अनेक अनुयाइयों समेत दक्षिण में चला गया। यह भी कहा जाता है कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी राजपाट छोड़ कर जैन यति बन गये थे और उन्होंने आचार्य भद्रबाहु का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था। इस दक्षिण यात्रा में वह भी भद्रबाहु के साथ ही थे। महाराजा हर्ष के काल में जैनमत पूर्वीय भारत में भी प्रचलित हो गया था। तब तक जैन मत सुदूर दक्षिण में भी जा पहुँचा था। दक्षिण के चालुक्य और राष्ट्रकूट राजवंशों ने भी

जैन धर्म को स्वीकार कर लिया था। अमोघवर्ष, बिज्जल और कुमारपाल आदि सम्राट् कट्टर जैन थे।

जैनों पर धार्मिक अत्याचार—जैन धर्म शुरू ही से ब्राह्मणों का सख्त विरोधी था। उसकी सफलता से स्वभावतः ब्राह्मणों को जलन हुई। इतिहास में इस बात की अनेक साक्षियाँ हैं कि ब्राह्मणों ने जैन लोगों पर भारी अत्याचार किए। पांड्य राजाओं ने जैन मत के दमन का प्रयत्न विशेषतौर से किया। एक पांड्य राजा ने ८००० जैनों को कत्ल करवाया। मथुरा के विशाल मन्दिर की दीवारों पर, जैन लोगों पर किए गए इन धार्मिक अत्याचारों के अनेक चित्र खुदे हुए हैं। ११ वीं सदी में चोल राजाओं ने भी जैन लोगों पर भारी अत्याचार किए। बारहवीं सदी में गुजरात के एक शैव राजा ने जैन लोगों पर भयंकर अत्याचार किए। चौदहवीं सदी से, सम्भवतः इस्लाम के मुकाबले में आकर, हिन्दू मतावलम्बियों ने जैन लोगों पर धार्मिक अत्याचार करना बन्द किया। उपलब्ध शिलालेखों से यह भी विदित होता है कि विजयनगर के राजाओं ने किस प्रकार जैन तथा अन्य हिन्दू मतों में सन्धि स्थापन करने का प्रयत्न किया था।

आज के जैन—हिन्दू धर्म की अपने में जज्ब कर लेने की प्रवृत्ति तथा कुछ अंश तक जैन लोगों पर किए गए धार्मिक अत्याचारों की वदौलत आज भारतवर्ष में जैनों की संख्या अधिक नहीं है। भारतवर्ष भर में कुल मिला कर १३ लाख के करीब जैन हैं। इनमें से अधिकांश बम्बई, राजपूताना और मध्य भारत में निवास करते हैं। उनमें सम्पन्न व्यापारियों की भी एक बड़ी

संख्या है। वर्तमान जैन धनी और व्यवहार कुशल हैं। उनके मन्दिर सुन्दरता और स्वच्छता की दृष्टि से देश भर में प्रसिद्ध हैं। जैन लोग अभी तक पूर्णतया अहिंसात्मक हैं।

जैन साहित्य—जैत धर्म का साहित्य बड़ा विशाल है। इस साहित्य का पर्याप्त भाग काफ़ी प्राचीन है; यह प्राकृत भाषा में है। यद्यपि भारतीय संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से इस साहित्य का अध्ययन पर्याप्त उपयोगी है, तथापि "इसकी शैली वहुत अनाकर्षक है और उसमें हृदय को छूने की सामर्थ्य बहुत कम है।" प्रारम्भिक जैन लेखकों ने दक्षिण की द्राविड़ भाषाओं में भी पर्याप्त साहित्य लिखा। तामिल, तिलगू, कनाड़ी भाषाओं को सम्पन्न करने में जैन लेखकों ने बड़ा भाग लिया। तामिल के जीवक चिन्तामणि आदि जैन ग्रन्थों का द्राविड़ संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। इन लेखकों में हेमचन्द्र सर्वश्रेष्ठ था। बारहवीं सदी में वह राजा कुमारपाल के दरबार का रत्न था। हेमचन्द्र ने कुमारपाल को भी जैन धर्म में दीक्षित कर लिया था।

जैन निर्माण कला—जैन कला का सब से अधिक अच्छा प्रभाव तत्कालीन भवननिर्माणकला पर पड़ा। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में जैन भवन निर्माण कला उन्नति के शिखर पर पहुँच गई थी। जैन कला बौद्ध कला से सर्वथा भिन्न है। जैन तपस्वी अवशेषों के पूजक नहीं थे। वे संघ बना कर भी नहीं रहते थे। स्वभावतः उनकी इस मनोवृत्ति का प्रभाव उनकी कला पर भी पड़ा है। इसी कारण जैन कला में स्तूप और विहार इन दोनों का नितान्त अभाव है। उत्तर भारत में चित्तौड़ का

विजय स्तम्भ और आबू पर्वत के जैन मंदिर, जैन वास्तुविद्या के बहुत श्रेष्ठ उदाहरण हैं। ये जैन भवन बहुत शानदार है और इन्हें बनाने में निस्सन्देह बड़े सूक्ष्म कला-कौशल की आवश्यकता हुई होगी। दक्षिण में जैन कला का प्राचीन अवशेष श्रवन वेलगोल को विश्व प्रसिद्ध मूर्ति है। एक पहाड़ी पर एक बड़ी शिला को काट कर यह सत्तर फीट ऊँची मूर्ति घड़ी गई है। एक तपस्वी समाधि लगाए बैठा है और उसके शरीर के व्यवधानों में झाड़ झंखाड़ निकल आए हैं। यह मूर्त्ति गंग वंश के किसी राजा के एक मन्त्री ने ईसा की बारहवीं सदी के अंत में बनवाई थी। गुजरात में गिरनार और शत्रुञ्जय नामक स्थानों पर बड़े सुन्दर प्राचीन जैन मन्दिर हैं।

जैन और बौद्ध धर्मों में भेद—भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के अनुयायी आज ढूँढ़े भी नहीं मिलते; परन्तु जैन लोग आज भी बाकी हैं। किसी समय बौद्ध धर्म भारतवर्ष की बहुसंख्या का धर्म बन गया था और जैन धर्म कभी उतना व्यापक नहीं हुआ। तथापि बौद्ध धर्म इस देश में से नष्ट होगया और जैन धर्म, उसी प्रकार आज भी बाकी है। ऐसा क्यों हुआ? सम्भवतः इस का यही कारण है कि जैन मतानुयाइयों में एक हद तक परस्पर सहयोग की वह गहरी भावना उत्पन्न हो गई थी, जिस ने उन्हें अपने आदर्शों से डिगने नहीं दिया। जैन लोग पृथक् सम्प्रदायों के रूप में पृथक्-पृथक् परिवार का स्वरूप धारण कर गए थे। वे सदैव सम्पन्न और अध्यवसायी रहे। उन पर जो धार्मिक अत्याचार किए गए, उन से उनकी आन्तरिक प्रतिशोध की शक्ति और भी अधिक बढ़ गई होगी।

बौद्ध और जैन दोनों धर्म ईसा से छः-सात सदी पूर्व के धार्मिक पुनर्जीवन आन्दोलनों के दो पृथक्-पृथक् रूप थे। उन का विकास एक ही प्रान्त और एक ही जनता से शुरु हुआ। तत्कालीन धार्मिक जीवन के सिद्धान्तों और क्रियाओं की मिट्टी में से गौतम ने एक सुन्दर मर्तबान घड़ा और महावीर ने एक घरेलू तथापि टिकाऊ बर्तन तैयार किया।

दोनों आन्दोलनों में आधारभूत बातों के सम्बन्ध में इतनी समानता है कि शुरु-शुरु में कुछ विद्वानो को इस बात का भी भ्रम हो गया था कि जैन मत बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। दोनों धर्मों का प्रारम्भ क्षत्रियों में ही हुआ और दोनों ही को पुरोहितों के खिलाफ़ क्रान्ति के नाम से पुकारा जा सकता है। इन दोनों धर्मों का दृष्टिकोण सार्वभौमिक था; वे जातपात को स्वीकार नहीं करते थे, यद्यपि दोनों में से कोई भी जात-पात की जड़ उखाड़ने पर तुल नहीं गया। दोनों को ही ईश्वरवादी नहीं कहा जा सकता; यद्यपि दोनों ही ब्राह्मण देवताओं को बरदाश्त करते थे। पुनर्जन्म, कर्म और कुछ अंश तक अवतारवाद के सिद्धान्त का भी दोनों ने ही प्रतिपादन किया। दोनों ने वेद की अपौरुषेयता और हिंसापूर्ण याज्ञिक विधि-विधानों को स्वीकार नहीं किया।

दार्शनिक दृष्टि से दोनों में भेद है। बौद्ध धर्म आत्मा की अखण्ड और निरन्तर सत्ता को स्वीकार नहीं करता। उधर जैन लोग दो अमर आत्माएँ मानते हैं। जैन लोग तपस्या को सर्वश्रेष्ठ साधना मानते हैं और बौद्ध मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाले हैं। धार्मिक जीवन के आदर्शों की दृष्टि से भी दोनों में भारी

भेद हैं। बौद्ध धर्म मनुष्य के मस्तिष्क और आचार बुद्धि को जैन मत की अपेक्षा बहुत अधिक अपील करता है। जैन लोग एकान्त-वास को पसन्द करते हैं, और बौद्ध लोग संघ जीवन को। बौद्ध धर्म सदैव अपने को परिस्थितियो के अनुसार ढालता चला गया और जैन मत सदैव अपरिवर्तनशील बन कर रहा।

सातवां अध्याय

प्राग्मौर्य काल

१. राजतन्त्र तथा गण राज्य

षोडश महाजानपद—सातवी सदी ईसा पूर्व से भारत वर्ष का राजनीतिक इतिहास उतना अनिश्चित नहीं रहता। उस युग में हमें उत्तरोय भारत अनेक ऐसे राज्यों में बँटा हुआ प्राप्त होता है, जिन में परस्पर मिल जाने की प्रवृत्ति है। बौद्ध साहित्य में हमें उस युग के सोलह महाजानपदों के नाम उपलब्ध होते हैं। ये राज्य थे—

१.	काशी	९.	कुरु
२.	कोशल	१०.	पांचाल
३.	अंग	११.	मत्स्य
४.	मगध	१२.	शूरसेन
५.	वज्जी	१३.	अस्सक
६.	मल्ल	१४.	अवन्ति
७.	चेदी	१५.	गान्धार
८.	वत्स	१६.	काम्बोज

प्रारम्भिक जैन साहित्य में भी मामूली से भेद के साथ इन सोलह जनपदों की यही सूची प्राप्त होती है। इन में कुछ गण-

राज्य (प्रजातन्त्र) थे और बाकी राजतन्त्र राज्य। ये सब राज्य पूर्णतः स्वाधीन थे और जहां तक बन पड़ता था अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करते थे। प्रत्येक की महत्वाकांक्षा थी कि वह सम्पूर्ण आर्यावर्त का अधीश्वर बन जाय।

काशी—शुरु में काशी का राज्य सम्भवतः बहुत शक्तिशाली था। काशी की राजधानी, वाराणसी, तत्कालीन भारत का एक बहुत बड़ा नगर था। इसका विस्तार १२ योजन था। काशी के अनेक राजा सम्राट् पद प्राप्त करने के महत्वाकांक्षी थे। जैन इतिवृत्त के अनुसार प्रथम जिन पार्श्व यहाँ का ही एक राजकुमार था। सभी शक्तिशाली राजा काशी राज्य को ईर्ष्या के साथ देखा करते थे।

कोशल—बुद्ध के जीवन काल में कोशल के राज्य की महत्ता बहुत अधिक थी। यह वर्तमान अवध के स्थान पर था और इस का क्षेत्रफल वर्तमान फ्रांस से कुछ ही कम था। शाक्य वंश की राजधानी कपिलवास्तु भी कोशल में ही थी थी। कोशल के दो मुख्य नगरों में अयोध्या कभी इस राज्य का केन्द्र रह चुका था और श्रावस्ती उन दिनों कोशल की राजधानी थी। श्रावस्ती तत्कालीन भारत के छः सब से बड़े नगरों में से थी। अयोध्या की महत्ता इस समय तक बहुत कम हो चुकी थी। ईसा से ६ ७ सदी पूर्व कोशल एक शक्तिशाली राज्य था। चार पीढ़ियों में कोशल का राज्य बहुत विस्तृत हो गया और उसने क्रमशः काशी राज्य को अपने अधीन कर लिया। तब मगध की बढ़ती हुई शक्ति के साथ कोशल का भारी संघर्ष हुआ। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप क्रमशः

काशी राज्य मगध का ही भाग बन गया।

अंग—मगध के पूर्व की ओर अंग राज्य था। अंग की राजधानी चम्पा की स्थिति राजगृह, श्रावस्ती, बनारस और कौशाम्बी के समान थी। चम्पा का व्यापार बहुत उन्नत था। पूर्व भारत से व्यापार करने का केन्द्र चम्पा नगरी ही थी। ख्याल है कि इंडो-चाइना में चम्पा उपनिवेश का नाम इसी चम्पा के नाम के आधार पर ही रक्खा गया था और विशाल भारत के इस चम्पा उपनिवेश में अंग के ही अधिकांश भारतीय आबाद हुए थे। बाद में मगध के प्रतापी राजा बिम्बिसार ने चम्पा को जीत कर अंग राज्य को अपने राज्य में मिला लिया।

मगध—पूर्व भारत में मगध का राज्य शुरु-शुरु में यद्यपि बहुत छोटा था, तथापि उसकी शक्ति बढ़ती पर थी। इसकी राजधानी राजगृह को एक अमेद्य नगर समझा जाता था। बुद्ध के जीवन-काल में मगध पर पौराणिक इतिहास के अनुसार शिशुनाग वंश का राजा बिम्बिसार राज्य कर रहा था। परन्तु बौद्ध इतिवृत्त के अनुसार शिशुनाग स्वयं ही बिम्बिसार के बाद उत्पन्न हुआ। अंग के राजा ने बिम्बसार के पिता को हराया था। बिम्बिसार ने अपने पिता की इस पराजय का प्रतीकार किया और क्रमशः मगध को एक बहुत शक्तिशाली राज्य बना दिया। एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक के शब्दों में बिम्बिसार ने जिस विजयी तलवार को म्यान से बाहर निकाला था, वह तब तक बराबर चलती रही, जब तक सुप्रसिद्ध कलिंग विजय के बाद सम्राट् अशोक ने जानबूझ कर पुनः उसे म्यान में नहीं डाल दिया।

वज्जी—तत्कालीन गणराज्यों में वज्जी लोग सब से अधिक शक्तिशाली थे । यह वज्जी राज्य आठ गणराज्यों का एक संघ था । इनमें लिच्छवी गणराज्य की करीब १००० वर्षों तक भारतवर्ष के इतिहास में बड़ी महत्वपूर्ण स्थिति रही । लिच्छवी लोगों की राजधानी वैशाली का घेरा करीब १०, १२ मील था । वह पाटलिपुत्र से केवल २७ मील दूर ही थी । वज्जी संघ के विदेह गणराज्य का अभ्युत्थान सम्भवतः प्राचीन मिथिला के विदेह वंश के अवसान के वाद हुआ था । रामायण में जिस विशाला नगरी का वर्णन आता है, मुमकिन है कि वह विशाला नगरी इस युग की वैशाली हो । इन गणराज्यों में से अनेक का निर्माण सम्भवतः एकतन्त्र शासन के स्थान पर कुलीनतन्त्र प्रजासत्तात्मक शासन की स्थापना द्वारा हुआ होगा ।

लिच्छवियों का प्रादुर्भाव—विन्सैंएट स्मिथ तथा कतिपय अन्य ऐतिहासिकों के मतानुसार प्राचीन भारत की लिच्छवी आदि प्रजासत्तात्मक जातियों का उद्गम विदेशों में हुआ था । उनके न्याय-विधान तथा अन्त्येष्टि क्रिया की विधि के आधार पर स्मिथ ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ये जातियाँ वास्तव में तिब्बती थीं । परन्तु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य इस बात में एक मत हैं कि ये जातियाँ क्षत्रिय वर्ण की थीं । यह भी कहा जाता है कि वास्तव में इन जातियों का उद्गम विदेश में ही हुआ था, परन्तु भारतवर्ष में आकर जब ये जातियाँ आर्य संगठन का भाग बन गईं तब, तत्कालीन ब्राह्मणों ने इन्हें क्षत्रिय वर्ण दे दिया । परन्तु ऐतिहासिक साक्षियों से यह ज्ञात होता है कि इन जातियों के अनेक प्रसिद्ध पुरुषों ने ब्राह्मण विरोधी आन्दोलनों का नेतृत्व किया । इस दशा में, यदि

ये जातियाँ सचमुच विदेशी होतीं, तो तत्कालीन ब्राह्मण उन्हें क्षत्रिय कदापि स्वीकार न करते । यह सम्भव प्रतीत होता है कि वास्तव में ये लोग क्षत्रिय हों और ब्राह्मण विरोधी होने के कारण इन्हें 'व्रात्य' गिना जाने लगा हो।

वज्जियों का ह्रास—महात्मा बुद्ध के समय जो लिच्छवी जाति बहुत समुन्नत दशा में थी, उसका अभ्युदय कब शुरु हुआ, इस सम्बन्ध में अभी तक कोई ऐतिहासिक साक्षी प्राप्त नहीं हो सकी। कहा जाता है कि महावीर और अजातशत्रु का जन्म लिच्छवी राजकुमारियों से हुआ था। वज्जी लोग मगध राज्य के शत्रु थे। कहा जाता है, कि उन्होंने बिम्बिसार के शासनकाल में मगध पर आक्रमण भी किया था । अजातशत्रु के शासनकाल में पासे पलट गए। उसने वज्जी गणराज्य पर पूर्णरूप से सफल आक्रमण किया । इसी अवसर पर अजातशत्रु ने वर्तमान पटना की भूमि पर पाटलिपुत्र नाम के एक किले का निर्माण किया; कुछ ही समय बाद यह स्थान भारतवर्ष का सब से बड़ा और शक्तिशाली नगर बन गया। क्रमशः वज्जी गणराज्य की शक्ति का पूर्ण ह्रास हो गया।

मल्ल—इस युग में मल्ल जाति भी गणराज्य बना कर रहती थी। सम्भव है कि शुरु में कभी मल्लों में राजतन्त्र भी रहा हो। कुशीनर और पावा ये दोनों मल्लों के प्रसिद्ध नगर थे। सम्भवतः अजातशत्रु के विरोध में उन्होंने वज्जियों का साथ दिया था। अन्त में मल्ल गणराज्य भी मगध की बढ़ती सीमा के अन्तर्गत हो गया।

वत्स—वत्स लोगों की राजधानी का नाम कौशाम्बी था। यह नगरी वर्तमान अलाहाबाद के निकट थी । यह राज्य सम्भवतः

काशी राज्य की एक शाखा ही था। कहा जाता है कि वत्स राज्य के एक राजकुमार का विवाह विदेह की एक राजकुमारी से हुआ था। उस ने अंग की राजधानी चम्पा पर आक्रमण किया। सुप्रसिद्ध उदयन इसी का पुत्र था। महात्मा बुद्ध के जीवनकाल में उदयन ही राज्य कर रहा था।

कुरु—सम्राट् युधिष्ठिर से कुरु वंश का प्रारम्भ माना जाता है। कुरुवंश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ नगर था। बुद्ध के जीवन-काल में भी इन्द्रप्रस्थ एक सम्पन्न नगर था। सम्भवतः मुख्य राजवंश के कौशाम्बी चले जाने के कारण इन दिनों कुरु लोगों का राज्य बहुत छोटा बच रहा होगा।

चेदी। वर्तमान बुन्देलखण्ड के स्थान पर जमुना नदी के निकट चेदी वंश का राज्य था।

पांचाल, मत्स्य और शूरसेन—पांचाल राज्य दो भागों में विभक्त स्वीकार किया जाता है। उत्तर-पांचाल, जो वर्तमान बरेली ज़िले के स्थान पर था, की राजधानी अहिच्छत्र नगरी थी। दक्षिण राजधानी का नाम काम्पिल्य था। दक्षिण पांचाल का विस्तार गङ्गा से चम्बल तक था। तत्कालीन पांचाल राज्य के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। मत्स्य और शूरसेन के सम्बन्ध में भी अभी तक बहुत कम ज्ञात है। शूरसेन की राजधानी मथुरा थी।

अस्सक—गोदावरी के तट के समीप अस्सक राज्य विस्तृत था; उसकी राजधानी पोतना थी। बाद में सम्भावतः उस में कलिङ्ग भी सम्मिलित होगया। वह कभी अवन्ति से भी सम्बद्ध

रही। एक जातक कथा के आधार पर एक समय अस्सक काशी के राज्य में सम्मिलित था।

अवन्ति—महात्मा बुद्ध के समय अवन्ति राज्य की राजधानी उज्जैन नगरी में चण्ड प्रद्योत राज्य कर रहा था। उसके पास एक प्रबल सेना थी। यहाँ तक कि चण्ड प्रद्योत के भय से शक्तिशाली राजा अजातशत्रु को भी सचेष्ट हो जाना पड़ा था। उसने पड़ौसी राज्य कौशाम्बी के राजा उदयन पर आक्रमण किया। बाद में एक विवाह द्वारा इन दोनों राजाओं में सम्बन्ध उत्पन्न हो गया।

उज्जैन—तक्षशिला की तरह उज्जैन भी शिक्षा का एक महान् केन्द्र था। उज्जैन का व्यापार भी बड़ा उन्नत था। पश्चिमी भारत की बन्दरगाहों पर उज्जैन से होकर ही, सामान आता-जाता था। शुरू ही से उज्जैन बौद्ध धर्म का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। अनेक विद्वानों का विश्वास है कि बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक धर्मग्रन्थों का निर्माण उज्जैन की भाषा में ही हुआ था।

गान्धार—गान्धार राज्य में सम्भवतः वर्तमान काश्मीर तथा तक्षशिला भी सम्मिलित थे। जैन इतिवृत्त के अनुसार गन्धार के एक राजा ने जैन धर्म की दीक्षा ली थी। छठी सदी ईसा-पूर्व में गान्धार के एक राजा ने अवन्ति नरेश प्रद्योत पर आक्रमण किया था। छठी सदी ईसापूर्व के पिछले भाग में गान्धार को फारसी लोगों ने विजय कर लिया। सन ५१६ ईसापूर्व में लिखे गए देरियस (Darius) के एक शिलालेख के अनुसार उन दिनों गान्धार आखीमनिअन साम्राज्य (Achaemenian Empire) का भाग था।

काम्बोज—कई बार कम्बोज और गान्धार को एक साथ मिला दिया जाता है। यह राज्य भी उत्तरपश्चिमी भारत में ही था। इसकी पश्चिमी सीमा सम्भवतः 'काफ़िरिस्तान' से मिलती थी, जहाँ आज तक भी "कामोजे" नाम की एक जाति मिलती है। राजपुर इसकी राजधानी थी। बाद में काम्बोज भी एक गणराज्य बन गया। कौटिल्य ने काम्बोज की गणना एक संघ के रूप में ही की है।

गणराज्य—इस तरह, हम देखते हैं कि, महात्मा बुद्ध के जीवन काल में उत्तरीय भारत में कोशल, मगध, अवन्ति और कौशाम्बी नाम के चार शक्तिशाली राज्य थे। इसके अतिरिक्त बहुत से छोटे-छोटे राज्य भी थे। इन सब राजतन्त्र राज्यों के साथ ही साथ अनेक गणराज्य भी थे। इनमें से कुछ में पूर्ण प्रजातन्त्र शासन था और कुछ में आंशिक प्रजातन्त्र। इनमें से १५ गणराज्यों के नाम हमें आज भी उपलब्ध होते हैं। इनका राज्यप्रबन्ध निर्वाचित राज-सभाओं द्वारा होता था। राज्य के प्रधान कार्यकर्त्ता भी बाक़ायदा चुने जाते थे। अनेक शताब्दियों तक इन प्रजातन्त्र गणराज्यों ने उत्तरीय भारत की राजनीति में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। बाद में बढ़ती हुई विभिन्न राजसत्ताओं के सन्मुख इन गणराज्यों को सिर झुकाना ही पड़ा।

इन गणराज्यों में वज्जी और मल्लों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त कपिलवास्तु के शाक्यों, उनके पूर्वीय पड़ोसी भग्गों, जो इस समय तक वत्सराज्य की आंशिक अधीनता में थे, बुली और कलमश जिनके सम्बन्ध में अभी तक बहुत कम ज्ञात है, और मोरिय गणराज्यों का निर्देश भी किया जा सकता है। सम्भवतः इसी मोरिय जाति के एक महा-

पुरुष चन्द्रगुप्त ने भारतवर्ष में शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी।

२. मगध का अभ्युत्थान

काशी का पतन—ईसा से सातवीं और छठी सदी पूर्व उत्तरीय भारत के राज्य शक्ति संग्रह के लिए सङ्घर्ष कर रहे थे। सम्भवतः इनमें कोशल की शक्ति द्वारा काशी का पतन सब से पूर्व हुआ यद्यपि शुरू शुरू में काशी जीतता हुआ प्रतीत होतां था। छठी सदी ईसापूर्व तक काशी कोशल राज्य का आन्तरिक भाग बन गया था और कोशल के राजा का भाई उसके प्रतिनिधि रूप से काशी पर राज्य कर रहा था।

बिम्बिसार—महात्मा बुद्ध के जीवन काल में मगध पर बिम्बिसार राज्य कर रहा था। तत्कालीन मद्र, कोशल, वैशाली आदि अनेक शक्तिशाली राज्यों के शासकों के साथ बिम्बिसार ने अपना नाता जोड़ लिया था। अपने युवराज्यत्व के दिनों में ही उसने अङ्ग को विजय किया और कहा जाता है कि १५ बरस की आयु में उसके पिता ने उसे राजा बना दिया। बिम्बिसार को मगध साम्राज्य का संस्थापक कहा जा सकता है। उसकी नातेदारियों से मगध को अपनी उन्नति करने का पूर्ण अवसर मिल गया। उसने जब कोशल की एक राजकुमारी से विवाह किया, तब दहेज में उसे काशी राज्य का एक उपजाऊ भाग मिला, जिस से उसकी वार्षिक आय बहुत बढ़ गई। अङ्ग के नवविजित राज्य पर मगध राज्य का एक राजकुमार चम्पा के राजप्रतिनिधि के नाम से शासन कर रहा था। बिम्बिसार एक शक्तिशाली शासक था और

उसके राज्य में पूर्ण व्यवस्था थी। उसके राज्य में करीब २०००० गांव अन्तर्गत थे। इन सब के मुखिया राजसभा में एकत्र हुआ करते थे। कहा जाता है कि देवदत्त के भड़काने पर युवराज अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बिसार का वध कर दिया। डा० स्मिथ इस बौद्ध अनुश्रुति को सत्य स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि बिम्बिसार की स्वाभाविक मृत्यु के बाद अजातशत्रु उनका उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ। सम्भवतः अजातशत्रु ही अपने पिता के प्रतिनिधि रूप से चम्पा पर शासन कर रहा था।

अजातशत्रु—मगध राज्य का शासक बन जाने के बाद अजातशत्रु ने शक्ति संचय और राज्य विस्तार का कार्य शुरु किया। शीघ्र ही अजातशत्रु और कोशल राज्य में एक भयंकर संघर्ष हुआ। यह संघर्ष बहुत लम्बा खिंच गया। इस झगड़े की जड़ में काशीराज्य के उस भाग का सवाल था जो कोशल की तरफ़ से अजातशत्रु के पिता को दहेज रूप में दिया गया था। अनेक भयंकर चढ़ाइयों के बाद अजातशत्रु सम्पूर्ण काशीराज्य तथा कोशल राज्य के भी कुछ भाग को हस्तगत करने में सफल हो गया। इधर वैशाली की अध्यक्षता में अनेक गणराज्यों ने अजातशत्रु के खिलाफ़ गुप्त संधी कर ली थी। कोशल की ओर निश्चिन्त हो कर अजातशत्रु ने वैशाली पर आक्रमण कर दिया। यह युद्ध करीब १६ बरसों तक चलता रहा। अन्त में अजातशत्रु को, उन गण राज्यों में परस्पर विरोध के अंकुर उत्पन्न कर देने में सफलता प्राप्त हो गई। इसके बाद पूर्वीय भारत में मगध एक शक्तिशाली राज्य बन गया। एक जगह इस बात का भी उल्लेख है कि उज्जैन के आक्रमण के भय से अजातशत्रु ने अपनी राजधानी की क़िले-

बन्दी शुरू की थी। प्रतीत होता है कि अजातशत्रु को अवन्ति की विजय में सफलता प्राप्त नहीं हुई।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी—पौराणिक इतिवृत्त के अनुसार राजा दर्शक अजातशत्रु का उत्तराधिकारी बना। बौद्ध और जैन इतिवृत्त में उसका नाम नहीं है, परन्तु कविवर भास की 'स्वप्न वासवदत्ता' नामक सुप्रसिद्ध कृति से दर्शक की सत्ता सिद्ध होगई है। अजातशत्रु ने पाटलिपुत्र नाम के एक किले का निर्माण किया था। राजा दर्शक के पुत्र उदयन ने मगध राज्य की राजधानी इसी किले को बना दिया। यह स्थान-परिवर्तन सम्भवतः इस कारण किया गया कि पाटलिपुत्र मगध राज्य के केन्द्र में था। अब सिर्फ अवन्ति ही मगध का प्रतिद्वन्दी था। प्रतीत होता है कि उदयन के जमाने में भी मगध और अवन्ति का पारस्परिक संघर्ष जारी था। ऐतिहासिक जायसवाल के अनुसार पटना म्यूजियम की एक प्रसिद्ध प्रस्तरमूर्त्ति राजा उदयन की मूर्त्ति ही है। उदयन के बाद क्रमशः नन्दिवर्धन और महानन्दी मगध राज्य के राजा बने। इसके बाद, लंका की एक अनुश्रुति के अनुसार, यह वंश समाप्त हो गया।

शिशुनाग—इस वंश के एक राजा का नाम शिशुनाग था। परन्तु पौराणिक इतिवृत्त के अनुसार यह राजा ही इस राज्यवंश का स्थापक था। शिशुनाग ने अवन्ति के प्रद्योत वंश की शक्ति और प्रभाव को बड़ा धक्का पहुँचाया। शिशुनाग की मृत्यु के बाद उसका पुत्र कालवर्णा राजा बना। सम्भवतः यह कालवर्णा ही बौद्ध इतवृत्त का कालाशोक है। कालवर्णा के राज्यकाल की सब से बड़ी घटना बौद्धों की द्वितीय महासभा थी। इस महासभा का अधिवेशन वैशाली में हुआ था।

नन्द वंश—शिशुनाग वंश के बाद नन्दवंश का प्रारम्भ हुआ। नन्द वंश का प्रथम राजा महापद्म था। वह नीच कुल में पैदा हुआ था। पौराणिक इतिवृत्त के अनुसार उसका पिता शिशुनाग वंश का अन्तिम राजा था और उस की माता एक शूद्राणी थी। जैन इतिवृत्त के अनुसार वह एक नाई का पुत्र था। ग्रीक लेखक कर्टियस (Curtius) के लेखों से इसी जैन इतिवृत्त की पुष्टि होती है।

नन्द साम्राज्य—प्रतीत होता है कि इस महापद्म में सैनिक सङ्गठन की असाधारण प्रतिभा थी। पुराणों में लिखा है कि उसने सम्पूर्ण क्षत्रिय राजवंशों का नाश करके सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना करली थी। महापद्म के बाद इक्ष्वाकु, कुरु पाञ्चाल, काशी, मैथिल, अश्मक, शूरसेन आदि प्राचीन राजवंशों का नाम तक भी दिखाई नहीं देता। ग्रीक इतिवृत्त के अनुसार भी महापद्म पाटलिपुत्र का एक असाधारण शक्ति सम्पन्न राजा था। कुछ प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि नन्द राजाओं ने कलिंग पर भी धावा किया। यह भी सम्भव है कि नन्द राज्य में दक्षिण का कुछ भाग भी सम्मिलित हो। पुराणों के अनुसार महापद्म ने २२ वर्ष राज्य किया। सम्भवत: वहाँ २२ की जगह २८ लिख दिया गया हो। तारानाथ ने महापद्म के राज्य काल की अवधि २६ वर्ष लिखी है और लंका के इतिवृत्त के अनुसार यह केवल २२ वर्ष हैं।

महापद्म के बाद उस के आठ पुत्रों ने बारह वर्ष राज्य किया। ये नन्द राजा अपने वैभव के लिए प्रसिद्ध थे। न केवल उनका राज्य ही बहुत बड़ा था, अपितु उनके पास एक बड़ी स्थिर

सेना थी, और उनके कोश में यथेष्ठ द्रव्य था। ग्रीक उल्लेखों के अनुसार उन के पास २०००० घुड़सवार, २००००० पैदल, २००० चार-चार घोड़ों वाले रथ, और ३००० हाथी थे। तामिल साहित्य, ह्यान च्यांग (Yuan Chwang) और कथासारित्सागर में नन्द राजाओं के वैभव का वर्णन उपलब्ध होता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के जगत्प्रसिद्ध प्रधानमन्त्री आचार्य चाणक्य ने शक्तिशाली नन्दवंश का समूल नाश कर दिया। प्राचीन संस्कृत साहित्य में इसका उल्लेख मिलता है। नन्दवंश के विनाश की ऐतिहासिक घटनाएं विस्तार के साथ ज्ञात नहीं हैं, तथापि यदि मुद्राराक्षस के वर्णन को ऐतिहासिक स्वीकार कर लिया जाय, तो यह कहा जा सकता है कि आचार्य चाणक्य ने नन्दवंश का नाश युद्धों द्वारा नहीं, अपितु कूटनीति द्वारा ही किया था।

३. पर्शियन आक्रमण

प्रतीत होता है कि इन दिनों पञ्जाब का प्रदेश करीब १४ छोटे-छोटे और कमज़ोर राज्यों में विभक्त था। इससे विदेशी आक्रान्ताओं ने इन असङ्गठित राज्यों को प्रलुब्ध दृष्टि से देखना शुरू किया।

५३८ ईसा पूर्व में पश्चिमी एशिया के महान सैमेरिक साम्राज्य का विनाश हो गया। साइरस (Cyrus: ५५१—५३० ईसा पूर्व) ने बैबीलोन पर आक्रमण करके पर्शियन साम्राज्य की नींव डाली। कहा जाता है कि पहले उसने गैड्रेशिया द्वारा भारत में आने का एक असफल प्रयत्न किया। उसके बाद क़ाबुल की घाटी की राह से वह भारत की ओर बढ़ा। इस प्रयत्न में उसे सफलता प्राप्त हुई और

उस ने कपिशा नगर का ध्वंस करके सिन्धु नदी के पश्चिमी प्रान्त के एक भाग पर अपना अधिकार भी कायम कर लिया। तदनन्तर देरियस प्रथम (Darius : ५२२—४८६ ईसा पूर्व) ने इस पर्शियन साम्राज्य का खूब विस्तार किया। बाहिस्तान में देरियस का जो शिला-लेख उपलब्ध हुआ है उसमें पर्शियन साम्राज्य के प्रदेशों में गान्धार का भी उल्लेख है। बाद के एक और शिलालेख में पर्शियन साम्राज्य में सिन्धु नदी की घाटी का नाम भी है। देरियस ने सिन्धु नदी के मुहाने तक के प्रदेशों की जांच-पड़ताल करने के लिए स्काइलैक्स (Skylax) नाम के एक ग्रीक की अध्यक्षता में एक दल भेजा। इस गवेषणा में करीब ढाई साल लगे। देरियस ने सिन्धु नदी की घाटी को भी अपने राज्य में मिला लिया। यह उसके साम्राज्य का बीसवां उपनिवेश था। वह एक सम्पन्न प्रदेश था और उससे देरियस की आय बहुत बढ़ गई। यह आय करीब २ करोड़ रुपया वार्षिक थी। गान्धार पर्शियन साम्राज्य का सातवाँ उपनिवेश था। हिराडोटस के अनुसार सिन्धु नदी की घाटी का अधिकांश भाग पर्शियन साम्राज्य में मिल गया था और पूर्व में राजपूताने के रेगिस्तान तक इसका विस्तार था।

ज़रक्सीज़—देरियम प्रथम के बाद उसका पुत्र ज़रक्सीज़ (Xerxes : ४८६—४६५ ईसा पूर्व) उसका उत्तराधिकारी बना। उसने भी भारत में अपना साम्राज्य बनाए रक्खा। उसने जिस विशाल सेना के साथ ग्रीस पर चढ़ाई की थी, उस सेना में गान्धार और सिन्ध घाटी के सैनिक भी थे। भारत में पर्शियन साम्राज्य के दिनों में ही पर्शियन अफ़सरों के नीचे काम करने वाले भारतीय मुन्शियों ने आर्मेइक (Aramaic) अक्षरों से

खरोष्ठी लिपि का निर्माण किया। हाल ही में तक्षशिला से आर्मेइक लिपि के जो शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, वे चौथी या पांचवीं सदी ईसा पूर्व के हैं। तक्षशिला के रीतिरिवाजों पर भी पर्शियन प्रथाओं का गहरा प्रभाव पड़ा। पाटलिपुत्र के मौर्य राजाओं के रहन-सहन पर भी पर्शियन रहन-सहन का प्रभाव स्वीकार किया जाता है।

भारत के इन भागों में पर्शियन राज्य सम्भवतः एक शताब्दी तक या उससे भी कुछ अधिक समय तक रहा। यह नहीं कहा जा सकता कि पर्शियन लोगों का यह नियन्त्रण नष्ट कब से हुआ। यह स्पष्ट है कि देरियस तृतीय (३३५—३३० ई० पू०) के समय भारतीय प्रान्तों पर पर्शियन स्वामित्व नाममात्र को ही रह गया था। तथापि उस की सेना में भारतीयों का उल्लेख मिलता है। इस तक सम्पूर्ण उत्तरीय भारत पुनः छोटे छोटे राज्यों और प्रजातन्त्र गणों में विभक्त होगया था।

४. सिकन्दर के आक्रमण के समय का पंजाब

सिकन्दर के आक्रमण के समय पंजाब के निम्नलिखित राज्य थोड़े-बहुत शक्तिशाली थे—

१. अस्सकेनी राज्य—मालकन्द दर्रे के उत्तर में मस्सागा नाम के एक सुरक्षित और दुर्भेद्य दुर्ग में इस राज्य की राजधानी अवस्थित थी। यह अस्सकेनी नाम सम्भवतः उदयन के अश्मक या अश्वक राज्य के संस्कृत नाम का अपभ्रंश होगा। इस राज्य के राजा के पास २०००० घुड़सवार, ३०००० पैदल सेना तथा ३० हाथी थे।

२. तक्षशिला—प्राचीन भारत का यह प्रसिद्ध नगर प्राचीन गान्धार राज्य के पूर्वीय भाग में अवस्थित एक राज्य की राजधानी था। उन दिनों वहाँ आम्भो नाम का राजा राज्य कर रहा था।

(३) अभिसार—तक्षशिला के उत्तर-पूर्व में जेहलम और चनाब के बीच के छोटे और मध्यम ऊँचाई के पहाड़ों में यह राज्य अवस्थित था। सम्भवतः यह प्राचीन काम्बोज राज्य का एक अवशेष था। इस राज्य का राजा पुरु का मित्र था।

(४) पुरु का राज्य—चनाव और जेहलम के बीच के उपजाऊ मैदानों में राजा पुरु का राज्य था। यह स्थान वर्तमान जेहलम, गुजरात और शाहपुर के ज़िलों में है। पुरु के राज्य में करीब ३०० नगर थे। उसकी सेना में ३००० घुड़सवार, ५०००० पैदल सेना, १००० रथ और १३० हाथी थे। ग्रीक साहित्य में पुरु का नाम पोरस लिखा है। यह नाम सम्भवतः 'पौरव' से निकला है और यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि यह पुरु प्राचीन पुरु वंश का वंशधर हो, जिसका मूल निवासस्थान जेहलम के किनारे पर ही था।

(५) कठओई तथा अन्य राज्य—कठओई शब्द सम्भवतः संस्कृत के कठ शब्द से निकला है। यह जाति सम्भवतः अनेक गणराज्यों की मुखिया थी। वर्तमान गुरुदासपुर ज़िले के साँगला नाम के नगर में इसकी राजधानी थी। ये लोग युद्ध विद्या में बड़े निपुण थे। (६) सौभूति—का राज्य जेहलम के पूर्व में अवस्थित था। सौभूति के नागरिक अपनी बुद्धिमत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। बच्चों को पालने तथा शिक्षित बनाने का काम

राज्य की ओर से होता था। दोषपूर्ण या कुरूप बच्चों को सौभूति जाति के लोग बचपन ही में मार देते थे। इस जाति के कुछ सिक्के आज भी सुरक्षित हैं। (७) सिबोई—वर्तमान झंग ज़िले के शोरकोट नामक स्थान पर इनका राज्य था। सिबोई शब्द सम्भवतः संस्कृत के 'शिवि' शब्द का अपभ्रंश है। इनकी राजधानी शिविपुर का नाम अब शोरकोट हो गया है। इनकी सेना में ४०००० पैदल सैनिक थे। (८) ऑक्सिड्राकाई (क्षुद्रक)—ये लोग अपनी युद्ध-निपुणता के लिए सुप्रसिद्ध थे। व्यास और रावी के बीच के भूभाग पर इन का निवासस्थान था। (९) मलोई (मालव)—रावी नदी के निचले हिस्से की ओर, नदी के दोनों किनारों पर मालव लोगों का निवास था। इनके पास ९०००० पैदल सेना, १०००० घुड़सवार और ९०० हाथी थे। पाणिनी के अनुसार मालव लोगों का पेशा ही शस्त्रास्त्र था। प्रतीत होता है कि बाद में इस जाति के लोग राजपूताना और मालवा की ओर चले गए। (१०) अबस्तानोई (अम्बष्ठ)—यह गणराज्य चनाब नदी के निचले भाग की ओर अवस्थित था। ये लोग भी निपुण योद्धा थे और इनका पेशा युद्ध करना ही था। इनके पास ६०००० पदाति, ६००० घुड़सवार और ५०० रथ थे। बाद में ये लोग दक्षिण-पूर्व भारत में चले गए।

ग्रीक साहित्य में पंजाब की अन्य भी अनेक स्वाधीन जातियों का वर्णन है। ये राज्य एक दूसरे से निरन्तर लड़ते रहते थे। तक्षशिला का राजा आम्भी पुरुसे लड़ रहा था; अभिसार तथा उस का मित्र राष्ट्र पौरव क्षुद्रक और मालव लोगोंसे भी युद्ध कर रहे थे।

पुरु और उसके भतीजे में भी तीव्र वैमनस्य था। इन झगड़ों की बदौलत आक्रमणकर्ताओं का कार्य बहुत सुगम हो गया। इस बात के भी पूर्ण अवसर थे कि इस पारस्परिक ईर्ष्या के प्रभाव से कुछ राजा विदेशी आक्रान्ता का साथ देते। प्रतीत होता है कि शक्तिशाली नन्द राजाओं ने उत्तर-पश्चमीय भारत के इन छोटे-छोटे राज्यों को हथियाने का प्रयत्न ही नहीं किया।

विदेशी व्यापारिक सम्बन्ध

हम देख चुके हैं कि भारतवर्ष के पूर्वीय पड़ोसी राष्ट्रों के साथ चम्पा का व्यापार बड़ी उन्नति पर पहुँच गया था। लङ्का के इतिवृत्त के अनुसार बंगाल के विजय नामक एक राजकुमार ने छटी सदी ईसा पूर्व में लंका को जीत लिया और वह वहीं पर बस गया। उन दिनों पूर्वीय तट पर चम्पा और ताम्रलिप्ति बड़े महत्वपूर्ण बन्दरगाह थे।

व्यापार के प्राचीन मार्ग—पश्चिम के साथ भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध तीन मार्गों से था—(१) फ़ारस की खाड़ी का मार्ग सिन्धु नदी के दहाने से शुरु होकर यूफरेटस (Euphrates), एण्टिओक (Antioch) और लेवन्टाइन(Levantine) होते हुए जाता था। पश्चिमी तट के सुप्रसिद्ध बन्दरगाहों, भृगुकच्छ (भरोच) और शूरपारक (सुपारा), का अधिकांश व्यापार इसी सामुद्रिक मार्ग से होता था। इन बन्दरगाहों का सम्बन्ध एक सड़क द्वारा गंगा की सम्पन्न घाटी से था। यह सड़क उज्जैन कौशाम्बी, काशी और पाटलिपुत्र को मिलाती थी (२) समुद्र से ऊपर का मार्ग, जो उत्तर-पश्चिमी दर्रे से बल्ख (Balkh)

होता हुआ अक्षु (Oxus) नदी की राह से अथवा स्थलमार्ग से ही कैस्पियन समुद्र की ओर चला जाता था। इस व्यापारिक मार्ग पर तक्षशिला का अधिकार था। (३) तीसरा मार्ग पर्शियन और अरब समुद्रतटों से होता हुआ अदन की ओर जाता था, अदन से लाल सागर और स्वेज़ (Suez) होते हुए यह एक ओर तो मिश्र की ओर चला जाता था और दूसरी ओर टायर (Tyre) और सीडान (Sidon) की ओर। बल्ख, अदन, पाल्मीरा (Palmyra) आदि स्थान बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र थे और उन स्थानों पर व्यापारी लोग सामान बदलते रहते थे।

व्यापारिक सम्बन्धों की प्राचीनता—भारतवर्ष और पश्चिम के पारस्परिक व्यापार के प्रमाण प्राचीनतम काल से उपलब्ध होते हैं। मितानी के चौदह सदी ईसा पूर्व के जिस शिलालेख का पहले भी ज़िक्र किया जा चुका है, उस से प्रतीत होता है कि उस काल में भी भारत का लेन-देन एशिया माइनर तक फैला हुआ था। पश्चिमी भारत का रूई का व्यापार बहुत प्राचीन काल में जारी था। उर (Ur) के सुप्रसिद्ध खाल्डियन (Chaldean) मन्दिर में (६ सदी ईसा पूर्व) भारतीय सागवान की लकड़ी प्रयुक्त की गई थी। बावेरु जातक में उस भारतीय का वर्णन है, जो व्यापार के लिए बावेरु (बैबीलोन) गया था। उस युग के भारतीय जहाज़ बनाने की विद्या में बड़े निपुण थे और जातक ग्रन्थों के अनुसार वे इतने बड़े जहाज़ बनाते थे, जिन में ५०० से लेकर ७०० यात्री सवार हो सकें। प्राचीन भारतीय साहित्य में समुद्रयात्रा का निर्देश बहुत स्थानों पर है। निनेवा और बैबीलोन बहुत से भारतीय व्यापारियों को अपनी ओर आकृष्ट

किया करते थे। स्थल मार्ग की अपेक्षा सामुद्रिक मार्ग का प्रयोग अधिक किया जाता था। जूडिया के मार्ग से टायर और सीडान में भारतीय माल प्रभूतमात्रा में पहुँच जाता था।

व्यापार की मुख्य वस्तुएँ—मुख्यतया भारत का व्यापार हाथी-दांत, रूई के कपड़े, मोती, मसाले, सोना आदि बहुमूल्य वस्तुओं का ही होता था। पश्चिमी देशों में इन पदार्थों के जो नाम थे, उनमें से अनेक भारतीय नामों से ही निकले प्रतीत होते हैं। संस्कृत में रूई को 'कर्पास' कहते हैं, हिब्रू में कार्पास (Karpas) और ग्रीक में कारपारोस (Karparos)। हिब्रू में हाथीदांत का नाम संस्कृत के 'इभदन्त' नाम का शाब्दिक अनुवाद है। बन्दर के लिए संस्कृत का 'कपि' शब्द हिब्रू में 'कोफ' और मिश्र भाषा में 'काफू' हो गया है। मोर के पंखों के लिए तामिल का 'तोकेई' शब्द हिब्रू में 'थूकी-इम' (Thuki-im) हो गया है। हाथी के लिए संस्कृत का 'इभ' शब्द मिश्री में 'इब्रू' और इटैलियन में 'ईवुर' होगया है। इसी तरह संस्कृत और तामिल के चावल, मिर्च, अदरख, लौंग आदि के नाम प्राचीन ग्रीक नामों से बहुत मिलते हैं।

सिकन्दर के आक्रमण से बहुत समय पूर्व भी भारत और पश्चिमी एशिया में व्यापारिक सम्बन्ध रहे होंगे। तब भी भारत के साहसिक व्यापारियों ने भौगोलिक बाधाओं और पृथवी की राजनीतिक सीमाओं पर सफलता पूर्वक विजय प्राप्त की थी।

६. प्राचीन ग्रीक वृत्तान्त

हिराडोटस—भारतवर्ष के सम्बन्ध में जिन यूनानी लेखकों के लेख आज भी उपलब्ध होते हैं, उनमें हिराडोटस (जन्म वर्ष

४८८ ईसा पूर्व) सब से प्राचीन है। उस के अनुसार यूनान के पूर्व में भारतवर्ष संसार का अन्तिम छोर है। उसने लिखा है कि भारतवर्ष में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। उन में कुछ काले और अर्धसभ्य लोग हैं, और बाकी साफ रंग के सभ्य निवासी हैं। काले भारतीयों में अनेक बड़े घृणित रिवाज हैं, उनका रहन-सहन भी असभ्य है। हिराडोटस ने एक ऐसे पर्यटनशील भारतीय गिरोह का वर्णन भी किया है, जो किसी जीवधारी की हत्या नहीं करते। उसने सोना खोदने वाली कीड़ियों का उल्लेख भीकिया है।

हिराडोटस ने भारतवर्ष का जो वर्णन किया है, वह सम्भवतः स्काइलैक्स (Skylax) के वर्णनों पर आश्रित है। सब मिला कर वह सावधानतापूर्ण और शुद्ध है। उसने पंजाब के अत्यधिक शीतोष्ण जलवायु; भारतवर्ष के जानवरों तथा रुई आदि का मनोरंजक वर्णन किया है।

टेसिअस —(Ktesias) पांचवीं सदी ईसा पूर्व के अन्त में टेसिअस नाम का लेखक सूसा राज्य का चिकित्सक था। उसके लेखों से भारतवर्ष के सम्बन्ध में नया ज्ञान बहुत कम मिलता है। टेसिअस की कृतियों में फजूल की कहानियों की भरमार है।

७. सिकन्दर का आक्रमण

मैसिडोनिया के शक्तिशाली शासक महान् सिकन्दर ने कुछही वर्षों में एशिया माइनर, मिश्र तथा पर्शियन साम्राज्यके अन्य भागों को जीतलिया। पूर्वमें अफगानिस्तान के निकट तकका प्रदेश उसने हथिया लिया। ३२७ ईसा पूर्व में इस प्रतापी आक्रान्ता ने अपनी १२०००० सेना के साथ हिन्दुकुश पर्वत की सीमा पार करके भारत-

वर्ष की दीर्घकालीन शान्ति में खलल डाल दिया। अफ़गानिस्तान के सुघड़ सैनिकों ने पूरी शक्ति के साथ सिकन्दर की सेनाओं का मुक़ाबला किया, परन्तु नौ महीनों के भयंकर युद्ध के बाद अफ़गान लोगों को हार मान लेनी पड़ी और इस पार्वत्य प्रदेश के सुरक्षित दुर्ग सिकन्दर के हाथ में आगए। इस के बाद सिकन्दर ने अस्स-कनियों के केन्द्र मस्सागा पर चढ़ाई की। तीव्र मुक़ाबले के बाद, अस्सकनियों पर विजय प्राप्त कर, सिकन्दर ने मस्सागा में कत्लेआम का घृणित हुक्म दे दिया। इस समय तक भी पंजाब और सिन्धु नदी की घाटी के छोटे-छोटे राज्य पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष में डूबे रहे और उन्हों ने इस सांझे दुश्मन की ओर ध्यान नहीं दिया। किसी ने सिकन्दर के मार्ग में बाधा नहीं दी। यहां तक कि अनेक राज्यों ने सिकन्दर का स्वागत किया। तक्षशिला का राजा पुरु से खार खाता था, अतः उसने पुरु का नाश करने के उद्देश्य से सिकन्दर का सहर्ष स्वागत किया। सिकन्दर को और चाहिये ही क्या था। उसने तक्षशिला में अपनी सेना के कैम्प डाल दिये।

इधर सिकन्दर की थकीमांदी सेना आराम करने लगी, उधर उसने राजा पुरु के पास यह सन्देश भेजा कि वह स्वयं ही आत्म-समर्पण करदे। सम्भवतः सिकन्दर को उमीद होगी कि अन्य राजाओं की तरह पुरु भी आत्म-समर्पण कर देगा; मगर पुरु किसी और मिट्टी का बना था। पुरु ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और जेहलम नदी के तट पर शत्रु से मुक़ाबला करने की तैयारियां शुरू कर दीं।

पुरु से युद्ध—जब सिकन्दर पुरु पर आक्रमण करने बढ़ा, तो उसने देखा कि पुरु के राज्य की सीमा, जेहलम नदी में, बाढ़ आई

हुई है और नदी के दूसरे पार पुरु की सेना युद्ध के लिये तैयार बैठी है। अनेक सप्ताहों तक सिकन्दर नदी पार करने के झूठे चिन्ह दिखाता रहा। उसके बाद एक अँधेरी रात में, पुरु के कैम्प से १६ मील ऊपर, नदी पार कर वह पुरु के राज्य में जा ही पहुँचा।

घमसान युद्ध शुरु हुआ। भारतीय सेना का भरोसा अपने २०० हाथियों पर था। उसके सैनिक भी काफ़ी निपुण थे। इधर सिकन्दर की सेना में आधी दुनियां विजय कर लेने के कारण अदम्य आत्मविश्वास था। उसकी घुड़सवार सेना बड़ी निपुण थी और सैनिकों को युद्ध का अच्छा अनुभव था।

पुरु को एक और घाटा भी था। वर्षा ऋतु के कारण जेहलम का तट बहुत फिसलना हो गया था, इस कारण उसके धनुर्धारी अपने लम्बे-लम्बे कमानों को ज़मीन पर नहीं टेक सकते थे। उसके बाद भारतीय सेना के भारी रथों के पहिये कीचड़ में धँस गए और इस तरह वे बेकाम के होगए। इस पर भी शूरवीर पुरु ने डट कर मुक़ाबला किया। इस युद्ध में राजा पुरु को नौ घाव लगे और अन्त में वह बन्दी कर लिया गया। घाव पर नमक यह कि सिकन्दर की सेना के तीरों से घबरा कर भारतीय सेना के हाथी काबू से बाहर होगए और उनकी बदौलत भारतीय सेना के बहुत से सैनिक कुचले गए। इसी बीच में सिकन्दर की सेना की एक टुकड़ी ने, भारतीय सेना पर पीछे से आकर आक्रमण कर दिया और इस तरह भारतीय सेना की पराजय हो गई।

पुरु के वीरतापूर्ण आचरण से सिकन्दर बड़ा प्रभावित हुआ। उसने पुरु से पूछा—"मैं तुम्हारे साथ कैसा सलूक करूँ ?"

पुरु ने जवाब दिया—"जैसा एक राजा को दूसरे राजा के साथ करना चाहिए।"

सिकन्दर पुरु की वीरता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उसका विजित राज्य उसे पुनः वापस कर दिया और इस प्रकार उस शक्तिशाली राजा को अपना मित्र बना लिया । पुरु को न केवल अपना राज्य ही वापस मिला, अपितु सिकन्दर ने अन्य भी अनेक विजित प्रदेश उसी के अधीन कर दिए।

ग्रीक आक्रांताओं को भारत में आकर अनेक बार इतना कड़ा मुकाबला करना पड़ा, जिस की उन्हें उमीद भी नहीं थी। प्राचीन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि मस्सागा में,जब सिकन्दर की सेनाएँ कत्लेआम कर रही थीं, वहां के भारतीय निवासियों ने हत्यारों का ज़बरदस्त मुक़ाबला किया था । जब पुरुष मर जाते थे तब घरों की स्त्रियां उनके हथियार लेकर शत्रु से लड़ने लगती थीं। देरियस की तरह सिकन्दर के मुक़ाबले में पुरु मैदान छोड़ कर भाग नहीं गया, अपितु अन्त तक सन्मुख डटा रहा।

सिकन्दर की वापसी—पंजाब के अनेक राज्यों को पराजित करता हुआ सिकन्दर व्यास नदी तक जा पहुँचा। अब उसके सामने एक अज्ञात और विस्तृत प्रदेश फैला पड़ा था, जिसके सम्बन्ध में उसने सुन रक्खा था कि यहां भारतवर्ष की बड़ी-बड़ी शक्तियां निवास कर रही हैं । अभी तक सिकन्दर का वास्ता इस देश की किसी महान् शक्ति से नहीं पड़ा था। वह चाहता था कि किसी बड़ी भारतीय ताक़त को भी मुक़ाबले पर आज़मा कर देखे।

परन्तु उसकी सेना अपनी बरसों की विजययात्रा से इतनी तंग आगई थी कि उसने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। प्लूटार्क

(Plutarch) ने लिखा है कि ग्रीक लोगों ने सुन रक्खा था कि गंगा के मैदानों में एक शक्तिशाली राजा शासन कर रहा है, जिसके पास २०००00 पदाति, ८००० रथ, ८०००० घुड़सवार और ३००० हाथी हैं। जिस राजा पुरु को महान् सिकन्दर की सेना बड़ी कठिनता से हरा सकी थी, उसकी शक्ति पाटलिपुत्र के शक्तिशाली शासक के सन्मुख बिलकुल अगण्य-सी थी। इस समाचार से मैसीडोनियन सेना का सम्पूर्ण विजयोल्लास ठण्डा पड़ गया। सैनिकों ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया और नौबत यहां तक पहुँची कि वे विद्रोह करने को तैयार होगए। नतीजा यह हुआ कि सिकन्दर को वापस लौटने के लिए बाधित हो जाना पड़ा। २००० जहाजों का एक बड़ा बेड़ा तैयार किया गया और सिकन्दर की सम्पूर्ण सेना पंजाब की नदियों में से होकर वापस लौट चली।

मालव की पराजय—इस समय पंजाब के गणतन्त्र राज्यों के एक संघ ने सिकन्दर का मुक़ाबला किया। परन्तु उसकी शक्ति सिकन्दर के मुक़ाबले में बहुत तुच्छ थी। सिकन्दर ने ऐसी चाल चली, जिस से मालव लोग अकेले रह गए, उन्हें अन्य राष्ट्रों की मदद नहीं पहुँच सकी। तब सिकन्दर ने एक-एक को हराना शुरू किया। इन छोटे-छोटे गणराज्यों में भी इतना साहस था कि बिना मुक़ाबला किए किसी भी नगर ने सिकन्दर के सामने सिर नहीं झुकाया। एक जगह तो सिकन्दर का अपना जीवन ही ख़तरे में पड़ गया था। ग्रीक सेना ने भी इस अवसर पर क्रोध में आकर अमानुषिक क्रूरता से काम लिया। स्वयं ग्रीक इतिहासकारों के अनुसार इन छोटे-छोटे युद्धों में सिकन्दर ने करीब

८०००० भारतीयों का कत्ल किया और इस से कई गुना अधिक लोगों को गुलाम बना लिया। इन अत्याचारों से घबरा कर कुछ गणों ने सिकन्दर को आत्मसमर्पण भी कर दिया। अन्त में सिकन्दर की सेना सिन्धु नदी में आ पहुँची। सिन्धु नदी से यह बेड़ा अरब महासागर में गया और यहां सामुद्रिक तूफानों से उसको बड़ी दुर्गति हुई। स्वयं सिकन्दर अपनी सेना के एक भाग को मकरान के रेगिस्तान में से लेकर चला। यहां भी उसे भयंकर विपत्तियों का सामन करना पड़ा।

सन् ३२३ ईसा पूर्व में, ३३ साल की उम्र में ही, सिकन्दर का देहान्त होगया। उसके देहान्त के कुछ ही वर्ष बाद तक उसका सम्पूर्ण भारतीय साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। वस्तव में उसके साम्राज्य का विनाश उसके जीवनकाल में ही शुरु हो गया था और कर्मानिया (Karmania) की राह लौटते हुए उसे अपने क्षत्रप फिलिपोस (Phillipos) के पदच्युत कर दिए जाने का समाचार भी मिल गया था। सिकन्दर के देहान्त के बाद, सन् ३१७ ईसापूर्व तक, भारत में से ग्रीक सत्ता पूर्णरूप से नष्ट हो गई।

आक्रमण के प्रभाव—सिकन्दर भारतवर्ष को अपने साम्राज्य का स्थिर अंग बनाना चाहता था। परन्तु उसकी यह महत्वाकांक्षा पूरी न हो सकी। इस देश पर उसका हमला सीमाप्रान्त पर की एक चढ़ाई के समान ही सिद्ध हुआ। वह केवल गान्धार और सिन्धु नदी की घाटी को ही विजय कर सका। भारतवर्ष के हृदय तक पहुँचने का वह प्रयत्न भी न कर सका। सिकन्दर के इन आक्रमणों से इस देश की शासन प्रणाली और लोगों के रहन-सहन पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जिस गरिमाशाली ग्रीक-

सभ्यता से ग्रीस को विजय करने वाले रोमन आक्रान्ता भी पूर्ण रूप से प्रभावित होगए, वह ग्रीक सभ्यता इस देश के कुछ भाग को युद्धों में हरा कर भी, यहां अपना स्थान नहीं बना सकी। वास्तविकता यह थी कि भारत में एक महान सभ्यता का विकास उस समय से हो रहा था, जब कि एथन्स की नींव भी नहीं पड़ी थी। निस्सन्देह इस भारतीय संस्कृति में ग्रीक संस्कृति की अपेक्षा अधिक विकास की गुंजाइश थी।

सिकन्दर ने भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिम में निम्न-लिखित ग्रीक नगरों की नींव डाली—(१) काबुल में एलक्ज़ण्ड्रिया का शहर (२) जिस जगह से सिकन्दर ने जेहलम नदी को पार किया था, उस जगह बौकेफ़ाला नगर (३) जहां पुरु के साथ युद्ध हुआ था, वहां निकाइआ नगर और (४) सिन्ध में एलेक्ज़ड्रिया नगर। इस में से एक नगर का वर्णन महावंश में भी उपलब्ध होता है। पेरीप्लस के लेखक ने भी इन में से एक नगर का उल्लेख किया है।

दूसरी ओर सिकन्दर के इस आक्रमण से, मानो वह दीवार टूट कर गिर पड़ी, जिस ने पूर्व और पश्चिम को बिलकुल जुदा-जुदा कर रक्खा था। पश्चिमी एशिया में सिकन्दर ने जिन ग्रीक उपनिवेशों की नींव डाली थी, वे उपनिवेश भारत और यूरोप के बीच एक शृंखला के समान सिद्ध हुए। इन के प्रभाव के सम्बन्ध में आगे चलकर लिखा जाएगा। सिकन्दर के आक्रमण का एक प्रभाव यह भी हुआ कि पश्चिमी भारत के जो गणराज्य अभी तक अपनी स्वाधीनता कायम किए हुए थे, उन की रीढ़ टूट गई और वे इतने कमज़ोर हो गए कि कुछ ही बरसों

के बाद महान् चन्द्रगुप्त मौर्य ने उनकी स्वतन्त्रता का नाश कर दिया। इस तरह, यह कहा जा सकता है कि, सिकन्दर के इस आक्रमण से उत्तर-पश्चिमी भारत में मौर्य साम्राज्य को अपना विस्तार करने में काफी सहायता मिली।

सिकन्दर के आक्रमण पर ऐतिहासिक स्मिथ—डाक्टर विन्स्टैण्ट स्मिथ ने अपने ग्रन्थ में सिकन्दर के आक्रमण का बड़ा विस्तृत वर्णन दिया है। परन्तु भारतीय इतिहास के लिये सिकन्दर की सेना की श्रेष्ठता के सम्बन्ध के वर्णनों की कुछ अधिक महत्ता नहीं है। हमारी राय में सिकन्दर के आक्रमणों की महत्ता तैमूरलंग या नादिरशाह के आक्रमणों से अधिक नहीं है। साथ ही हमारी राय में ऐतिहासिक स्मिथ का यह वक्तव्य सर्वथा अयुक्तियुक्त और साहसपूर्ण है कि—"हिमालय से लेकर समुद्र तक ग्रीक सेना की विजय ने केवल यही तथ्य सिद्ध किया कि एशिया की बड़ी-बड़ी सेनाएं भी यूरोप की सुसंगठित और शिक्षित सेनाओं के मुकाबले में सदैव कमज़ोर सिद्ध होती रही हैं।" वास्तव में तथ्य इस से बिलकुल उलटे हैं। सिकन्दर एक बड़े साम्राज्य का अधिपति था, वह तत्कालीन यूरोप की सबसे बड़ी शक्ति था। अपनी महान् और सधी हुई सेना के साथ उसने [illegible] देश पर आक्रमण किया। इस देश की प्रबल शक्ति के तो [illegible] नजदीक भी नहीं जा सका। भारतवर्ष के सीमान्त प्रदेशों के अनेक राज्यों ने सिकन्दर का साथ दिया, जिससे उसकी शक्ति और भी बढ़ गई। इस पर भी प्रतापी सिकन्दर के लिए यह कार्य आसान सिद्ध नहीं हुआ कि वह भारतवर्ष के छोटे-छोटे राज्यों को भी अपने अधीन कर सके। पुरु केवल एक इतने छोटे राज्य का राजा था, जो राज्य वर्तमान

पंजाब के दो जिलों के बराबर था। इस पुरु ने ही विश्वविजयी सिकन्दर पर अपनी वीरता का सिक्का बैठा दिया और उस पर विजय प्राप्त करने के लिए सिकन्दर को सप्ताहों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। ग्रीक लेखकों ने भी भारतीय सेना की श्रेष्ठता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। सिकन्दर के देहान्त के कुछ ही वर्षों बाद ग्रीक सम्राट सैल्यूकस का भारत की महान् शक्ति से मुकाबला हुआ और उस में ग्रीक सम्राट को पराजय का मुँह देखना पड़ा।

आठवां अध्याय

मौर्य साम्राज्य

१. मौर्य कालीन इतिहास के स्रोत

निश्चित इतिहास—सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जब भारतवर्ष में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया, तब से इस देश के राजनीतिक इतिहास में जो एकता दिखाई देती है, वह उससे पूर्व कभी दिखाई नहीं दी थी। तब से तिथिक्रम करीब-निश्चित और पूर्ण हो जाता है। इस इतिहास के स्रोत भी विश्वसनीय, क्रमबद्ध तथा अनेक हैं। इन स्रोतों के आधार पर वर्तमान संसार मौर्यकालीन भारत के राजनीतिक इतिहास, शासन-विधान, सामाजिक तथा आर्थिक दशाओं और एक महान् धार्मिक आन्दोलन के प्रसार के सम्बन्ध में बहुत कुछ जान सका है। हम कह सकते हैं कि वर्तमान इतिहासकारों को भारतवर्ष के महान् सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य, उसके प्रधान मन्त्री नीतिज्ञ आचार्य चाणक्य तथा शान्ति और धर्म के मूर्त्तस्वरूप सम्राट् अशोक के सम्बन्ध में पर्याप्त अंश तक सच्चे तथ्य ज्ञात हैं।

मौर्य काल के सम्बन्ध में जो ऐतिहासिक सामग्री प्रभूत-मात्रा में उपलब्ध होती है, उसका निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है—

(क) ग्रीक वृत्तान्त—एरिअन (Arrian), कर्टियस (Curtius),प्लूटार्क (Plutarch) तथा जस्टिन (Justin) आदि ग्रीक लेखकों ने सिकन्दर का विजययात्रा का वृत्तान्त खूब विस्तार के साथ लिखा था। वह आज भी उपलब्ध होता है। ग्रीक राजा सैल्यूकस का मैगस्थनीज़ नामक राजदूत वरसों तक सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहा था। उसने अपने भारतनिवास के वृत्तान्त लिखे थे। यह वृत्तान्त काफ़ी अंश तक विश्वसनीय और उपयोगी हैं। उन से मौर्य काल के सम्बन्ध में बहुत कुछ जाना जा सकता है। एक स्वतन्त्र और उन्नत विदेशी राज्य का राजदूत भारतवर्ष को किस दृष्टि से देखता था, इसका अन्दाज़ा सैल्यूकस के राजदूत के लेखों से लग सकता है। तथापि इन ग्रीक वृत्तान्तों को सावधानता के साथ प्रयोग में लाने की आवश्यकता है, क्योंकि उनमें अनेक बातें सुनी-सुनाई और प्रचलित दन्तकथाओं के आधार पर भी लिखी गई हैं। साथ ही, यह स्वाभाविक है कि एक व्यक्ति अन्य देश के सम्बन्ध में उतना विशुद्ध और सही प्रभाव न दे सके। यह सन्तोष की बात है कि विद्वानों ने इन ग्रीक वृत्तान्तों को आलोचनात्मक दृष्टि से उपयोग में लाने का भरसक प्रयत्न किया है।

(ख) कौटिल्य अर्थशास्त्र—प्राचीन भारत के साहित्य में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का स्थान सबसे निराला हैं। इसके द्वारा हमें प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था,राजनीतिक तथा आर्थिक संगठन का सही-सही और विस्तृत चित्रण मिलता है। परोक्षरूप से इस अर्थशास्त्र द्वारा हम इस ज़माने की संस्कृति और जनता की दशा का वास्तविक परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में

विस्तार के साथ आगे चल कर लिखा जायगा। कौटिल्य अर्थशास्त्र को चाहे चौथी सदी ईसा पूर्व में बना स्वीकार किया जाय अथवा उसके बाद परन्तु यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शासन व्यवस्था का करीब-करीब वही स्वरूप था, जो अर्थशास्त्र में वर्णित है।

(ग) संस्कृत की अन्य कृतियां—पुराणों में भी मौर्यवंश का संक्षिप्त वर्णन है। वहां मौर्य राजाओं के राज्यकाल के वर्ष भी लिखे हैं। मौर्यकाल से कुछ शताब्दियां पीछे विशाखदत्त नामक एक कवि ने "मुद्राराक्षस" नाम से एक ऐतिहासिक नाटक लिखा था। अनेक ऐतिहासिकों की राय में यह नाटक वास्तविक तथ्यों के आधार पर लिखा गया है और इसके द्वारा नन्दवंश के विनाश के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें जानी जा सकती हैं। मुद्राराक्षस के कथानक से भारतवर्ष के सब से बड़े नीतिज्ञ आचार्य चाणक्य के चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

(घ) शिलालेख—संसार के सबसे बड़े "धम्मविजयी-सम्राट्" अशोक के सम्बन्ध में तत्कालीन शिलालेखों से अमूल्य ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है। इन से अशोक के 'धम्म' तथा उसके प्रचार के सम्बन्ध में बहुत कुछ जाना जा सकता है। ये शिलालेख भारतवर्ष के सब से प्राचीन शिलालेख हैं। इनकी मदद से तत्कालीन लिपि के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ ज्ञात हुआ है। अशोक के उत्तराधिकारियों द्वारा स्थापित भी अनेक शिलालेख प्राप्त होते हैं।

(घ) बौद्ध अनुश्रुतियां—इन उपर्युक्त स्रोतों से जो तथ्य प्राप्त होते हैं, उनका समर्थन लंका के साहित्य में सुरक्षित अनेक

बौद्ध अनुश्रुतियों से होता है। इन बौद्ध अनुश्रुतियों से अनेक नए तथ्य भी ज्ञात होते हैं। बौद्ध जगत में महात्मा बुद्ध के बाद सम्राट् अशोक का स्थान है, अतः स्वाभाविक रूप से उसके चरित्र के सम्बन्ध में बौद्ध साहित्य में बहुत-सी दन्तकथाएं भी सम्मिलित कर ली गई होंगी तथापि यदि अन्वेषणात्मक दृष्टि से इस बौद्ध साहित्य का अनुशीलन किया जाय, तो उसमें पर्याप्त उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सकती है।

(च) जैन अनुश्रुतियां—**मौर्य काल पर जैन साहित्य से भी कुछ प्रकाश पड़ता है। जैन लोगों का दावा है कि मौर्यवंश के दो सम्राट्—चन्द्रगुप्त तथा सम्प्रति—जैन थे। अतः इन दोनों के सम्बन्ध में जैन साहित्य में पर्याप्त कथाएँ संगृहीत हैं।**

(छ) मौर्य कालीन स्थापत्य कला—**मौर्य कालीन कला के जो अवशेष आज भी उपलब्ध होते हैं, उनसे उस युग का वास्तविक चित्र अंकित करने में बड़ी सहायता मिलती है। इन अवशेषों में अशोक के अनेक स्तम्भ और सांची का स्तूप बहुत प्रसिद्ध हैं। ये अवशेष प्राचीन भारतीय कला के श्रेष्ठतम उदाहरण हैं।**

२. चन्द्रगुप्त की जीवनी

मौर्य वंश का प्रादुर्भाव—**चन्द्रगुप्त से मौर्य वंश का प्रारम्भ हुआ। उसके पूर्वजों के सम्बन्ध में हमें निश्चित रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। पुराणों के अनुसार नन्दकुल में एक नीचवंश की स्त्री से उसका जन्म हुआ था। उसकी माता का नाम मुरा था, इसी से चन्द्रगुप्त "मौर्य" कहलाने लगा। मुद्राराक्षस में भी अनेक स्थानों पर, आचार्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को 'वृषल' (शूद्र) कहकर**

बुलाया है। एक जैन इतिवृत्त के अनुसार वह 'मौर्य' इस लिए कहलाने लगा, क्योंकि उसकी माता, राजा के मयूरपोषक की लड़की थी। परन्तु विश्वसनीय ऐतिहासिक साक्षियों के आधार पर यह सिद्ध होगया है कि चन्द्रगुप्त एक क्षत्रिय कुल का कुमार ही था। बौद्ध साहित्य के अनुसार छठी सदी ईसा पूर्व में मोरिय नाम की एक क्षत्रिय जाति का गणराज्य भी था; यह चद्रगुप्त मौर्य सम्भवतः इसी जाति के एक कुलीन घर का कुमार था। कुछ मध्यकालीन उल्लेखों के अनुसार मौर्य कुल का प्रारम्भ प्रसिद्ध सूर्यवंशी मान्धाता के कुल में हुआ था। 'राजपूताना गज़ेटियर' में 'मोरी' वंश को एक राजपूत वंश गिना गया है। बौद्ध साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'महावंश' के अनुसार चद्रगुप्त का जन्म 'मोरिय' जाति में हुआ था। दिव्यावदान में बिन्दुसार और अशोक की गणना क्षत्रियों में की गई है।

मोरिय जाति का युवक—छठी सदी ईसा पूर्व में मोरिय जाति की स्थिति बहुत ही सामान्य थी। सम्भवतः मगध की बढ़ती शक्ति ने मोरिय वंश की सम्पूर्ण राजनीतिक शक्ति का अपहरण कर लिया था। जस्टिन (Justin) के अनुसार चन्द्रगुप्त का जन्म एक बिलकुल सामान्य कुल में हुआ था। अपने जीवन के प्रारम्भ में ही चन्द्रगुप्त तक्षशिला विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध ब्राह्मण नीतिज्ञ कौटिल्य उर्फ चाणक्य उर्फ विष्णुगुप्त के सम्पर्क में आया। कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त को शस्त्र और शास्त्र, दोनों में पारंगत बना दिया। इस महामति ब्राह्मण ने सामान्य कुल के इस प्रतिभाशाली नवयुवक को शीघ्र ही तत्कालीन संसार का सब से बड़ा सम्राट बना दिया।

सिकन्दर से मेल—कहा जाता है कि अपनी युवावस्था में चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला और उसने इस ग्रीक आक्रान्ता को नन्द के मगध सम्राज्य पर आक्रमण करने के लिए भी प्रेरित किया। यह भी कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त के निर्भीक और साहासपूर्ण आचरण से घबराकर सिकन्दर ने उसे गिरफ्तार करने का हुक्म दे दिया, परन्तु चन्द्रगुप्त वहां से भाग निकला।

पंजाब का उन्मोचन—सिकन्दर के देहान्त के बाद चन्द्रगुप्त और उसका गुरु दोनों ही पंजाब के बढ़ते हुए सैनिक उत्थान का नेतृत्व करते हुए दिखाई दिए। उत्तर-पश्चिमी भारत की योद्धा जातियां विदेशी शासन से तंग आकर, अपने कन्धों पर से पराधीनता का जूआ उतार फेंकना चाहती थीं। उन्हें सिर्फ एक प्रभावशाली नेता की आवश्यकता थी और गुरु तथा चेले की यह जोड़ी उन्हें उपर्युक्त नेता के रूप में मिल गई। परिणाम यह हुआ कि बहुत ही थोड़े समय में सम्पूर्ण पंजाब में से विदेशी राज्य नष्ट कर दिया गया।

नन्द वंश का नाश—पंजाब में अपना शासन कायम करके चन्द्रगुप्त और कौटिल्य मगध की ओर बढ़े। कहा जाता है कि नन्द ने कभी भरी यज्ञसभा में ब्राह्मण चाणक्य का अपमान कर दिया था और उससे क्रुद्ध होकर चाणक्य ने प्रतिज्ञा की थी कि वह नन्द वंश का समूल नाश करके ही दम लेगा। नन्द वंश ने प्राचीन प्रथाओं पर कुठाराघात करके अनेक क्षत्रिय राजवंशों की समाप्ति कर दी थी। नन्द राजाओं में धनका लोभ भी बहुत अधिक था। इन दोनों बातों से, अन्दर ही अन्दर, प्रजा नन्दवंश से बहुत नाराज हो चुकी थी। यदि मुद्रा-राक्षस के कथानक को ऐतिहासिक

मानाजाय, तो कौटिल्य ने अपनी कूटनीति के बलपर बड़ी शीघ्रता से नन्दवंश का नाश कर दिया। चन्द्रगुप्त और नन्द के इस संघर्ष का वर्णन प्राचीन साहित्य—जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण ग्रन्थों—में अनेक स्थानों पर मिलता है। 'मिलिन्द के सवाल' नामक बौद्ध ग्रन्थ में, जिसका सम्बन्ध मेनान्डर (Menander) दूसरी सदी ईसापूर्व) से माना जाता है, लिखा है कि नन्द सेना के सेनापति का नाम भद्दसाला था और बड़े भयंकर नरसंहार के बाद उसकी पराजय हुई।

एक महान् साम्राज्य की नींव—चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र के मागध साम्राज्य का सम्राट बना। वह उत्तर-पश्चिम भारत का शासक तो पहले ही बन चुका था। मगध की विशाल सेना के साथ सीमाप्रान्त के कद्दावर और हृष्टपुष्ट सैनिकों के मेल से जो शक्ति बनी, उसका मुकाबला करना किसी के लिए भी आसान नहीं था। इस सेना की सहायता से शीघ्र ही चन्द्रगुप्त ने एक इतना बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया, जो उत्तर-दक्षिण में हिमालय से विन्ध्याचल तक विस्तीर्ण था और पूर्व-पश्चिम में अरब समुद्र से बंगाल की खाड़ी तक। यहां तक कि चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार विन्ध्याचल से भी परे तक जा पहुँचा। चन्द्रगुप्त की सैनिक प्रतिभा और कौटिल्य की दूरदर्शिनी कूटनीति के बल पर भारतवर्ष में इस महान् मौर्यसाम्राज्य की स्थापना हो गई। इस देश में इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना इससे पूर्व कभी न हुई थी।

पश्चिममें चन्द्रगुप्त का साम्राज्य सौराष्ट्र और काठियावाड़ तक जा पहुँचा और दक्षिण भारत का भी काफी अंश उस की अधीनता में आगया। जब यह विशाल साम्राज्य स्थापित हो गया तो

महामति चाणक्य ने अपनी प्रतिभा आन्तरिक सुव्यवस्था कायम करने में लगाई। भारतवर्ष अब पृथक पृथक हिस्सों में बंटा हुआ न रहा। पाटलिपुत्र की शक्तिशाली सरकार की अधीनता में वह संसार की सबसे बड़ी शक्ति बन गया।

सैल्यूकस का आक्रमण—सिकन्दर के देहान्त के बाद उस का सेनापति सैल्यूकस एशिया के मैसीडोनियन साम्राज्य का सम्राट बना। सन् ३०६ ईसापूर्व में उसने सिन्धु नदी पार करके चन्द्रगुप्त मौर्य के मागध साम्राज्य पर चढ़ाई करदी। उसे उमीद थी कि ग्रीक सेना इस बार भी आसानी के साथ भारत को विजय कर सकेगी; मगर शीघ्र ही उसका यह भ्रम जाता रहा। उसने देखा कि इन पिछले ११ बरसों में हिन्दोस्तान का कायापलट हो गया है और भारतवर्ष एक महान् साम्राज्य के रूप में परिवर्तित होगया है। सैल्यूकस ने देखा कि सम्राट चन्द्रगुप्त अपनी सेना का संचालन स्वयं करते हैं। युद्ध हुआ अथवा नहीं, शीघ्र ही सैल्यूकस को हार मान लेनी पड़ी। यहां तक कि सैल्यूकस के लिए यह भी सुगम न रहा कि वह सही-सलामत वापस ही लौट सके। अपनी वापसी की गारण्टी के लिए सैल्यूकस को सिन्धु नदी के पार, काबुल की घाटी तक का सम्पूर्ण प्रदेश चन्द्रगुप्त को दे देना पड़ा। इस प्रदेश पर, उन दिनों उसके चार क्षत्रप शासन कर रहे थे और वह प्रान्त वर्तमान हेरात, कंधार मकरान तथा काबुल के बराबर था। चन्द्रगुप्त और सैल्यूकस में सन्धि हो गई और इस राजनीतिक सन्धि को और भी अधिक स्थायी तथा दृढ़ करने के लिये सैल्यूकस ने अपनी कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया और चन्द्रगुप्त ने ५०० हाथी उसे उपहार में दिए। इन हाथियों को लेकर सैल्यूकस की सेना सीरिया की ओर

लौट गई। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य को भारतवर्ष की वह वैज्ञानिक सीमा प्राप्त होगई, जो वर्तमान भारत सरकार को भी प्राप्त नहीं है।

मैगस्थनीज़—सम्राट चन्द्रगुप्त के दरबार में सैल्यूकस ने मगस्थनीज़ नामक अपना एक दूत भेजा था। मैगस्थनीज़ पाटलिपुत्र में बहुत समय तक रहा और उसने अपने भारत निवास के संस्मरण भी लिखे। उस की पर्यवेक्षण शक्ति पर्याप्त उन्नत थी, परन्तु उस के केवल वही वर्णन पूर्णरूप से विश्वासयोग्य हैं, जो उसने स्वयं अपनी आंखों से देखे थे। दुर्भाग्य से मैगस्थनीज़ के संस्मरण नष्ट हो गए और अब उस के कुछ हिस्से ही प्राप्त होते हैं। जो कुछ आज उपलब्ध होता है, वह ही पर्याप्त उपयोगी है।

चन्द्रगुप्त का देहान्त—सम्राट चन्द्रगुप्त के शेष जीवन में कोई विशेष महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई। शान्ति और युद्ध इन दोनों में वह पूर्णरूप से सफल शासक सिद्ध हुआ। भारतवर्ष में उसने प्रथम विशाल साम्राज्य की स्थापना की। कौटिल्य की सहायता से उस ने पाटलिपुत्र की सरकार को इतना शक्तिशाली बना दिया कि इस सुसंगठित सरकार की मदद से उस का पौत्र अशोक बौद्ध धर्म को विश्वधर्म बना सका। २४ वर्षों तक शासन करने के बाद, सन् २६८ ईसा पूर्व में, सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का देहान्त हो गया।

जैन इतिवृत्त—परन्तु जैन इतिवृत्त के अनुसार चन्द्रगुप्त राजपाट त्याग कर तत्कालीन जैन आचार्य भद्रबाहु का शिष्य हो गया था। जैन साहित्य में लिखा है कि चन्द्रगुप्त के शासनकाल के

अन्तिम दिनों में भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। तब पाटलिपुत्र का राज्य अपने पुत्र को देकर चन्द्रगुप्त आचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर चला गया। सम्राट् चन्द्रगुप्त अब 'मुनिपति' कहलाने लगे। दक्षिण के ६०० ईसवी के एक शिलालेख में लिखा है कि 'चन्द्रगिरि' नाम की पहाड़ी पर आचार्य भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनिपति आए थे। डा० स्मिथ का कहना है कि चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिनों के सम्बन्ध में केवल यह जैन वृत्तान्त ही उपलब्ध होता है, अतः इसे सत्य न मानने का कोई आधार नहीं है।

३. कौटिल्य और उसका अर्थशास्त्र

मौर्य साम्राज्य के निर्माण में चन्द्रगुप्त के प्रधानमन्त्री आचार्य चाणक्य का सब से अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। चन्द्रगुप्त के बाद बिन्दुसार के शासन में भी, कुछ वर्षों तक आचार्य चाणक्य ही प्रधान मन्त्री का कार्य करते रहे। कौटिल्य एक दृढ़निश्चयी अदम्य साहसी, प्रतिभाशाली और कुरूप ब्राह्मण था। उस ने मौर्य साम्राज्य के निर्माण में प्रमुख भाग लिया, परन्तु स्वयं सम्राट् बनने का प्रयत्न कभी नहीं किया। वह सदैव चन्द्रगुप्त का विश्वस्त सचिव बन कर रहा। वह 'सम्राट्निर्माता' था। इस पर भी आर्य आदर्शों के अनुसार वह एक त्यागी ब्राह्मण का जीवन ही व्यतीत करता था। स्वयं वह फूँस की एक ज़रा-सी कुटिया में रहता था और चावल और सत्तू खाकर अपनी भूख मिटाता था। सम्पूर्ण प्रजा को उस की नीतिकुशलता तथा न्यायमत्ता पर अगाध विश्वास था। राजनीति तथा शासनव्यवस्था का वह महान आचार्य था। साथ ही वह तार्किक, चालबाज़ और दृढ़निश्चयी भी था। उसे भारत

का मैकिआवेली कहा जाता है और आंशिक रूप में यह तुलना ठीक भी है। कौटिल्य एक सच्चा ब्राह्मण था और मैकिआवेली कट्टर ईसाई। परन्तु व्यावहारिक राजनीति में दोनों ही चालबाज़ी के माने हुए उस्ताद थे। दोनों का ही सिद्धान्त था कि 'उपाय की परीक्षा उसके फल से करनी चाहिए।'

अपने राजशिष्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के लिए कौटिल्य ने एक "अर्थशास्त्र" का निर्माण किया था जो 'कौटिल्य अर्थशास्त्र" के नाम से प्रसिद्ध है।

अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र—"अर्थशास्त्र का सम्बन्ध उस युग के व्यवहारिक जीवन, अर्थशास्त्र (Economics), शासन-व्यवस्था तथा राजनीति से है। राजनीति अर्थशास्त्र का एक बहुत ही महत्वपूर्ण भाग हैं। उसे 'नीतिशास्त्र' या 'राजनीति' कहा जाता है। राजनीति का एक नाम 'दण्डनीति' भी है। महाभारत में राजनीतिशास्त्र के अनेक आचार्यों का निर्देश है। प्रतीत होता है कि दण्डशास्त्र की शिक्षा भी धर्मशास्त्र के साथ ही दी जाती थी। तथापि धर्मशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में कुछ आधारभूत भेद भी है। धर्मशास्त्र का आधार श्रुति है, उसमें मनुष्य के कर्तव्यों का निर्देश है; अर्थशास्त्र उन उपायों का निर्देश करता है, जिन से भौतिक सफलता प्राप्त की जा सकती है। प्राचीन अनुश्रुति है कि दण्डशास्त्र के प्रथम प्रणेता आचार्य बृहस्पति थे। दर्शनिक भौतिकतावाद का प्रथम आचार्य भी बृहस्पति को ही माना जाता है इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र—वर्तमान समय में जो प्राचीन अर्थशास्त्र उपलब्ध होते हैं, उन में यह कौटिल्य का अर्थशास्त्र सब से

प्राचीन, श्रेष्ठतम और सब से अधिक महत्वपूर्ण है। सम्पूर्ण प्राचीन संस्कृत-साहित्य में इस अर्थशास्त्र का निराला स्थान है। भारत महासाम्राज्य के प्रधानमन्त्री द्वारा लिखित इस अर्थशास्त्र से प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में जितनी बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है, उतनी और किसी प्राचीन कृति से नहीं मिलती। यह ग्रन्थ भी लुप्त होगया था, परन्तु सन् १६०९ में इस बहूमूल्य ग्रन्थ की एक प्रति दक्षिण में प्राप्त हो गई है। इस की शैली मिश्रित है। सूत्रों के बाद उन की गद्य व्याख्या की गई है और उसमें जगह-जगह श्लोकों का भी समावेश है।

अर्थशास्त्र की विषयसूचि—प्रथम भाग में राजकुमारों की शिक्षा तथा नियन्त्रण, गुप्तचरों की संख्या, राजा का दैनिक कार्य-क्रम और उसकी जीवन-रक्षा के उपायों का वर्णन है। गुप्त चरों का तो जाल-सा बिछा प्रतीत होता है। इन का उद्देश्य केवल आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं की सूचना देना ही नहीं है, अपितु प्रजा तथा राजकर्मचारियों की दैनिक प्रगति तथा राजभक्ति का निरीक्षण करना भी इन्हीं का काम है। मैगस्थनीज़ की साक्षी से ज्ञात होता है कि तत्कालीन चर लोग अपने राज्य की सेवा बड़ी तत्परता तथा ईमानदारी के साथ करते थे।

दूसरे भाग में पूर्ण रूप से सुसंगठित नौकरशाही के विभिन्न विभागों का नियन्त्रण करने वाले शासन विभागों का वर्णन है। इस भाग में नगरों का निर्माण, भूमि-विभाग, दुर्गनिर्माण, शासन-व्यवस्था, राष्ट्रीय आय, खानें, व्यापार-व्यवसाय, जंगलात, नाप और तोल, मादक पदार्थों पर सरकार का नियन्त्रण, जहाज़रानी

वेश्याओं पर सरकारी नियन्त्रण, पशु-पालन, कर-संग्रह, पासपोर्ट आदि का विस्तृत वर्णन है। राजा के कर्तव्यों के सम्बन्ध में लिखा है कि वह अनाथों, बूढ़ों, बीमारों और निस्सहाय स्त्रियों के पालन-पोषण का प्रबन्ध भी करे। 'अर्थ विभाग' के कर्मचारी जो गड़-बड़ कर सकते हैं, उनके सम्बन्ध में भी खूब विस्तार के साथ लिखा गया है। कहा है—"जिस तरह आप की जबान पर शहद या ज़हर रख कर यदि आप से कहा जाय कि आप इस का स्वाद न लें, उसी प्रकार राष्ट्रीय आय के कार्यकर्त्ताओं से यह आशा करना कि वे राजा की आय में से एक पाई भी अनुचित उपायों द्वारा नहीं लेंगे, व्यर्थ है। जिस तरह पानी में रहने वाली मछली को पानी पीते हुए पकड़ना असम्भव है, उसी तरह राष्ट्रीय आय के राजकर्मचारियों को राज्य का रुपया ग़बन करते हुए पकड़ना आसान नहीं।" इस भाग में विदेशियों के लिए नियम, स्वास्थ्य विधान, अग्नि से बचने के उपाय आदि का वर्णन भी है। इस तरह इस भाग में वर्तमान उन्नत सरकारों के प्रायः सभी विभागों का वर्णन आ जाता है।

तीसरे भाग में दीवानी कानून और चौथे भाग में फौजदारी कानूनों का वर्णन है। इस भाग में असावधान चिकित्सक, धोखे-बाज़ व्यापारी, संगीतज्ञ, नट आदि को ऐसा चोर कहा गया है, जिनकी गिनती चोरों में नहीं होती। राजा का कर्तव्य है कि "वह इन्हें राष्ट्र की संक्रामक बीमारी न बचने दे।" पांचवें भाग में उन उपायों का वर्णन है जिन से राजा अवांछनीय मन्त्रियों, राजद्रोहियों और शत्रुओं से छुटकारा पा सकता है। ऐसे उपायों का निर्देश भी किया गया है, जिनसे वह अपने खाली हुए खज़ाने

को भर सकता है। इन उपायों में धनियों से रुपया लेकर उन्हें व्यर्थ के ख़िताब देना, धार्मिक सम्पत्तियों से कर लेना आदि मुख्य हैं। कौटिल्य ने यहां विभिन्न राजकर्मचारियों के वार्षिक वेतनों की तालिकाएँ भी दी हैं। ये वार्षिक वेतन ६० पण से लेकर ४८००० पण तक हैं। छटे और सातवें भाग में, संकुचित अर्थ में, राजनीति की व्याख्या की गई है। यहां राष्ट्र के विभिन्न भागों का वर्गीकरण तथा विदेशी नीति के सम्बन्ध की बातें भी लिखी हैं। आठवें भाग में साम्राज्य की बुराइयों का वर्णन है। उदाहरणार्थ, राजाओं के विषय-भोग, शिकार, जूआ, मद्यपान, वेश्यागमन तथा बीमारी, बाढ़, अग्निकांड आदि का उल्लेख है। नौवें और दसवें भाग का सम्बन्ध सैनिक मामलों से है—सेना की भरती, संगठन आदि। यहां कूटनीति को अत्यधिक प्रधानता दी गई है—

कहा हैं—"एक धनुधर का तीर, सम्भव है कि एक मनुष्य का वध कर सके, यह भी सम्भव है कि वह चूक जाय; परन्तु एक नीतिज्ञ की कूटनीति गर्भस्थ बालक का भी संहार कर सकती है।"

इस के बाद उन कूट उपायों का उल्लेख है, जिन से शत्रु का संहार किया जा सकता है। गुप्तचर, हत्यारे, विष देने वाले, बिष कन्याएँ, तनख्वाहदार सैनिक, धार्मिक संस्थाएँ, इन सब को शत्रु के खिलाफ इस्तेमाल किया जा सकता है।

कौटिल्य स्वयं एक नैष्ठिक ब्राह्मण था। परन्तु राजनीतिक उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करने के लिये उस ने उन विधियों का निर्देश भी किया है जिन्हें धार्मिक विश्वासों का अनुचित उपयोग उठाना कह सकते हैं। इसके बाद, एक अध्याय में, विजित राष्ट्रों को पालतू बनाने के साधन लिखे गए हैं। कहा है—"विजयी राजा

शत्रु की कमज़ोरियों और बुराइयों का पता लगा कर, कम से कम उस ढंग के मामलों में बहुत ही श्रेष्ठ आचरण करे ताकि विजित राष्ट्र की प्रजा उसकी भक्त बन जाय।" वह विजित राष्ट्र की प्रजा की भलाई के लिए भरसक प्रयत्न करे। उन देशों में जाकर वह भी उन्हीं के रिवाज, आचार, भाषा, रहन-सहन आदि को स्वीकार कर ले। वह उनके धर्म, स्थानीय देवताओं तथा त्यौहारों का आदर करे, पुराने सम्पूर्ण राजबन्दियों को मुक्त कर दे, इत्यादि। इन सब कार्यों का उद्देश्य धर्म साधन नहीं, अपितु अर्थ साधन है। एक अध्याय में जादू-टोने की बातें भी लिखी हैं, जो अभी तक समझी नहीं जा सकीं। अन्तिम अध्याय में संपूर्ण पुस्तक का खाका दिया गया है।

अर्थशास्त्र की तिथि—कौटिल्य के अर्थशास्त्र की उपर्युक्त विषयसूचि से यह स्पष्ट हैं कि वह अपने ढंग की निराली पुस्तक है और प्राचीन भारत की भौतिक दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उससे बढ़ कर अन्य कोई ग्रन्थ नहीं हो सकता। सातवीं सदी में दण्डिन ने इस अर्थशास्त्र का हवाला दिया है। परन्तु इस बात में भी सन्देह किया जाता है कि यह चौथी सदी ईसापूर्व में लिखा गया। पिछले २० वर्षों में कौटिल्य अर्थ-शास्त्र के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है। इस अर्थशास्त्र के आधार पर अनेक पुरातत्वज्ञों ने प्राचीन 'भारतीय नीतिशास्त्र' पर अनेक बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी हैं। पुरातत्वज्ञों में इस अर्थशास्त्र की तिथि के सम्बन्ध में गम्भीर मतभेद है। अनेक विद्वान् इस अर्थशास्त्र को मौर्यकाल में बना स्वीकार ही नहीं करते। अनेक स्थानों पर मैग-स्थनीज़ के वृत्तान्त कौटिल्य की बातों से नहीं मिलते। कहीं-कहीं

वे एक दूसरे के विरुद्ध भी हैं। यहां हमें इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं कि यह अर्थशास्त्र चौथी सदी ईसा पूर्व में बना या उसके बाद। तथापि यह बात निर्विवाद है कि इस बहुमूल्य ग्रन्थ से प्राचीन भारत का इतिहास निर्माण करने में अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है।

कौटिल्य आचार की महत्ता स्वीकार करता है, तथापि राजनीति में आचार के नियमों पर स्थिर रहने की वह सलाह नहीं देता। वह इस बात को मान कर चलता है कि विजयी राजा आचार की दृष्टि से भी अधिक श्रेष्ठ व्यक्ति है। आचार के प्रति कौटिल्य की इस निष्ठा की तुलना उन सम्पूर्ण राजनीतिक नेताओं से की जा सकती है, जो अपनी सम्पूर्ण कारवाइयों को इस आधार पर वाजिब सिद्ध करते हैं कि उनका उद्देश्य न्याय, मनुष्यता और सत्यता की रक्षा करना है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के राजनीतिक सिद्धान्त मुख्यतया छोटे-छोटे राज्यों से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं, किसी बड़े साम्राज्य से नहीं। जिस कूटनीति का इस अर्थशास्त्र में निर्देश है, उस में कौटिल्य परम प्रवीण था, सम्भवतः इसी कारण इसका सम्बन्ध कौटिल्य के साथ जोड़ दिया गया हो। यह भी सम्भव है कि इन सिद्धान्तों का प्रथम आचार्य वही हो और इसी से यह कृति उसके नाम पर कर दी गई हो। इस ग्रन्थ की तिथि चाहे कोई भी क्यों न हो, इस की महत्ता निर्विवाद है।

४. मौर्य कालीन भारत

भारतवर्ष में आकर ग्रीक लोग इस देश की विशाल और उपजाऊ भूमि, नदियों के फैले हुए जाल, विविध खनिज पदार्थों

की सम्पन्नता, यहां के घरेलू पशुओं और नानाविधि वनस्पतियों को देख कर अत्यधिक प्रभावित हुए। ग्रीक लेखकों ने इस देश के हाथियों, बन्दरों और सांपों का विशेष ढंग से ज़िक्र किया है। गन्ने के लिये उन्होंने लिखा है कि इस देश में एक खास ढंग की छड़ी होती है, जिस से मक्खियों के बिना ही शहद तैयार कर लिया जा सकता है। रुई को ग्रीक लेखकों ने 'वनस्पति की ऊन' का नाम दिया है। भारतीयों के सम्बन्ध में उन्हों ने लिखा है कि 'वे विशाल, चुस्त, दीर्घायु और निरोग होते हैं। वे नियताहारी होते हैं और नशा नहीं लेते।' वे सरल पवित्र आचार के तथा प्रतिभाशाली होते हैं। ग्रीक लेखकों ने लिखा हैं कि—"भातीय कभी झूठ नहीं बोलते।" साथ ही लिखा है कि 'वे एक दूसरे पर असीम विश्वास रखते हैं, लेन-देन में वे न मोहर करवाते हैं और न गवाहियां ही दर्ज करते हैं। प्रायः वे अपने मकानों पर ताला भी नहीं लगाते, क्योंकि वहां चोरी नहीं होता।' प्रतीत होता है कि उस काल में क्षत्रियों में सती प्रथा विद्यमान थी, परन्तु इस कार्य के लिये किसी पर ज़बरदस्ती नहीं की जाती थी। सती होना या न होना, पूर्णरूप से विधवा की इच्छा पर आश्रित रहता था। भारतीयों को उत्तम वस्त्रों का विशेष चाव था। पारिवारिक जीवन में सम्मिलित परिवार की प्रथा तब भी प्रचलित थी। लेखन कला खूब उन्नत हो चुकी थी। जनता में नाचने वाले' गायक और नट सर्वप्रिय थे।

दास प्रथा का प्रभाव—उन दिनों ग्रीस और रोम में दास-प्रथा खूब प्रचलित थी। इसी से मैगस्थनीज़ ने भारत में दास प्रथा के अभाव का उल्लेख बड़े आश्चर्य के साथ किया है। परन्तु अर्थ-

शास्त्र से ज्ञात होता है कि मौर्य कालीन भारतवर्ष में भी दास प्रथा विद्यमान थी। परन्तु तब दासों के आराम के सम्बन्ध में सरकारी नियम इतने कड़े और विस्तृत थे कि उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पाता था। सम्भवतः इसी से मैगस्थनीज़ को इस देश में दास प्रथा का अभाव ही दिखाई दिया।

विभिन्न श्रेणियां—भारतीय जनता तब सात भागों में विभक्त थी। (१) दार्शनिक अथवा पुरोहित तथा बुद्धिजीवी श्रेणी। ये लोग बहुत शान्त और सादा जीवन व्यतीत करते थे। इस श्रेणी के लोग ब्राह्मण होते थे। कहा जाता है कि सम्राट प्रतिवर्ष इस श्रेणी के लोगों की एक महासभा बुलाते थे और इस अवसर पर, किसी तरह का कोई असाधारण कार्य करने वाले ब्राह्मणों को सरकारी पुरस्कार भी दिया जाता था। (२) किसान। जनता की बहुसंख्या इन्हीं किसानों की थी। ये लोग युद्धो में किसी प्रकार से भाग नहीं लेते थे। (३) शिकारी। ये अभी अर्धसभ्य दशा में जंगलों में ही निवास कर रहे थे। (४) व्यापारी और व्यवसायी (५) योद्धा। इन सैनिक पेशा लोगों को बाक़ायदा वेतन दिया जाता था। (६) चर। (७) सभासद्। राज्य परिषद् केइन्हीं सदस्यों में से ऊँचे दर्जे के राजकर्मचारियों का चुनाव किया जाता था। पहली श्रेणी के अतिरिक्त अन्य श्रेणियां अपरिवर्तनशील थीं। इन में परस्पर विवाह भी नहीं होते थे।

पाटलिपुत्र—सोन और गंगा के संगम पर पाटलिपुत्र बसा हुआ था। उस युग में वह संसार के सर्वश्रेष्ठ नगरों में था। उस की लम्बाई ६ मील तथा चौड़ाई १½ मील के लगभग थी। नगर के चारों ओर पक्की ईटों की मज़बूत दीवार थी और उस पर

लकड़ी के बुर्ज बने हुए थे। इस दीवार में ६४ दरवाजे और ५७० बुर्ज थे। इस के चारों ओर ६०० फीट चौड़ी एक खाई थी। उस युग में पाटलिपुत्र एशिया का सब से अधिक सुरक्षित और मज़बूत नगर था।

पाटलीपुत्र के अतिरिक्त अन्य भी बहुत से प्रसिद्ध नगर थे। नागरिक जीवन पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण था। दुर्ग निर्माण कला उन दिनों बहुत विकसित हो चुकी थी। प्रायः नदियों के किनारे, आधार को खूब ऊँचा करके, नगर बसाए जाते थे। मकानों में लकड़ी, ईंट और गारे का प्रयोग किया जाता था। सिंचाई का काम नहरों से भी लिया जाता था। धातु, वस्त्र तथा अन्य व्यवसाय बड़ी उन्नति पर थे। शराब, जूआ और वेश्याओं पर सरकारी नियन्त्रण रक्खा जाता था और इन से सरकारी आय भी होती थी।

राजमहल—पाटलिपुत्र के राजमहल सूसा (Susa) के सुप्रसिद्ध राजमहलों से भी कहीं बढ़चढ़ कर थे। महलों के सुन्दर उद्यानों और विस्तृत झीलों से उनकी शोभा और भी अधिक बढ़ गई थी। पालतू मैना, तोता आदि पक्षियों और पशुओं से महलों में जीवन बना रहता था।

प्राचीन पाटलिपुत्र की वर्तमान खुदाई को देखकर डा० स्पूनर ने यह परिणाम निकाला था कि मौर्य लोग ज़ोरोष्ट्रियन थे और वे व्यापार के उद्देश्य से इस देश में आए थे। इसमें सन्देह नहीं कि मौर्यकालीन कला पर फारस का कुछ प्रभाव पड़ा दिखाई देता है, परन्तु डा० स्पूनर की कल्पना किसी भी ऐतिहासिक ने स्वीकार नहीं की।

सम्राट का दैनिक जीवन—सम्राट की शरीररक्षा का काम विदेशी स्त्रियों के सुपुर्द था। प्रजा के सामने वह प्रायः विशेष अवसरों पर ही आया करते थे। युद्ध, न्यायालय, बलिदान, शिकार आदि के अवसरों पर सरकारी अफसर उन्हें देख पाते थे, सम्राट का सम्पूर्ण जीवन बहुत नियमित था। उन्हें शत्रुओं से बचाने के लिए राजकर्मचारी बहुत सतर्क रहते थे। यहां तक कि उनका शयनागार भी प्रायः बदला जाता रहता था। इन बातों से ज्ञात होता है कि सम्राट के शत्रुओं की संख्या भी पर्याप्त थी।

व्यापार और व्यवसाय—व्यापार पर कड़ा सरकारी नियन्त्रण रहता था। अनेक स्थानों पर व्यापारियों तथा व्यवसाइयों के अपने-अपने संघ भी थे। सड़कों की अच्छी व्यवस्था होने से व्यापार खूब उन्नति पर था। सरकार भी इस कार्य के लिए खूब सचेष्ट रहती थी। तक्षशिला से पाटलिपुत्र तक का राजमार्ग विशेष-तौर से अच्छी दशा में था। एक सड़क पश्चिमी भारत से समुद्रतट से उज्जैन और काशी होती हुई पाटलिपुत्र पहुँचती थी। इसी मार्ग द्वारा बहुत प्राचीन काल से भारत का व्यापार मिश्र और बैबीलोन तक व्याप्त चला आरहा था। जलमार्ग के व्यापार पर भी सरकारी नियन्त्रण रहता था।

राजमार्ग—इसी उपर्युक्त राजमार्ग से, उन दिनों इस महादेश के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त राजधानी से मिले हुए थे। यह राज-मार्ग सीमाप्रान्त की पुष्करावती नगरी (पेशावर) से तक्षशिला आता था; तक्षशिला से पंजाब को पार कर हस्तिनापुर पहुंचता था, वहां से कान्यकुब्ज (कन्नौज) और प्रयाग होते हुए वह पाटलिपुत्र पहुंचता

था। पाटलिपुत्र से एक मार्ग गंगानदी की उपजाऊ घाटी में होते हुए ताम्रलुक के सामुद्रिक बन्दरगाह तक चला गया था। सड़कों पर मील बताने वाले पत्थर लगे रहते थे। कहा जाता है कि फ़ारस के राजमार्ग से मौर्य सम्राट् ने इस भारतीय राजमार्ग का विचार लिया था। राजनीतिक और व्यापारिक दृष्टि से इस राजमार्ग की बड़ी महत्ता थी। इन मार्गों द्वारा राजसेना को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने की व्यवस्था भी बहुत उत्तम थी।

सुव्यवस्थित और शक्तिशाली शासन—सम्राट् की अपनी अध्यक्षता में पाटलिपुत्र की सरकार एक बहुत ही समुन्नत दफ्तर-शाही सिद्ध हो रही थी। सम्राट् स्वयं एक बहुत ही दक्ष और प्रतिभाशाली शासक थे। सेना, न्याय, नियामक सभा और राजकर्मचारियों पर सम्राट् का पूरा नियन्त्रण था। साम्राज्य के उच्चतम न्यायाधीश स्वयं सम्राट् ही थे और इस दृष्टि से प्रजा के लिए वह बहुत सुलभ थे। सम्राट् की सहायता के लिए मन्त्री होते थे। ये मन्त्री अपने-अपने विभाग के अध्यक्ष थे। अशोक के शिलालेखों में इन्हीं को 'महामात्र' नाम से लिखा है। इन मन्त्रियों का चुनाव मन्त्रिपरिषद में से किया जाता था। इन्हें ४८००० पण वार्षिक वेतन दिया जाता था। प्रत्येक महत्वपूर्ण मामले के सम्बन्ध में, सम्राट् उस विभाग के मन्त्री से सलाह अवश्य लेते थे।

इस मन्त्रिसभा के अतिरिक्त एक मन्त्रिपरिषद् भी होती थी। मन्त्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य को १२००० पण वार्षिक वेतन दिया जाता था। महत्वपूर्ण मामलों के सम्बन्ध में सम्राट् इसी परिषद् के बहुमत के अनुसार कार्य करते थे।

इन दोनों संस्थाओं के अतिरिक्त राजकीय न्याय और शासनव्यवस्था के अन्य भी अनेक उच्च पदाधिकारी होते थे। इन सब का चुनाव उपर्युक्त सातवीं श्रेणी के लोगों में से ही किया जाता था।

अन्य विभाग—शासन विभाग का विभिन्न कार्य अधीनस्थ अध्यक्ष करते थे। कौटिल्य ने इस तरह के ३० विभागों का निर्देश किया है। वर्तमान सभ्य सरकारों के समान उन दिनों में भी भारत-सरकार ने सिंचाई, शिक्षा, अकालपीड़ितों की सहायता, चिकित्सा, खानों का नियन्त्रण, पशुओं की रक्षा आदि सर्वहितकारी विभाग खोल रक्खे थे। सिंचाई, खेती, जंगलात, खानों, सड़कों और शिकार आदि के कार्यों की देखभाल ज़िला अफ़सरों के सुपुर्द थी।

नगर समितियाँ—मैगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र की नगर समिति का वर्णन विस्तार के साथ किया है। यह स्पष्ट है कि इस तरह की नगर समितियां तक्षशिला, उज्जैन आदि प्रसिद्ध नगरों में भी होंगी। नगरसम्मिति छः उपसमितियों में विभक्त थी, प्रत्येक उपसमिति में पाँच-पाँच सदस्य रहते थे। इन उपसमितियों के कार्य थे—कारखानों का निरीक्षण, बाहर से आए लोगों की देखभाल, जन्म और मृत्यु की गणनाएँ रखना, बाज़ार का नियन्त्रण, उद्योगधन्धों का निरीक्षण, बिक्री पर १० प्रतिशत आय कर जमा करना। इसके अतिरिक्त सड़कों, बाज़ारों और मन्दिरों की सुव्यवस्था तथा कर और कीमतों के निश्चय करने का कार्य स्वयं नगर समिति ही करती थी।

सेना—ग्रीक उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि मौर्यकाल में भारत

वर्ष की सैन्यशक्ति वड़ी प्रबल थी। स्वयं सिकन्दर को भारत का कुछ भाग विजय करने में जिन दिक्कतों का सामना करना पड़ा, उन से उसकी विश्वविजयिनी ग्रीक सेना का भी हौसला टूट गया। सम्राट चन्द्रगुप्त की सेना में ४००००० स्थिर सैनिक थे। इसका नियन्त्रण एक सुसंगठित युद्ध-समिति द्वारा होता था। यह युद्ध समिति पांच-पांच सदस्यों की छः उपसमितियों में विभक्त थी। इन उपसमितियों के कार्य थे—सैन्य संचालन, सामान जमा करना और युद्ध क्षेत्र में पहुँचाना, पदाति, घुड़सवार, रथ और हस्ति सेना का नियन्त्रण। यह भारतीय सेना धनुष वाणों से लड़ती थी। प्रत्येक सैनिक के पास अपने कद के वरावर लम्बा एक धनुष तथा ६-६ फीट के बाण रहते थे। ग्रीक लेखकों का कथन है कि जब ये वाण पूरी शक्ति से चलाए जाते थे तो वे लोहे की ढालों को भी इस तरह छेद डालते थे, जैसे वे काग़ज़ से वनी हों।

प्रान्तीय सरकारें – भारत साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था। पाटलिपुत्र की केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त अशोक के शासनकाल में भातरवर्ष चार मुख्य भागों में विभक्त था—उत्तरीय भाग, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। पश्चिमी प्रान्त जिसकी राजधानी उज्जैन थी। दक्षिणी प्रान्त, जिस का राजधानी सुवर्णगिरि थी और कलिंग जिसकी राजधानी का नाम तोपालि था। इन प्रान्तों पर शासन करने के लिए प्रायः राज-परिवार के व्यक्ति ही वायसराय वना कर भेजे जाते थे।

संघ—इन मुख्य प्रान्तों के अतिरिक्त मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक गण राज्य भी थे। कौटिल्य ने इन्हें 'संघ' के नाम

से लिखा है। इन के नाम काम्बोज, सुराष्ट्र आदि थे। सम्भवतः पंजाब की जातियां इन्हीं संघों में गिनी जाती थीं। मौर्यकाल में भी इन पंजाबी संघों का पूर्ण नाश नहीं हुआ था। कौटिल्य ने भी इन्हें कमज़ोरी का आधार लिखा है। वैसे, सब मिलाकर चन्द्रगुप्त और कौटिल्य ने पाटलिपुत्र की सरकार को बहुत शक्तिशाली बना दिया था। यहां तक कि सुदूर काठियावाड़ में भी उन्हीं दिनों पाटलिपुत्र की सरकार की ओर से नहरें खुदवाई गई थीं।

गुप्तचर विभाग—इस विभाग को कौटिल्य ने अत्यधिक प्रमुखता दी है। सुदूर प्रान्तों की आन्तरिक खबरों से सरकार को अवगत रखने तथा सरकारी कर्मचारियों की गतिविधि पर कड़ा निरीक्षण रखने के लिए देश भर में गुप्तचरों का जाल-सा बिछा दिया गया था। मैगस्थनीज़ की साक्षी के आधार पर ये गुप्तचर अपने सम्राट के शुभचिन्तक थे, तथा राज्यसंचालन के लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हो रहे थे। इन गुप्तचरों को 'द्रष्टा' 'निरीक्षक' आदि का नाम दिया गया है। प्राचीन लेखकों ने लिखा है कि इस विभाग में सम्मिलित होने के लिए अत्यधिक ईमानदारी और योग्यता की आवश्यकता थी। कुलटा स्त्रियों से भी इस विभाग में कार्य लिया जाता था। यह स्पष्ट है कि उन दिनों इस विभाग का स्टैण्डर्ड काफ़ी ऊंचा था।

विदेशियों की देखभाल—मौर्य सरकार विदेशियों के सम्बन्ध में विशेष सतर्क थी। विदेशियों के आतिथ्य आराम आदि का प्रबन्ध भी सरकार के हाथों में था। बीमारी की दशा में उन की चिकित्सा कराई जाती थी और यदि किसी विदेशी का देहान्त हो जाता था तो सरकार उस की सम्पत्ति की रक्षा करती थी।

न्याय सम्बन्धी जिन मामलों में विदेशी लोगों का सम्बन्ध होता था, उन में सरकार विशेष सतर्क रहती थी।

ग्राम शासन—आर्य युग की ग्राम संस्थाएँ, सम्भवतः मौर्य काल तक भी अपने प्राचीन रूप में जीवित थीं। राजनीतिक परिवर्तनों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। ग्रामों के मुखिया सरकारी नौकर नहीं थे। सम्भवतः उनका चुनाव होता था। एक समिति उनकी सहायता करती थी। कुछ ग्रामों के ऊपर एक 'गोप' रहता था और गोपों के ऊपर 'स्थानिक'।

परिणाम—मौर्यकाल का सही-सही चित्र खींच सकना वर्तमान ऐतिहासिकों के लिए सुलभ कार्य है। इस चित्र से ज्ञात होता है कि मौर्यकाल में, इस देश में एक बहुत ही सुसंगठित सरकार थी और भारतीय जनता तब अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग कर रही थी। ऐतिहासिक रालिन्सन (Rawlinson) के कथनानुसार मैगस्थनीज़ के उल्लेख इस बात का ज़बरदस्त खण्डन है कि भारतवर्ष का कोई इतिहास नहीं और प्राचीन भारतीयों में राजनीतिक संस्थाओं के विकास की सामर्थ्य नहीं थी।

विदेशी प्रभाव—यद्यपि सम्राट् चन्द्रगुप्त का तत्कालीन यूनानियों से गहरा सम्बन्ध था और ग्रीक सम्राट की पुत्री भारतवर्ष की साम्राज्ञी थी तथापि मौर्य-भारत पर ग्रीक सभ्यता के प्रभाव दिखाई नहीं देते। अपितु तत्कालीन भारत पर पर्शियन सभ्यता के प्रभाव स्पष्टरूप से प्रतीत होते हैं। पञ्जाब के कुछ हिस्सों पर पर्शियन लोगों ने सदियों तक राज्य किया था और चन्द्रगुप्त ने अपने नवयौवन का कुछ समय पंजाब में काटा था। उसका प्रधानमन्त्री महामति चाणक्य भी तक्षशिला का निवासी था।

सम्भवत: इसी कारण से सम्राट् चन्द्रगुप्त के रहन सहन में पर्शियन संस्कृति की छाप दिखाई देती है। बालों को धोने का त्योहार, राजमार्ग, अशोक के शिलालेख, पत्थर की स्थापत्यकला, अशोक के स्तम्भ के सिंह मुख, इन सब पर पर्शियन प्रभाव प्रतीत होता है। परन्तु अब इस सम्बन्ध में नए विचार भी पेश किए जा रहे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय आर्यों तथा पर्शियन लोगों का मूल निवासस्थान एक ही था और दोनों ने विरासत में एक ही संस्कृति पाई थी। यह अनुमान किया जाता रहा है कि चन्द्रगुप्त ने अपने महलों का निर्माण करने के लिए पर्शियन कारीगरों को बुलाया होगा। ऐतिहासिक हेवेल (Havell) ने इस बात का जवाब दिया है कि—"भारतीय इतिहास चन्द्रगुप्त मौर्य से ही शुरू नहीं होता और भारतीय आर्य-निर्माण-कला उस समय से भी बहुत प्राचीन है, जब पाटलिपुत्र की नींव डाली गई थी।"

९. बिन्दुसार

(२९८–२७३ ईसा पूर्व)

अमित्रघात—चन्द्रगुप्त मौर्य के बाद उसके पुत्र बिन्दुसार ने २५ वर्षों तक मगध साम्राज्य पर शासन किया। ग्रीक लेखकों ने उसे अमित्रचेतस या अमित्रघात नाम से लिखा है। डा० फ्लीट का विचार है कि सम्भवत: यह नाम वास्तव में 'अमित्रखाद' होगा। जैन इतिवृत्त के अनुसार चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र सिंहसेन पाटलिपुत्र की राजगद्दी का अधीश्वर बना था।

दक्षिण की विजय—तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ और

जैन साहित्य की साक्षियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बिन्दुसार के शासनकाल में भी चाणक्य ही मगध साम्राज्य का प्रधान मन्त्री बना रहा। तारानाथ ने लिखा है कि चाणक्य ने सोलह राजाओं का नाश कर के बिन्दुसार को पूर्वीय समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक का शासक बना दिया।

तारानाथ की इस स्थापना के दो अर्थ हो सकते हैं, एक तो यह कि दक्षिण भारत बिन्दुसार के शासनकाल में मौर्य साम्राज्य का भाग बना और दूसरा यह कि चन्द्रगुप्त के देहान्त के बाद दक्षिण ने मौर्य साम्राज्य के खिलाफ़ विद्रोह करना चाहा और चाणक्य ने यह विद्रोह सफल न होने दिया।

तक्षशिला की क्रान्ति—दिव्यावदान में लिखा है बिन्दुसार के शासनकाल में तक्षशिला ने मौर्य साम्राज्य के खिलाफ़ विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। इस पर सम्राट ने अपने प्रतापी पुत्र अशोक को यह विद्रोह शान्त करने के लिए भेजा। जब मागध सेना के साथ राजकुमार अशोक तक्षशिला पहुँचा तो वहाँ के नागरिक इकट्ठे होकर उस के स्वागत के लिए नगर से बाहर आए और उन्होंने राजकुमार को यह विश्वास दिलाया कि वे मौर्य सम्राट् के प्रति राजभक्त हैं और उनका यह विद्रोह केवल तक्षशिला के अत्याचारी मन्त्रियों के खिलाफ़ ही है। अशोक ने यह मामला आसानी से सुलझा दिया।

ग्रीक राजाओं से सम्बन्ध—बिन्दुसार ने भी पड़ोसी ग्रीक राजाओं से मित्रता का सम्बन्ध बनाए रक्खा। सीरिया के ग्रीक राजा ने बिन्दुसार के दरबार में डाएमेकस (Deimachas) नामक राजदूत को भेजा। मिश्र के राजा फिलेडैलफ़स (Philadelphas)

ने डायोनीसस (Dionysias) नामक दूत को पाटलिपुत्र में भेजा। सम्भव है कि यह राजदूत अशोक के शासनकाल में आया हो। एक घटना से यह भी ज्ञात होता है कि भारतवर्ष और सीरिया के शासकों में परस्पर मित्रतापूर्ण पत्रव्यवहार होता था। भारत के सम्राट् ने सीरिया के शासक को लिखा कि वह उसके लिए मीठी शराब, सूखी अंजीरें तथा कुछ ग्रीक दार्शनिक भेजे। सीरिया के राजा ने जवाब दिया कि वह शराब और अंजीरें तो भेज रहा है, परन्तु "ग्रीक लोग दार्शनिकों का व्यापार करना अच्छा नहीं समझते।"

सब मिला कर विन्दुसार का शासनकाल अपने पिता या अपने पुत्र के समान घटनापूर्ण सिद्ध नहीं हुआ।

६. शान्ति का दूत सम्राट् अशोक

(२७३—२३२ ईसा पूर्व)

सन २७३ ईसापूर्व में, सम्राट् बिन्दुसार के देहान्त के बाद पाटलिपुत्र का साम्राज्य, एक अल्पकालीन संघर्ष के बाद अशोक के हाथ में आगया। वह अशोक, जो संसार के इतिहास के छः सब से महान व्यक्तियों में गिना जाता है। सम्भवतः प्राचीन भारतीय इतिहास ने महात्मा बुद्ध के बाद सम्राट् अशोक से बढ़ कर प्रभावशाली अन्य कोई व्यक्ति नहीं हुआ। एक लेखक का कथन है कि संसार का इतिहास मानवसमाज के गुनाहों, मूर्खताओं और बदकिस्मतियों के उल्लेख को छोड़ कर और कुछ नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर अशोक के राज्यकाल की कुछ भी महत्ता प्रतीत नहीं होती। उसकी सम्पूर्ण कृतियां धर्म और

आचार के क्षेत्र में थीं । अशोक ने प्रजाहित को अपना तथा मौर्य साम्राज्य का धर्म बना दिया। साथ ही उसने बौद्ध धर्म को एक साधारण सम्प्रदाय से बदल कर एक विश्वधर्म बना दिया।

उत्तराधिकार के लिए प्रयत्न—बौद्ध इतिवृत्त के अनुसार सम्राट् बिन्दुसार के देहान्त के बाद उनके पुत्रों में राजगद्दी के लिए परस्पर झगड़ा होगया। अपने सौतेले बड़े भाई सुसीमा की हत्या करके अशोक पाटलिपुत्र के राज्य का मालिक बन गया। उसका राज्याभिषेक बिन्दुसार के देहान्त के चार वर्ष बाद हुआ था, इससे भी सिद्ध होता है कि राजपाट के लिए भाइयों में परस्पर भारी संघर्ष हुआ होगा। लंका के इतिवृत्त के अनुसार राजगद्दी के लिए अशोक ने अपने अनेक भाइयों का वध किया था।

प्रियदर्शी अशोक—अपने शिलालेखों में अशोक ने सभी जगह अपने को 'देवानां प्रिय' अथवा 'प्रियदर्शी' लिखा है। 'अशोक' नाम केवल मास्की के शिलालेख में ही उपलब्ध होता है। दूसरी सदी के रुद्रदामन के शिलालेख में भी अशोक का नाम प्राप्त होता है।

कलिंग युद्ध—पाटलिपुत्र का सम्राट् बनने से पूर्व अशोक उज्जैन और तक्षशिला के शासक के रूप में कार्य कर चुका था। ये दोनों नगर भारतीय कला तथा विद्या के केन्द्र थे। इससे अशोक को अपनी शक्तियों का विकास करने में बड़ी सहायता मिली होगी। सन २६६ ईसापूर्व में अशोक का राज्याभिषेक

हुआ। उसके बाद कुछ वर्ष बिना किसी विशेष घटना के निकल गए। इस समय तक मौर्य साम्राज्य हिन्दुकुश पर्वत से मैसूर तक विस्तीर्ण होचुका था। परन्तु पूर्वीय तट का, शक्तिशाली प्राचीन कलिंग राज्य अभी तक अपनी स्वाधीनता अक्षुण्ण बनाए हुए था। यह कलिंग राज्य गोदावरी से महानदी तक व्याप्त था। दक्षिण के इस प्रसिद्ध मार्ग पर कलिंग का आधिपत्य था। अशोक ने कलिंगराज्य को जीतने का निश्चय कर लिया। युद्ध शुरू हुआ और यह युद्ध बहुत ही भयंकर था। कलिंग के निवासियों ने अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए सर्वस्व होम कर युद्ध किया। इस युद्ध में १००००० से ऊपर आदमी मारे गए और इससे अधिक संख्या में बन्दी बना लिए गए। अन्त में कलिंग की पराजय हुई और अशोक ने उसे अपने साम्राज्य का भाग बना लिया।

परिवर्तन—संसार के इतिहास में किसी और विजय का परिणाम इतना विचित्र न हुआ होगा। अशोक जीता तो सही, परन्तु इस विजय ने उसकी आन्तरिक हिंसा वृत्ति को पूर्णरूप से पराजित कर दिया। अशोक का कायापलट होगया। युद्ध मानव हृदय की कितनी पाशविक वृत्ति है, इस बात का अशोक को साक्षात अनुभव हो गया। परिणाम यह हुआ कि कलिंग विजय के उपलक्ष्य में खुशियां मनाने के बजाय अशोक ने साम्राज्य भर में यह घोषणा कर दी कि उसने एक भारी पाप किया है और इस पाप के प्रायश्चित के लिए वह आजीवन प्रयत्न करेगा। युद्ध के मारू बाजे सदा के लिए शान्त कर दिए गए और अशोक ने विश्वभर में 'धर्म विजय" करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

वह बौद्ध होगया और अपना सम्पूर्ण शेष जीवन उसने महात्मा बुद्ध की नैतिक शिक्षाओं के प्रचार में लगा दिया।

इस विषय में मतभेद है कि अशोक ने बौद्ध धर्म में प्रवेश किस वर्ष किया। अशोक के शिलालेखों में बौद्धों की साम्प्रदायिक बातों का प्रायः अभाव ही है। इन शिलालेखों में जिस धर्म का निर्देश किया गया है, उसका आधार आचार, दया और सहानुभूति ही है। एक के शिलालेख में अशोक को बौद्ध लिखा है और सारनाथ के शिलालेख में उसे बौद्ध चर्च का प्रधान लिखा है। परन्तु इन दोनों शिलालेखों के निर्माणकाल की तिथि अनिश्चित है। एक मत के अनुसार पहला शिलालेख सम्राट् अशोक के राज्यकाल के प्रारम्भ में लिखा गया था और दूसरे मत के अनुसार वह उससे बहुत पीछे का है।

उपगुप्त और मौद्गलि-पुत्र तिष्य—अशोक के शासनकाल में बौद्ध धर्म का सब से महान् आचार्य उपगुप्त था। सम्भवतः मौद्गलि का पुत्र तिष्य और उपगुप्त दोनों एक ही व्यक्ति के नाम थे। कहा जाता है कि आचार्य उपगुप्त ने ही अशोक को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था।

अशोक की धर्मयात्राएं—आचार्य उपगुप्त मथुरा के निकट एक जंगल में रहते थे। अशोक ने उन्हें सम्पूर्ण संघ सहित पाटलिपुत्र में निमन्त्रित किया। उपगुप्त वहां से १८००० भिक्षुओं के साथ राजधानी के लिए रवाना होगए। वहां से अशोक भी इस यात्रा में सम्मिलित होगए। धर्मयात्रा शुरू हुई। महात्मा बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनी उद्यान, कपिलवास्तु, गया का बोधि वृक्ष सारनाथ, मृगोद्यान, श्रावस्ती और माहत्मा बुद्ध के निर्वाणस्थान

कुशीनगर का चक्कर लगा कर यह दल राजधानी को लौट आया। इसी अवसर पर लुम्बिनी में अशोक ने एक स्तम्भ भी लगवाया।

शिलालेख—अशोक को अमर बनाने में उसके शिलालेखों का बड़ा महत्वपूर्ण भाग है। वे कुल मिलाकर ३६ हैं। अशोक के राज्याभिषेक के १३ वर्ष बाद से उनका निर्माण शुरू हुआ। उनमें धर्म और आचार की व्याख्या के अतिरिक्त, अशोक ने किस तरह अपने राज्य तथा विदेशों में धर्म प्रचार किया तथा वह किस तरह अपनी प्रजा पर शासन करना चाहता था और अपने राजकर्मचारियों से प्रजा के प्रति वह किस तरह के आचरण की आशा करता था, आदि बातों का उल्लेख है।

संसार के प्राचीन उल्लेखों में इन शिलालेखों का अपना एक निराला ही स्थान है। इन अमर शिलाखण्डों पर सम्राट् अशोक ने अपने हार्दिक उद्गार ऐसी भाषा में खुदवाए हैं, जैसे वह अपने किसी मन्त्री को कोई निजू पत्र लिखा रहा हो।

जो शिलालेख चट्टानों पर खुदे हुए हैं, वे अधिक प्राचीन हैं और सम्पूर्ण देश के विभिन्न हिस्सों में वे उपलब्ध हुए हैं। अशोक के स्तम्भ हिमालय की तराई में ही उपलब्ध हुए हैं। ये स्तम्भ बढ़िया रेतीले पत्थर के हैं और ऐसा पत्थर हिमालय की तराई में ही पाया जाता है।

इन लेखों का निम्नलिखित श्रेणीकरण किया जासकता है—

१. पेशावर के निकट शाहबाज़गढ़ी से काठियावाड़ के गिरनार तक और हज़ारा ज़िले के मानसेहरा से उड़ीसा के तुषालि नगर तक के प्रदेश में १४ शिलालेख उपलब्ध होते हैं। इन पर धर्म की विशद व्याख्या अंकित है।

इन की तिथि २५६ ईसापूर्व रक्खी जा सकती है। कलिंग के शिलालेखों में केवल नव विजित प्रदेशों का ही नाम है। इ लेखों के दो भेद हैं।

२. कुल मिलाकर सात स्तम्भलेख ६ प्रकार के हैं। ये स्तम्भ सम्भवत: अशोक के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में बनाए गए थे। उन में अशोक के कार्यों का उल्लेख है।

इन के अतिरिक्त अनेक छोटे शिलालेख भी हैं। इन में भाब्रू का शिलालेख, बारबारा पर्वत की कन्दराओं के लेख, तराई का स्तम्भ लेख, तथा छोटा स्तम्भ लेख आदि अन्तर्गत हैं।

अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य के प्रमुख व्यापार केन्द्रों तथा राजमार्गों पर इन शिलालेखों का प्रतिष्ठापन किया था। ये लेख उत्तर में पेशावर तथा नैपाल तक, दक्षिण में मैसूर तक, पूर्व में पुरी के निकट धौली तक और पश्चिम में गिरनार तक पाए जाते हैं। कुछ शिलालेख हाल ही में उपलब्ध हुए हैं। यह भी सम्भव है कि कुछ अभी उपलब्ध होने बाकी हों।

ये लेख तत्कालीन जनता की प्रचलित भाषा में, सरल शैली में लिखे गए थे, अत: बौद्ध धर्म के प्रचार में इन से बड़ी सहायता मिली होगी। ये "पत्थरपर के उपदेश" एक तरह से सम्राट अशोक का आत्मचरित्र हैं और इनसे उस युग का इतिहास निर्माण करने में अमूल्य सहायता प्राप्त हुई है।

धम्म—अशोक ने जिस 'धम्म' का प्रचार किया, वह भारतीय संस्कृति का सार भूत धर्म था। अहिंसा पर उसने और भी अधिक बल दिया, तथा इस सम्बन्ध नें अनेक क्रियात्मक मार्ग सुझाये। उस के धर्म में साम्प्रदायिकता की गंध तक भी नहीं थी। वह जीवन को

पवित्र मानता था। उसने किसी विश्वासवाद अथवा सिद्धान्तवाद का प्रतिपालन नहीं किया। अशोक का धर्म 'जीवन का धर्म' था, 'विश्वास का धर्म' नहीं। उसके मुख्य आधार थे— (१) घरेलू जीवन की पवित्रता। अपने सम्बन्धियों अभिभावकों, अध्यापकों, पुत्रों तथा अनुचरों से सहानुभूति पूर्ण और न्याय युक्त व्यवहार। (२) पशुओं के जीवन को भी पवित्र मानना (३) सहिष्णुता। सम्राट अशोक ने एक पृथक शिलालेख खुदवाकर सहिष्णुता को धर्म का आधारभूत अंग स्वीकार किया था। वह स्वयं सहिष्णुता का मूर्त्तस्वरूप था। उसने कभी बौद्धों के प्रति विशेष पक्षपात नहीं दिखाया। (४) आचार की पवित्रता—यथा दया, दान, आत्म-संयम, सत्यपरायणता, विचारों की पवित्रता, पवित्र कर्म, आत्म-निर्माण आदि धर्म की आधारभूत और सर्वमान्य बातें।

धम्म प्रचार—सम्राट अशोक ने पाटलिपुत्र के विशाल मागध साम्रज्य की सम्पूर्ण सुसंगठित शक्ति धर्म के आधारभूत तत्वों के प्रसार में लगा दी। इस कार्य के लिए, उस ने निम्नलिखित उपायों का प्रयोग किया—

१. सामान्य साधन। अशोकने युद्ध बन्द कर दिए। राजकीय भोजनालय में पशुहत्या पहले कम करवा दी और बाद में बिलकुल बन्द कर दी। शिकार पर जाने की बजाय तीर्थयात्रा करने की प्रथा डाली। पशुओं की रक्षा तथा यज्ञों में पशु-बलिदान को रोकने के लिए राजनियम बनवाए।

२. अनेक सर्वजन-हितकारी कार्य शुरू किए। सड़कों पर छायादार वृक्ष लगवाए। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कूएँ खुदवाए। धर्म-शालाएँ और सराएँ बनवाईं। मनुष्यों तथा पशुओं की चिकित्सा

के लिए हस्पताल स्थापित किए। ये सब कार्य अशोक ने केवल अपने राज्य में ही नहीं किए, परन्तु विदेशों में भी करवाए।

३. जनता के आचार तथा आध्यात्मिक दशा पर निरीक्षण रखने के लिए एक नए विभाग की नियुक्ति की। इस विभाग के अफ़सरों को 'धर्म महामात्र' कहा जाता था। ये लोग सम्पूर्ण देश में कार्य करते थे। सीमाप्रान्त की अर्धसभ्य जातियों को धर्म का पाठ पढ़ाने के लिए, उनमें भी धर्म महामात्रों की नियुक्ति की गई। यवन, काम्भोज, गान्धार, राष्ट्रिक आदि जातियों में भी धर्म प्रचार का कार्य शुरू किया। इन धर्म महामात्रों को राजकीय सज़ा कम करने आदि के 'कृपाधिकार' भी दिए गये। राजकीय दान का वितरण भी यही अधिकारी करते थे।

४. अपने शासनकाल के २१वें वर्ष में अशोक ने पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध महासभा का अधिवेशन बुलाया। यह अधिवेशन ६ महीनों तक होता रहा। आचार्य उपगुप्त इस महासभा के प्रधान थे। इस महासभा में बौद्ध धर्म सम्बन्धी अनेक विवादास्पद विषयों पर निश्चयात्मक मत बनाए गए।

५. सम्राट् अशोक के जीवन का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य विदेश प्रचार था। उसने अपने उत्साह को अपने साम्राज्य की सीमाओं में ही सीमित नहीं रक्खा। अशोक की अध्यक्षता में बौद्ध धर्म संसार की सब से बड़ी धार्मिक शक्ति बन गया। बौद्ध प्रचारकों ने अपने प्रचार कार्य की सीमा भारतवर्ष, सीमाप्रान्त, हिमालय, पेगु और लंका तक ही सीमित नहीं रक्खी। वे सुदूर मिश्र के यूनानी राज्यों, सीरिया, मैसीडोनिया आदि तक भी पहुँचे। लंका के प्रचार में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई। लंका में जो बौद्ध

भिक्षु धर्मप्रचार के लिये गए, उनका नेता स्वयं सम्राट् अशोक का पुत्र महेन्द्र था। बाद में राजपुत्र महेन्द्र की बहन भी अपने भाई के साथ जा मिली। प्रतीत होता है कि महेन्द्र ने पहले पहल दक्षिण भारत में अपने कार्य का केन्द्र बनाया था, बाद में वह लंका चला गया। उस दिन के बाद से लंका बौद्ध धर्म का मज़बूत किला बन गया।

अशोक के साम्राज्य का विस्तार—उत्तर पश्चिम में सम्राट् अशोक के मागध साम्राज्य का विस्तार ग्रीक राजा एण्टिओकस के राज्य की पूर्वीय सीमा तक था। उसमें पेशावर और हज़ारा के ज़िले भी सम्मिलित थे। सीमाप्रान्त के प्रदेश की राजधानी तक्ष-शिला थी। काश्मीर, तराई नैपाल आदि हिमालय के प्रदेश भी अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। बंगाल भी उसके साम्राज्य में था। परन्तु सम्भवतः कामरूप (आसाम) अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था। दक्षिण में अशोक के राज्य की सीमा तामिल राज्य से जुड़ी हुई थी। अशोक के दक्षिण प्रान्तों का केन्द्र सुवर्णगिरि नगरी थी। यह नगरी किस जगह थी, इस सम्बन्ध में अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। कलिंग के प्रान्त की राज-धानी तोशालि थी। आन्ध्र, पुलिन्द, भोज, राष्ट्रिक आदि गणराज्य भी अशोक के शासन की अधीनता में थे। पश्चिम में उसका साम्राज्य अरब समुद्र तक विस्तृत था। सुराष्ट्र की राजधानी गिरनार थी और वहां अशोक ने एक ग्रीक अफसर को शासक के रूप में नियुक्त किया हुआ था।

अशोक का पारिवारिक जीवन—बौद्ध साहित्य में सम्राट् अशोक के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाओं का उल्लेख है। उनके

अनुसार अशोक की अनेक पत्नियां थीं। इन में कुरुवकी बौद्ध थी। रानी असन्धमित्रा से अशोक का विशेष स्नेह था। रानी तिश्यरक्षिता एक अभिमानिनी महिला थी। सम्भवतः अशोक ने काफ़ी बड़ी उम्र में उससे विवाह किया था। एक कहानी के अनुसार तिश्यरक्षिता ने गया के बोलि वृक्ष को नष्ट करने का प्रयत्न भी किया था। कुणाल की करुण कहानी भी उसी से संयुक्त है। कुणाल अशोक का पुत्र था। उसकी माता असन्धमित्रा थी। तिश्यरक्षिता कुणाल से प्रेम करने लगी। कुणाल ने अपनी विमाता का प्रेम स्वीकार न किया। वह उसे माता के रूप में देखता था। इस पर तिश्यरक्षिता ने षड्यन्त्र रचकर उसे भारी यातनाएँ पहुँचाई। झूठी राजाज्ञा से उसकी आंखें निकलवा दीं। बरसों तक वह राजधानी के बाहर दर-दर भटकता फिरा। अन्त में जब अशोक को यह समाचार ज्ञात हो गया तो उसने रानी तिश्यरक्षिता को कठोर दण्ड दिया।

अशोक और बौद्ध धर्म—बौद्ध धर्म के इतिहास में अशोक का शासनकाल बहुत ही महत्व का है। महात्मा बुद्ध के देहावसान के २०० वर्ष बाद तक बौद्ध धर्म का प्रचार कहां-कहां तक हो गया था, इस सम्बन्ध में कुछ भी कह सकना कठिन है। परन्तु यह एक तथ्य है कि बौद्ध धर्म को विश्वव्यापी धर्म बनाने का अधिकांश श्रेय सम्राट् अशोक को ही है। उसने बौद्ध धर्म को एक साधारण सम्प्रदाय से विश्वधर्म बना दिया। अशोक के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म भारतवर्ष का सब से बड़ा धर्म बन गया। अनेक विदेशों में भी उसका यथेष्ट प्रसार होगया। विदेशियों का हृदय जीतने की सामर्थ्य उसमें पैदा हो गई। उसका नियन्त्रण बड़ा दृढ़ होगया

और उसकी इमारतों तथा स्मारकों की संख्या भी खूब बढ़ गई।

अशोक ने धार्मिक जुलूसों की प्रथा डाली, भिक्षु संघों में भाषण दिए, चर्च का संगठन किया, धार्मिक इमारतें, बनवाईं, अपने स्वजनों को धर्म प्रचार के कार्य में लगाया, और मागध साम्राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्थित शक्ति महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं के अनुसार सर्वजन-हितकारी कार्यों में लगा दी। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही बरसों में संसार के धार्मिक इतिहास का नक्शा ही बदल गया।

बौद्ध साहित्य में अशोक को एक महान् सन्त के रूप में चित्रित किया गया है। हैवेल ने लिखा है कि विचारों की पवित्रता, चरित्र की शुद्धता और मनुष्य मात्र के लिए भ्रातृत्व भाव को ही यदि सन्तपन की कसौटी माना जाय तो संसार के बड़े-बड़े मज़हबियों को भी अशोक को सन्त मानने में आना-कानी नहीं करनी चाहिए।

इतिहास में अशोक का स्थान—शान्ति और सदाचार के दूत सम्राट् अशोक का संसार के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। अशोक की तुलना प्रायः ईसाइयत के कौन्स्टैन्टाइन और सेंट पाल से की जाती है। परन्तु अशोक की तुलना कौन्स्टैन्टाइन से करना अशोक के साथ अन्याय करना है। कौन्स्टैन्टाइन की तुलना तो कनिष्क के साथ हो सकती है। उसी के समान उसने एक सर्वप्रिय धर्म को राज्य-धर्म बना दिया था। सेंट पाल ने अवश्य ही अशोक के समान एक प्रान्तीय धर्म को विश्वधर्म बनाया था। परन्तु जहाँ सेंट पालने ईसाइयत को पहले की अपेक्षा भी अधिक गुथीला बना दिया, वहाँ अशोक ने महात्मा बुद्ध की उच्च शिक्षाओं को और भी अधिक सर्वजन-हितकारी रूप देने

का प्रयत्न किया । संसार के बड़े-बड़े राजाओं और सम्राटों तथा दिग्विजयी वीरों की लम्बी सूची में सम्राट् अशोक का स्थान सब से निराला है। इसी से ऐतिहासिक वैल्स ने उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ विजेता और सम्राट् स्वीकार किया है। वह अकेला सम्राट् था, जिसका एकमात्र शौक सर्वभूतों के हित में रत रहता था। रहस्यमय धार्मिक विश्वासों और आध्यात्मिक उन्नति के परीक्षणों की ओर उसका झुकाव नहीं था। वह मनुष्य और पशु—सम्पूर्ण जीवमात्र का मित्र था।

७. मौर्य साम्राज्य का ह्रास

सम्राट अशोक के शासन काल में मौर्यसाम्राज्य हिन्दूकुश पर्वत से लेकर तामिल देश तक फैला हुआ था। अशोक के शासन-काल में दण्ड की प्रभुता जाती रही। दण्ड के बिना ही सम्पूर्ण साम्राज्य में सम्राट् अशोक का जो असामान्य सम्मान और प्रभाव था, वह उसके देहान्त के बाद, उस के उत्तराधिकारियों के शासन-काल में जाता रहा। उस के उत्तराधिकारी कमज़ोर सिद्ध हुए और उनके राज्यकालमें मौर्यसाम्राज्यका ह्रास बहुत शीघ्रता से होता गया। अशोक के बाद ५० बरसों के अन्दर ही अन्दर करीब ६ राजा पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर बैठे। इन के शासन काल में साम्राज्य के प्रान्त एक-एक करके पृथक् होने लगे। भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी द्वार से विदेशी आक्रान्ता इस देश पर पुनः हमले करने लगे। दक्षिण की आन्ध्र शक्ति तथा कलिंग का राजवंश, जिसे सम्राट अशोक ने बुरी तरह से कुचल दिया था, इन दोनों ने अब मौर्य साम्राज्य के ख़िलाफ़ क्रान्ति का झंडा खड़ा कर दिया और बाद में, यह भी कहा जाता है कि, इन लोगों ने पाटलिपुत्र पर

आक्रमण कर दिया। वास्तव में मौर्यसाम्राज्य के अन्तिम दिनों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री बहुत नहीं मिलती।

अशोक के वंशधर—सम्राट अशोक के अनेक पुत्र थे और उसने उन्हें तक्षशिला, उज्जैन, स्वर्णगिरि और तोशालि में प्रान्तीय क्षत्रप नियुक्त किया हुआ था। शिलालेखों में महारानी कुरवकी के जिस पुत्र का वर्णन है, वह उसका उत्ताधिकारी नियुक्त नहीं हुआ। महेन्द्र बौद्ध धर्म के प्रचार में लग गया। कुछ लोग उसे अशोक का पुत्र न मान कर उस का भाई स्वीकार करते हैं। वायु पुराण के अनुसार अशोक के बाद कुणाल ने आठ वर्षों तक पाटलिपुत्र पर शासन किया। पुराणों के वृत्तान्त परस्पर विरोधी हैं। राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर प्रान्तपर अशोक का पुत्र जालुक राज्य करने लगा। तारानाथ के अनुसार अशोक का पुत्र वीरसेन गान्धार का शासक बना। इन सम्पूर्ण अनुश्रुतियों में से ठीक कौनसी है, यह कह सकना कठिन है। कुणाल पूर्णरूप से ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होता है, क्योंकि पौराणिक, जैन और बौद्ध साहित्य में उस का उल्लेख है। यह भी लिखा है कि उसकी विमाता ने षड़यन्त्र रचकर उसे अन्धा बना दिया था। सम्भव है कि अशोक के देहान्त के बाद कुणाल ही मगध साम्राज्य का अधीश्वर नियुक्त हुआ हो और उस के अन्धा होने के कारण, उस के जीवनकाल में ही, उस का पुत्र सम्प्रति राज्य की देखभाल करता हो और बौद्ध तथा जैन साहित्य में सम्प्रति को ही अशोक का उत्तराधिकारी लिखने का भी यही कारण हो। मौर्यकाल के उत्कीर्ण लेखों में राजकुमार दशरथ का नाम भी उपलब्ध होता है। पुराणों के अनुसार वह अशोक का पोता था। जैन साहित्य के अनुसार सम्प्रति जैन था

और जैन साहित्य में उसकी वैसी ही महिमा लिखी है, जैसी बौद्ध साहित्य में सम्राट् अशोक की। सम्भवतः सम्प्रति का साम्राज्य पश्चिम में उज्जैन तक फैला हुआ था। डा० स्मिथ की कल्पना है कि यह भी सम्भव है कि अशोक के बाद उस के विशाल साम्राज्य के दो भाग कर दिए गए हों और उस के दोनों पोते उन पर राज्य करने लगे हों। पूर्वीय भाग का शासक दशरथ नियुक्त हुआ हो और उस की राजधानी पाटलिपुत्र ही रही हो। उधर उज्जैन राजधानी वाले पश्चिमी भाग का शासक सम्प्रति नियुक्त हुआ हो। हमारी राय में डा० स्मिथ की कल्पना के लिए कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

प्राचीन साहित्य में मौर्य वंश के अन्य भी अनेक राजपुत्रों का वर्णन है। पोलीबियस ने मौर्य कुमार सुभगसेन का नाम गान्धार के शासक के रूप में लिखा है। इन नामों में अनेक एक ही पुरुष से द्योतक भी हैं। मौर्य वंश,का अन्तिम राजा बृहद्रथ था। उस के प्रधान सेनापति पुष्यमित्र ने उसका वध कर दिया और पाटलिपुत्र में शुंगवंश की नींव डाली।

पाटलीपुत्र में मौर्य वंश के नष्ट हो जाने पर भी भारतवर्ष के अनेक भागों पर मौर्य राजपुरुषों का शासन बना रहा। इसी तरह के एक मौर्य राजा का उल्लेख आठवीं सदी के एक शिलालेख में भी उपलब्ध होता है। प्रारम्भिक चालुक्य और यादवों के शिलालेखों में भी कतिपय मौर्य राजाओं का वर्णन है। चीनी ह्वान च्वांग ने भी मगध के एक मौर्य राजपुत्र का वर्णन किया है।

प्रतीत होता है कि अशोक के देहान्त के २५ बरस बाद ही भारती-युनानी आक्रान्ताओं ने भारतवर्ष के सीमाप्रान्त को पार कर

लिया और तब उन का सांमुख्य करने के लिए वहां कोई संगठित शक्ति नहीं थी।

मौर्य साम्राज्य के पतन का कारण—कहा जाता है कि मौर्य साम्राज्य के पतन का एक मुख्य कारण बौद्ध धर्म के खिलाफ़ ब्राह्मणों द्वारा संचालित प्रतिक्रिया थी। इस कल्पना को सिद्ध करने के लिए श्री हरिप्रसाद शास्त्री ने जो आधार पेश किए हैं उन में से बहुतों से हम सहमत नहीं। तथापि यह पूर्णरूप से सम्भव है कि अशोक ने अपने शासनकाल में, जिस उत्साह के साथ साम्राज्य की पूरी ताकत बौद्ध धर्म के प्रचार में लगा दी थी, उस के खिलाफ अशोक के देहान्त के बाद, तत्कालीन ब्राह्मणों में तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई हो। यह एक तथ्य है कि सम्राट् अशोक ने ब्राह्मणों को कभी किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाई। वह उन्हें भी सम्मान की दृष्टि से देखते थे। अशोक स्वयं बौद्ध थे, तथापि उन्हों ने कभी कोई ऐसा कार्य नहीं किया जिस से ब्राह्मणों को शिकायत का अवसर मिले। यह भी एक सर्वसम्मत तथ्य है कि बौद्ध धर्म का भर्हुत स्तूप शुंगवंश के समय बनाया गया था। यदि शुंगवंश का संस्थापक पुष्यमित्र ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया का नेता होता, तो वह अपने शासनकाल में बौद्ध स्तूप की रचना कभी न होने देता। पुष्यमित्र स्वयं ब्राह्मण था, अतः यह पूरी तरह सम्भव है कि राजगद्दी प्राप्त करने के बाद, अपनी स्थिरता के लिए उसने अबौद्ध-जनसमुदाय का आश्रय लिया हो। यह भी एक तथ्य है कि मौर्य साम्राज्य का ह्रास पुष्यमित्र के प्रादुर्भाव से बहुत समय पूर्व ही शुरु होगया था। अशोक के देहान्त के बाद उस के एक पुत्र जालुक ने अपने को काश्मीर का स्वतन्त्र शासक घोषित कर

दिया था। क्रमशः जालुक ने अपना राज्य कन्नौज तक बढ़ा लिया था। एक और राजपुत्र वीरसेन ने गान्धार में अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। ग्रीक लेखकों के अनुसार वीरसेन के बाद उसका पुत्र सुभगसेन गान्धार का राजा बना। डा० स्मिथ की यह स्थापना निराधार है कि सुभगसेन केवल काबुल की घाटी का ही शासक था। एक प्राचीन ग्रीक लेखक ने उसे भारतीय राजा लिखा है। "पोलीबस के लेखों से यह सिद्ध नहीं होता कि सुभगसेन को सीरिया के राजा ने पराजित कर दिया, अथवा वह उसके अधीन था।" वास्तव में वह ग्रीक राजा एण्टिओकस का समान स्थिति वाला मित्र था।

मौर्य साम्राज्य का विस्तार बहुत अधिक था। अतः राजधानी से बहुत दूर के प्रान्तों पर दृढ़ नियन्त्रण रख सकना उतना आसान नहीं था। सम्राट् बिन्दुसार के शासनकाल में ही तक्षशिला में जिस क्रान्ति का प्रयत्न किया था, उसका वर्णन यथास्थान किया जा चुका है। अशोक के शासन काल में भी तक्षशिला में पुनः क्रान्ति करने का प्रयत्न किया गया था। इस क्रान्ति का कारण भी राजकर्मचारियों के प्रति जनता का तीव्र असन्तोष ही था। इस बार अशोक ने युवराज कुणाल को तक्षशिला भेजा। तक्षशिला के निवासियों ने उसका हार्दिक स्वागत किया। परन्तु अशोक के उत्तराधिकारियों के लिए इस तरह की क्रान्तियों का दमन करना सम्भव नहीं रहा। कलिंग युद्ध के बाद सम्राट् अशोक ने युद्ध बन्द कर दिए थे, अतः साम्राज्य की सैनिक शक्ति क्षीण पड़ती गई। चन्द्रगुप्त मौर्य ने आचार्य चाणक्य की सहायता से जिस शानदार विशाल मागध साम्राज्य की स्थापना की थी, वह प्रतापी और धर्म

विजयी अशोक के शासनकाल तक तो अक्षुण्ण बना रहा परन्तु उसके बाद, शासकों की कमज़ोरी के कारण, वह छिन्न-भिन्न होगया। भारती-ग्रीक आक्रान्ताओं ने अशोक के उत्तराधिकारियों का मार्ग और भी दुरूह बना दिया और अन्त में पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य वंश की समाप्ति ही कर दी।

८. मौर्य्यकालीन कला

प्राग्मौर्यकालीन कला—सम्राट् अशोक के शासन काल से पूर्व भी भारतीय कला बहुत विकसित हो चुकी थी। मौर्य कालीन समुन्नत कला ही से यह सिद्ध है कि उससे पूर्व भी भारतवर्ष की कला पर्याप्त उन्नत दशा को पहुँच गई थी। परन्तु भारतीय कला के स्थिर चमत्कारों का निर्माण मौर्यकाल में ही हुआ। भारतीय आर्य सभ्यता की कला के प्राचीनतम अवशेष सम्भवत: अशोक के स्तम्भ ही है। ग्रीक, क्रेट, मिश्र आदि प्राचीन काल के समुन्नत देशों के समान भारतवर्ष की प्राचीन कला के अवशेष आज तक सुरक्षित नहीं रह सके। अशोक के अनेक प्रस्तर अवशेष स्पष्ट रूप से लकड़ी की रचनाओं के आधर पर बनाए हुए हैं। सम्भवत: प्राचीन काल में भारतीय अपने मकान लकड़ी के ही बनाया करते थे। तब जंगलों की अधिकता के कारण लकड़ी बहुत सुलभ भी होतीं थी। लकड़ी की वस्तुओं का आज तक सुरक्षित रह सकना सम्भव भी नहीं था। एक और बात भी हैं। भारतवर्ष के बिहार, युक्तप्रान्त आदि हिस्सों में वर्षा इतनी अधिकता से होती है कि उनमें पत्थर की बड़ी-बड़ी वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य किसी चीज़ का हज़ारों बरसों तक बने रह सकना सम्भव ही नहीं है। फिर, इस देश के बड़े-बड़े शहर नदियों के तट पर हैं और प्राय:

सभी नगर समय-समय पर बाढ़ों की भेंट होते रहे हैं। इन परि-स्थितियों में प्राचीन भारतीय वास्तु कला के अवशेषों का अब तक सुरक्षित रह सकना उतना सुगम भी नहीं था।

महान् निर्माता अशोक—यह भी सम्भव है कि बिहार आदि में भूमि के नीचे से अभी प्राचीन काल के अवशेष उपलब्ध होने बाकी हों। हरप्पा और महेंजोदरो जैसी अन्य भी न जाने कितनी विभूतियां अभी तक भूगर्भ में छिपी पड़ीं होंगी। तथापि इस समय तक जो कुछ उपलब्ध हुआ है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि अशोक एक महान निर्माता था। अशोक के शासनकाल में लकड़ी के स्थान पर पत्थर का प्रयोग शुरू किया गया। अशोक ने पाटलिपुत्र में पत्थर के बड़े-बड़े राजप्रासादों का निर्माण करवाया अशोक के अनेक सदियों बाद भी, जो चीनी यात्री इस देश म आए, वे पाटलिपुत्र के गगनचुम्बी राजमहलों को देखकर आश्चर्य चकित रहगए। उत्तरीय भारतके दो प्रमुख नगरों की नींव अशोक ने ही डाली। एक तो काश्मीर में श्रीनगर की और दूसरा नैपाल में देवपाटन की। उसने अनेक स्तूपों का निर्माण भी कराया।

अशोक के स्तम्भ – अशोक के स्तम्भ वास्तुविद्या के आश्चर्य-जनक उदाहरण हैं। रेतीले मजबूत पत्थर के बड़े-बड़े खण्डों को घड़ कर ये स्तम्भ बनाए गए हैं। शिलाखण्डों से बने इन स्तम्भों की ऊंचाई ५० फीट है और इनका तोल १३५० मन है। इतने भारी स्तम्भ को एक जगह से दूसरी जगह ले जाया गया। ऐति-हासिक स्मिथके अनुसार इन स्तूपों की सुन्दर और सूक्ष्म बनावट को देख कर यह मान लेना पड़ता हैं कि मौर्यकाल के भारतीय कारीगर संसार के किसी भी देश अथवा किसी भी युग के कारीगरों

से कम दक्ष नहीं थे। इन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाना कितना कठिन था, यह बात एक इसी तथ्य से स्पष्ट होजाती है कि सुल्तान फीरोज़शाह ने अशोक के स्तम्भ को अम्बाला से दिल्ली ले जाने का प्रयत्न किया। इस कार्य के लिए उसे ८४०० आदमी लगाने पड़े। एक गाड़ी बनाई गई, जिसमें ४२ पहिये थे। प्रत्येक पहिए पर दो-दो सौ आदमी लगाये गए। इतने विशाल होते हुए भी ये स्तम्भ अत्यधिक सुन्दर हैं और इन पर इतनी अच्छी पालिश है कि जैसे वह पालिश हाल ही में की गई हो। "आज तक भी यह ज्ञात नहीं कि पत्थर पर इतनी पालिश किस प्रकार की गई होगी।"

इन स्तम्भों के सिरे भी बहुत ही सुन्दर और कलापूर्ण बनाए गए हैं; उन पर शेर, हाथी आदि के चित्र बने रहते थे। सारनाथ के स्तम्भ का सिरा इतना सुन्दर है कि अनेक कलाविज्ञों की राय में पुरातत्व को उससे अधिक श्रेष्ठ और कलापूर्ण वस्तु भारतवर्ष में कोई दूसरी उपलब्ध नहीं हुई। उसकी ऊँचाई सात फीट है। उस पर चार शेर खड़े हैं, जिनकी पीठें एक दूसरे से मिली हुई हैं। उनके बीच में एक पत्थर है, जिस पर चक्र बने हैं। ये चक्र धर्म-चक्र के चिन्ह हैं। ये शेर इतने अधिक सुन्दर बने हैं कि देखने पर वे बिलकुल जीवित शेरों के समान प्रतीत होते है। * यह सब कुछ एक ही पत्थर को काट और घड़ कर बनाया गया है। संसार के कलाविज्ञों ने इनकी अत्यधिक सराहना की हैं। सर जोन मार्शल का कथन है कि 'ये स्तम्भ प्राचीन भारतीय वास्तुकला की

---

* Annual Report of Archaeological Survey, 1904-5. Page 69.

सर्वश्रेष्ठ कृतियां हैं और प्राचीन संसार की कोई अन्य कृति कला की दृष्टि से इन से बढ़ कर नहीं है।' ऐतिहासिक स्मिथ का कथन है कि 'प्राचीन संसार के किसी भी देश में इन शेरों की प्रतिमूर्ति बढ़ कर अच्छी कृति की तो कल्पना ही दूर रही, इन के समान भी कोई कृति प्राप्त कर सकना कठिन है। ये कृतियां प्रत्येक दृष्टि से पूर्ण है।'

गुफाएँ—बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए सम्राट अशोक और उसके पौत्र दशरथ ने अनेक गुफाओं का निर्माण भी करवाया था। गया के निकट की बारवारा पहाड़ियों पर इस तरह की अनेक गुफाएँ बनी हुई हैं। मज़बूत पत्थर को काट कर ये सुन्दर गुफाएँ बनाई गई हैं और वे शीशे की तरह चमकती हैं। ये गुफाएँ भी प्राचीन वास्तु विद्या का बहुत श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

घण्टाकार शिरोभाग—अशोक-कालीन कलाकार अपनी कृतियों के स्वरूप की श्रेष्ठता तथा भाव प्रदर्शन की उच्चता के उदाहरण कहे जा सकते हैं। उस के अनेक स्तम्भों के शिरोभाग घण्टाकार हैं, इस तथ्य से अनेक ऐतिहासिक उनका सम्बन्ध पर्शियन कला से जोड़ते हैं। परन्तु सुप्रसिद्ध कलाविद हैवेल के अनुसार इन शिरोभागों को घण्टाकार समझना ही भूल है। हैवेल के अनुसार ये शिरोभाग घण्टे के प्रतिनिधि नहीं, अपितु फूल के प्रतिनिधि हैं। यह फूल रहस्यपूर्ण कमल का फूल है। स्तम्भों पर कमल का यह उलटा फूल रक्खा हुआ है, जो भारतीय कला और संस्कृति का प्रतिनिधि है।

सांची और भहुत के स्तूपों में एक अन्य ही प्रकार की कला का स्वरूप दिखाई देता है। इस कला को सर्वप्रिय अथवा ग्रामीण

कला कहना चाहिए। परन्तु यह कला भी बहुत परिष्कृत और उन्नत है। नियमों की दृष्टि से भी यह कला बहुत श्रेष्ठ है। इस कला के पीछे लम्बी चौड़ी परम्परायें विद्यमान हैं। तथापि स्तम्भों की कला के मुकाबले में इस कला का स्थान उतना ऊंचा नहीं।

स्तूप—बौद्ध सन्तों के अवशेषों को रखने तथा उनकी स्मृति को स्थिर बनाने के लिए ईटों और पत्थरों के अनेक विशाल स्तूपों का निर्माण किया गया था। कहा जाता है कि अशोक ने कुल मिला कर ८४००० बड़े-बड़े स्तूपों का निर्माण करवाया था। यह संख्या बहुत बड़ी प्रतीत होती है, परन्तु हमें ज्ञात है कि अशोक एक महान् निर्माता था। सातवीं सदी में चीनी यात्री ह्वान च्वांग ने भारतवर्ष और अफ़ग़ानिस्तान में इस ढंग के सैकड़ों स्तूपों को देखा था। परन्तु आजकल उन में से थोड़े ही स्तूप बाकी हैं। यह माना जाता है कि सांची के विशाल स्तूप का निर्माण सम्राट अशोक ने ही करवाया था।

भारतवर्ष के जीवन के प्रत्येक—राजनीतिक, धार्मिक और कला सम्बन्धी—पहलू पर मौर्यकाल की गहरी और स्थिर छाप पड़ी। मौर्य साम्राज्य का विनाश हो गया, परन्तु उसकी कृतियां अमर हो गई। उसके बाद भारतवर्ष में पुनः अव्यवस्था और विच्छेद का युग प्रारम्भ होता है और यह युग करीब चार शताब्दियों तक, गुप्त साम्राज्य की स्थापना से पूर्व तक, कायम रहता है।

नौवां अध्याय

मौर्य काल के बाद से गुप्त-साम्राज्य के उदय तक

१. शुंगवंश

(१८५—७२ ईसापूर्व)

शुंगों का उदय —पुष्यमित्र के शुंग वंश का प्रारम्भ कब से हुआ, इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। पाणिनी के अनुसार भारद्वाज वंश की एक सुप्रसिद्ध ब्राह्मण शाखा से शुंगों का प्रारम्भ हुआ था। उपनिषद् और ब्राह्मणों में शुंगवंश की एक महिला से उत्पन्न पुत्र का उल्लेख अध्यापक के रूप में किया गया है। एक विचार यह भी है कि शुंगवंश के लोग सूर्य के उपासक ईरानियों की सन्तान थे।

शुंग शक्ति का प्रसार—बृहद्रथ मौर्य की हत्या करके जब पुष्यमित्र मगध का राजा बना, तब तक पाटलिपुत्र के साम्राज्य की सीमा बहुत कम होचुकी थी। फिर भी आर्यावर्त के काफ़ी बड़े भाग पर पुष्यमित्र का राज्य स्थापित हो गया। उसके राज्य की दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी तक थी। पाटलिपुत्र, अयोध्या, विदिशा और भर्हुत आदि नगर उसी के राज्य के अन्तर्गत थे। तारानाथ और दिव्या-वदान के अनुसार जालन्धर और शाकल भी उसके राज्य में

सम्मिलित थे। पाटलिपुत्र अभी तक साम्राज्य की राजधानी था। शुंगवंश के दो राजकुमार शुंग सम्राट् के प्रतिनिधि रूप से विदिशा और कोशल पर शासन करते थे। विदिशा में स्वयं युवराज अग्निमित्र को भेजा गया था। कालिदास के एक नाटक के अनुसार किसी मौर्य मन्त्री के एक सम्बन्धी ने इन्हीं दिनों विदर्भराज्य की स्थापना की थी और स्वभावतः विदर्भ राज्य शुंगों का प्रमुख शत्रु था। अग्निमित्र ने अपने शासनकाल में विदर्भ को जीत कर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया।

कलिंग का राजा—एक महत्त्वपूर्ण शिलालेख से इन्हीं दिनों कलिंग के एक शक्तिशाली राजा खारवेल का वर्णन मिलता है। खारवेल एक प्रतापी राजा था। प्रतीत होता है कि एक तरफ उस ने शक्तिशाली मगध साम्राज्य को चुनौती दी थी और दूसरी ओर आन्ध्र राज्य को। जायसवाल तथा अनेक अन्य ऐतिहासिक खारवेल को पुष्यमित्र का समकालीन मानते हैं, क्योंकि शिलालेख में वर्णन है कि खारवेल ने राजगृह के राजा बृहस्पतिमित्र को हराया। इस मत को सत्य स्वीकार करने में भी कुछ कठिनाइयां अवश्य हैं, और यहां इस विवाद में पड़ना अनावश्यक है, तथापि सब दृष्टियों से यही सम्भव प्रतीत होता है कि राजा खारवेल प्रथम सदी ईसापूर्व में ही हुआ होगा। पुष्यमित्र की राजधानी राजगृह न होकर पाटलिपुत्र थी। साथ ही शिलालेख के अनुसार खारवेल का जन्म नन्द के ३०० वर्ष बाद हुआ था। मौर्य राजाओं के बाद किसी नन्द सम्वत के प्रचलित रहने के सम्बन्ध में भी कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता। इन सब आधारों से यही सिद्ध होता है कि खारवेल पुष्यमित्र का समकालीन नहीं था।

ग्रीक आक्रमण—शुंगवंश के समय की सब से बड़ी घटना भारतवर्ष पर ग्रीक आक्रमण है। इस अक्रमण का वर्णन पातंजलि और कालिदास ने किया है। गार्गी संहिता में भी इस का उल्लेख है। इस आक्रमण का संक्षिप्त वर्णन आगे चल कर किया जायगा। यह ग्रीक आक्रान्ता मीनान्डर था। भारतवर्ष के अनेक भागों से उस के सिक्के प्राप्त हुए हैं, भारतीय साहित्य में उस का उल्लेख भी है, अत: सम्भव है कि मीनान्डर भारतवर्ष में काफ़ी दूर तक आगे बढ़ गया हो। कालिदास के अनुसार सम्राट् पुष्यमित्र के पौत्र ने सिन्धु नदी के तट पर मीनान्डर को हरा दिया। उधर गार्गी संहिता के अनुसार घर में हा कोई उपद्रव खड़ा हो जाने के कारण, ग्रीक आक्रान्ता स्वयं ही अपने देश को लौट गए।

अश्वमेध—ग्रीक आक्रान्ताओं के लौट जाने के बाद पुष्यमित्र सम्पूर्ण मध्यदेश का शासक बन गया। उस ने विदर्भ को हराया। उस के बाद ग्रीक आक्रान्ताओं को भारतवर्ष से निकाला। इन दोनों महत्वपूर्ण विजयों के बाद उस ने सुप्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। कुछ लोग पुष्यमित्र के अश्वमेध को ब्राह्मण प्रतिक्रिया का एक उदाहरण मानते हैं। बाद के अनेक बौद्ध लेखकों ने पुष्यमित्र को अत्याचारी और बौद्धों पर जुल्म करने वाला लिखा है। परन्तु जिस शुंगवंश के समय भर्हुत का सुप्रसिद्ध बौद्ध स्तूप बनाया गया, उस का संस्थापक बौद्धों का शत्रु हो, यह मत मान्य नहीं होसकता। यह सम्भव है कि बौद्ध संघों के हाथ में राजनीतिक शक्ति न जाने देने के लिए पुष्यमित्र ने कुछ दृढ़ता की कठोर मनोवृत्ति दिखाई हो।

पातंजलि—महान वैयाकरण पाणिनी की अष्टाध्यायी के भाष्य रूप 'महाभाष्य' के लेखक पातंजलि का नाम भारतीय-साहित्य के इतिहास में अत्याधिक महत्वपूर्ण है। सम्भवतः योगसूत्र का लेखक भी यही पातंजलि था। पातंजलि के ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि वह पुष्यमित्र का समकालीन था और उसने पुष्यमित्र के अश्वमेध यज्ञ में भी प्रमुख भाग लिया था।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी—पुराणों में पुष्यमित्र के ६ उत्तराधिकारियों का वर्णन है। परन्तु इन में से सिर्फ दो ही उल्लेखयोग्य हैं। पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र अपने पिता के समय में विदिशा का शासक बन कर रहा था। कालिदास के एक नाटक में उसका वर्णन है और तांबे के कुछ प्राचीनन सिक्कों पर भी उसका नाम अंकित है। यदि कालिदास के वर्णन को ऐतिहासिक माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि अग्निमित्र के समय में न केवल केन्द्रीय सरकार में ही, अपितु प्रान्तों में भी मन्त्रीपरिषद् और अमात्यपरिषदें होती थीं तथा राज्य के सभी महत्वपूर्ण कार्य इन दोनों सभाओं की अनुमति से ही किए जाते थे। ३६ साल राज्य करने के बाद, सन् १५० ईसा पूर्व में पुष्यमित्र का देहान्त हुआ और उस का पुत्र अग्निमित्र पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर बैठा। अग्निमित्र के बाद उसका पुत्र वसुमित्र राजा बना। वसुमित्र ने अपनी युवावस्था के प्रारम्भिक दिनों में ही, पुष्यमित्र के जीवनकाल में, ग्रीक आक्रान्ता मीनान्डर की सेना को हराया था।

भारती-यूनानी राजाओं से मित्रता का सम्बन्ध—प्रतीत होता है कि मीनान्डर की पराजय के बाद शुंगवंश के शासकों ने पंजाब के भारती-युनानी राजाओं से पुनः मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर

लिया। हेलिओडोरस (Heliodoros) के बेसनगर शिलालेख से प्रतीत होता है कि शुंगवंश के प्रतिनिधि विदिशा के शासक ने अपनी राजधानी में तक्षशिला के भारती-ग्रीक राजा के दूत को निमन्त्रित किया था।

शुंगवंश का अन्तिम राजा देवभूति था। उसके मन्त्री वासुदेव ने उस की हत्या करदी। शुंगवंश ११२ वर्षों तक कायम रहा।

शुंगवंश के बाद, चार शताब्दियों केलिए, मगध की राजनीतिक महत्ता जाती रही। परन्तु वह बौद्ध साहित्य, शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र पहले ही के समान बना रहा।

संस्कृति सम्बन्धी उल्लेख—शुंगवंश के शासनकाल में भारतवर्ष में धार्मिक, साहित्यिक और कलासम्बन्धी कार्य पहले के समान विकसित होते रहे। भर्हुत का सुप्रसिद्ध स्तूप इसी समय बना। विदिशा के शिलालेख से प्रतीत होता है कि उस समय तक भागवत धर्म न केवल भारतवर्ष में ही बहुत प्रचलित हो गया था, अपितु विदेशियों में भी उस का प्रसार होने लगा था। पातंजलि इस युग का महान् साहित्यिक व्यक्ति था।

इस युग में ग्रीक लोगों ने भारतवर्ष पर पुनः आक्रमण किया परन्तु इस वार भी उन्हें पराजय देखनी पड़ी। शुंगवंश के शासक यद्यपि मौर्य अथवा गुप्तों के समान शक्तिशाली नहीं थे, तथापि यह कहा जा सकता है कि आर्यवर्त के काफ़ी बड़े भाग पर उन का शासन था।

हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार—मौर्यकाल में ब्राह्मण धर्मका काफ़ी अंश तक ह्रास हो गया था। शुंगवंश में और उस के बाद, ईसवी सन् के आरम्भिक दिनों में, हिन्दू धर्म के नाम से ब्राह्मण धर्म में नवजीवन

का संचार होने लगा और उस में मिला लेने और खपा लेने की शक्ति और भी अधिक बढ़ गई। बौद्धकाल में ब्राह्मणों के खिलाफ़ जो क्रांति हुई थी, उसकी प्रतिक्रिया ब्राह्मणों में तर्क शक्ति के उद्बोधन द्वारा हुई। ब्राह्मणोंने अपना बौद्धिक स्टैन्डर्ड ऊँचा किया और अब वे तर्क के आधार पर वैदिक विधानों का समर्थन और पोषण करने लगे। उन्होंने भी अब दार्शनिक तर्क को अपने धर्म का आधार बनाना शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि इस पुनरुद्भूत हिन्दू धर्म के आधार अधिक वैज्ञानिक बन गए। इन दिनों हिन्दू धम में भक्ति की भावना से पूर्ण भागवत धर्म शक्तिशाली बन गया और मस्त कर देने वाले अपने आन्तरिक बल के आधार पर भारतीय जनता में वह अधिक सर्वप्रिय होता गया। इस तरह भारतवर्ष की बुद्धि और हृदय, इन दोनों पर हिन्दू धर्म ने पुनः अपनी छाप जमानी प्रारम्भ की।

बाद के शुंग—देवभूति की हत्या के बाद भी शुंगवंश के राजपुरुषों का पूर्णतया विनाश नहीं हो गया। आन्ध्रों की शक्ति के विकास तक सम्भवतः अनेक शुंगवंशी राजा मध्य भारत के छोटे-छोटे राज्यों पर शासन करते रहे। इन का विनाश आन्ध्र साम्राज्य ने किया।

कण्ववंश (७२ ईसापूर्व से २८ ईसापूर्व तक)—देवभूति का घातक वासुदेव कण्व था। उसने पाटलिपुत्र में कण्ववंश की नींव डाली। वह स्वयं केवल ४, ५ वर्ष ही राज्य कर सका। ये कण्व राजा बहुत कमज़ोर थे। उनके राज्य का प्रभाव पाटलिपुत्र तक ही सीमित था। कण्व वंश का विनाश भी आन्ध्र साम्राज्य ने ही किया।

हाथीगुम्फा का शिलालेख—हाथीगुम्फा का शिलालेख भारतवर्ष के सब से अधिक महत्वपूर्ण शिलालेखों में है। इस शिलालेख में प्रतापी खारवेल का वर्णन है। हाथीगुम्फा का यह शिलालेख बड़ी कठिनता से पढ़ा गया है और पुरातत्वज्ञों में इस की खूब चरचा भी हुई है। इस शिलालेख के सम्बन्ध की अनेक बातें अभी तक विवादास्पद हैं। यह किस समय लिखा गया, इस सम्बन्ध में भी मतभेद है। श्री जयसवाल तथा कतिपय अन्य ऐतिहासिकों के इस मत का हम पहिले भी उल्लेख कर चुके हैं कि यह शिलालेख दूसरी शताब्दी ईसापूर्व के प्रारम्भ में लिखा गया, यद्यपि कुछ ऐसे आधार भी प्रतीत होते हैं, जिन से इस शिलालेख को प्रथम शताब्दी ईसापूर्व में सिद्ध किया जा सके।

चेतवंश—खारवेल चेतवंशीय था। यह चेतवंश सम्भवतः कलिंग के चेदीवंश से सम्बन्धित हो, इसी कलिंग की विजय अशोक बड़े प्रयत्न के बाद कर सका था। अशोक वाले कलिंग युद्ध के बाद से खारवेल के उदय तक कलिंग के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है।

खारवेल का जीवन—२४ वर्ष की आयु में खारवेल कलिंग का राजा बन गया। अपने शासन के प्रथम वर्ष में उसने अपनी राजधानी, कलिंग नगर की किलेबन्दी कर ली। उसके बाद आगामी तीन वर्षों में अपने समकालीन आन्ध्रराजा शातकर्णी की परवाह न कर उसने पश्चिम में अपनी एक बहुत बड़ी सेना दिग्विजय के लिए भेज दी। इस सेना ने एक नगर को जीता और राष्ट्रिक तथा भोजक लोगों को अपनी अधीनता स्वीकार करने

के लिए वाधित कर दिया। पांचवां वर्ष उस ने नहरों के निर्माण के कार्य में लगाया। उस के बाद उस ने अपनी शक्ति उत्तर की ओर बढ़ाई और आठवें वर्ष में राजगृह के राजा को जा घेरा। अपने शासन के दसवें और बारहवें वर्ष में उस ने पुनः उत्तर पर आक्रमण किए। इन विजय यात्राओं में उसने उत्तरापथ का बहुत सा भाग विजय कर लिया और अपने हाथियों को सुदूर गंगा नदी में स्नान करवाया। खारवेल ने मगध के राजा बृहस्पतिमित्र को कर देने के लिए वाधित कर दिया। दक्षिण में उसकी सेनाएँ मसुलीपटम तक और सम्भवतः उस से भी आगे जा पहुँची। मुमकिन है कि खारवेल ने सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य राजाओं को भी अपनी अदम्य शक्ति का परिचय दिया हो।

खारवेल का चरित्र—खारवेल एक प्रतिभाशाली राजा प्रतीत होता है। उसके शिलालेख से ज्ञात होता है कि न केवल वह एक भारी विजेता ही था, अपितु उसने जल-सिचाई तथा नहरों की खुदाई आदि के रचनात्मक कार्यों में भी बड़ी दिलचस्पी ली। कहा जाता है कि वह जैन धर्म का संरक्षक था।

२. दक्षिण भारत का प्रारम्भिक इतिहास
और
आन्ध्र शक्ति का उदय

अगस्त्य—हम पहले ही कह चुके हैं कि दक्षिण भारत का प्रारम्भिक इतिहास निर्माण करने के लिए बहुत कम सामग्री उपलब्ध होती है। परम्परागत अनुश्रुति के अनुसार सब से पूर्व ऋषि अगस्त्य ने विन्ध्याचल की पर्वतमालाओं तथा घने जंगलों को

पार कर दक्षिण में प्रवेश किया। दक्षिण में अगस्त्य ने आर्य संस्कृति का प्रकाश पहुँचाया। प्रारम्भिक तामिल व्याकरण, दर्शन, चिकित्सा शास्त्र, विज्ञान, शिल्पशास्त्र आदि का निर्माता भी अगस्त्य ऋषि को ही स्वीकार किया जाता है। दक्षिण के अनेक बड़े-बड़े जंगलों को कटवा कर उसने उन्हें उपजाऊ खेतों के रूप में परिवर्तित कर दिया। अगस्त्य को एक महान् शिल्पकार भी स्वीकार किया जाता है। तंजौर जिले में एक प्राचीन मन्दिर है, जो अगस्त्य के नाम पर समर्पित किया गया है।

आर्य संस्कृति का विस्तार—आर्य संस्कृति ने द्राविड़ संस्कृति पर विजय शुरू की। यह प्रक्रिया सम्भवतः बहुत शीघ्रता के साथ और बड़ी गहराई से हुई। आन्ध्र के जातीय गुण तथा स्थानीय रीति रिवाज उसी तरह बने रहे, परन्तु द्राविड़ भाषा की मार्फ़त आर्य विचार दक्षिण के लोगों में भी उसी तरह घर कर गए जिस तरह वे उत्तर में व्यापक हो गए थे। इससे दक्षिण में अनेक महान् आन्दोलनों का जन्म हुआ। बाद में, जब इस्लाम ने उत्तरीय भारत की आर्य संस्कृति पर भयंकर आक्रमण कर दिया, तब भी दक्षिण पहले ही के समान आर्य संस्कृति का दुर्ग बना रहा।

यह निश्चित है कि दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति का प्रसार मौर्य युग से भी पूर्व, बड़े व्यापकरूप में हो चुका होगा। हमें ज्ञात है कि प्राग्मौर्य काल में भी दक्षिण में आर्य संस्कृति की अनेक महत्वपूर्ण शाखाओं का विकास हो चुका था। हमें यह भी ज्ञात है कि मौर्यसाम्राज्य में दक्षिण भारत का अधिकांश भाग भी अन्तर्गत था। परन्तु मौर्यसाम्राज्य के विनाश के बाद,

जब भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी भाग पर विदेशी आक्रमण भी होने लगे, स्वभावतः आर्य संस्कृति का केन्द्र उत्तर से हट कर दक्षिण की ओर चला गया। इस युग में दक्षिण पूर्णरूप से आर्य हो गया।

तामिल राज्य—इतिहास के प्रारम्भ से हमें सुदूर दक्षिण इन तीन राज्यों में बंटा हुआ प्राप्त होता है–पाँड्य, केरल और चोल। इन तीनों राज्यों का व्यापार बड़ा उन्नत था और अपने लेनदेन की बदौलत वे खूब सम्पन्न होते जा रहे थे। मैगस्थनीज़ ने पाँड्य का वर्णन किया है और लिखा है कि दक्षिण की राज्यसभाएं अपने स्थानीय शासकों पर नियन्त्रण करती हैं अशोक के शिलालेखों में इन तीन नामों के साथ 'केरलपुत्र' यह चौथा नाम भी प्राप्त होता है। बाद में यह केरलपुत्र पाँड्य राज्य का ही भाग बन गया। केरल राज्य वर्तमान मालाबार के स्थान पर था। वर्तमान कोचीन और ट्रावनकोर भी उसमें सम्मिलित थे। चोल राज्य में वर्तमान कोरोमण्डल तट सम्मिलित था। इस चोल राष्ट्र के पास एक बड़ा शक्तिशाली जहाज़ी बेड़ा था जिसके जहाज़ इरावती और गंगा के उपसागर तक तथा मलाया द्वीपों तक निर्भय हो कर जाया करते थे। सब से अधिक व्यापार रूई के कपड़ों का होता था। पाँड्य राष्ट्र सब से प्राचीन था। वर्तमान मदुरा और टिन्नावेली के ज़िले इसके अन्तर्गत थे। इन तामिल राज्यों की लंका से सदैव लड़ाई रहती थी। प्राचीन काल के इन तामिल राज्यों का सम्बद्ध इतिहास लिख सकना सहल कार्य नहीं है। उस युग का सब से अधिक शक्तिशाली राजा करिकाल हुआ है। करिकाल से पूर्व के किसी चोल वंशीय

राजा का नाम अभी तक ज्ञात नहीं है। करिकाल सम्भवतः ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ होगा। करिकाल ने लंका पर आक्रमण करके वहां के बहुत से लोगों को बन्दी बना लिया और उसने कावेरी नदी का लम्बा-चौड़ा बांध बनवाया। पुहर की नींव भी करिकाल ने ही डाली। करिकाल का पोता लंका के राजा गज-बाहु का समकालीन था।

प्राचीन द्राविड़ साहित्य—द्राविड़ों की सब से प्राचीन भाषा तामिल है। तामिल का साहित्य बड़ा व्यापक और श्रेष्ठ है। ईसवी सन् के प्रारम्भ की कुछ सदियां, तामिल साहित्य के विकास की दृष्टि से, सुवर्णीय काल गिनी जाती हैं। डा० स्मिथ के अनुसार इस प्राचीन तामिल साहित्य के प्रमुख अंग निम्न लिखित हैं—"कुराल", 'अंकलेर का जीवन' और 'मणिबन्ध'। गोदावरी के दक्षिण में कुराल ग्रन्थ के लिए बड़े पूज्य भाव हैं। वह एक कवित्वमय साहित्यिक खज़ाना है और उस में आचार सम्बन्धी उच्चतम बातों का निर्देश है। इस ग्रन्थ के लेखक ने आचारशास्त्र सम्बन्धी बहुत ही पवित्र और सुन्दर बातों का वर्णन किया है। उत्तर के संस्कृत साहित्य में भी इस विषय की इस से अच्छी तो क्या, इसके समान पुस्तक ढूंढ़ निकालना कठिन है।" तामिल साहित्य में इस बात का भी उल्लेख है कि तामिल के सुन्दर महलों के निर्माण के लिए मगध से कारीगर बुलाए गए थे।

आन्ध्र—मौर्य साम्राज्य के पतन के साथ ही साथ आन्ध्र या दक्षिण के सातवाहन राज्य की शक्ति बढ़ने लगी। इस असाधारण लम्बे राजवंश के ३० राजाओं ने कुल मिला कर ४५० वर्षों तक

राज्य किया। सातवाहन राजाओं का वास्तविक राज्य गोदावरी और कृष्णा के संगम पर था। मैगस्थनीज़ के समय में भी उन्हें शक्तिशाली गिना जाता था। इस युग में उनके राज्य में सम्पूर्ण दक्षिण सम्मिलित हो गया था। ईसवी सन् के प्रारम्भ तक पूर्व में मगध भी उनकी शक्ति का अनुभव करने लगा। पश्चिम में उन्हों ने शक लोगों को आगे बढ़ने से रोका। अब तक शक लोग मालवा और सुराष्ट्र को अपने अधीन कर चुके थे। सन् २२५ ईसवी के लगभग आन्ध्र शक्ति का विनाश हो गया।

आन्ध्रों का प्रारम्भ—आन्ध्रवंश का प्रारम्भ सिमुक से हुआ था। उसे दूसरी से पहली सदी ईसापूर्व तक में कभी हुआ माना जाता है। कुछ लोगों के अनुसार आन्ध्रों का मूलस्थान कनारा में था। परन्तु इस वंश के प्राचीनतम उल्लेख उत्तरीय दक्षिण तथा मध्य भारत में पाए जाते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि मध्यदेश के दक्षिण में, या उसके बिलकुल निकट ही कहीं उनका मूलस्थान होगा। आन्ध्र लोगों को शुरू में सातवाहन कहा जाता था। सम्भवतः उन्हें 'आन्ध्र' कहना तब से शुरू किया गया होगा, जब से उनका उत्तरीय राज्य नष्ट होगया और केवल आन्ध्र में ही उन का शासन बाकी बच रहा।

एक साक्षी से यह सिद्ध होता है कि ये आन्ध्र राजा ब्राह्मण थे और उनमें नाग रुधिर का मिश्रण था। आन्ध्र राजाओं के कुछ नामों से भी नाग का सम्बन्ध ज्ञात होता है। एक प्राचीन लेख में एक आन्ध्र राजा को 'एक असाधारण ब्राह्मण' तथा 'क्षत्रियों के दर्प और अभिमान का नाशक' कहा है।

शातकर्णी—सम्भवतः पहली सदी ईसापूर्व तक आन्ध्र लोग

अधिकांश दक्षिण के अधीश्वर बने रहे और तब उन्होंने पाटलिपुत्र के कण्व शासक को तथा मध्य भारत के शुंग राजा को अपने अधीन कर लिया। इस सातवाहन वंश का महत्वपूर्ण राजा शातकर्णी था। अनेक शिलालेखों तथा प्राचीन ग्रन्थों में उसका उल्लेख है। महाराष्ट्र के एक शक्तिशाली परिवार से विवाह सम्बन्ध जोड़ कर वह सम्पूर्ण दक्षिणापथ का शासक बन गया। सांची में प्राप्त उस के शिलालेख से प्रतीत होता है कि उस ने पूर्वीय मालवा को भी विजय किया था। इस ने आन्ध्र लोगों का राज्य विन्ध्याचल के पार तक पहुँचा दिया और गोदावरी की घाटी में प्रथम विशाल साम्राज्य की नींव डाली। शातकर्णी ने अश्वमेध यज्ञ भी किया। वर्तमान हैदराबाद रियासत का पैठान नामक स्थान शातकर्णी की राजधानी था। तब उस का नाम 'प्रतिष्ठान' था। पूर्व में उस ने कलिंग के शक्तिशाली राजा खारवेल तक को ललकारा। शातकर्णी के बाद उस के उत्तराधिकारी इस नाम को राजवंश के खिताब की तरह इस्तेमाल करने लगे।

गौतमीपुत्र—सातवाहन वंश के अन्य राजाओं में गौतमीपुत्र का नाम विशेष प्रसिद्ध है। उस ने नाहपन को हराया और महाराष्ट्र तथा अन्य पड़ोसी राज्यों को आन्ध्र साम्राज्य के अंतर्गत कर लिया। उसके समकालीन उल्लेखों से प्रतीत होता है कि उसका राज्य न केवल महाराष्ट्र और पैठान तक ही विस्तृत था, अपितु सुराष्ट्र, उत्तरीय कोंकण, विदर्भ, मालवा और मध्य भारत के भी अनेक भाग उसके अधीन थे। विन्ध्याचल से ट्रावनकोर तक के सम्पूर्ण प्रदेश का अधीश्वर होने का वह दावा करता था। एक और शिलालेख में वह एक समाज-सुधारक प्रतीत होता

है, जिस ने क्षत्रियों का दर्प तोड़ा और चातुर्वर्ण्य को संकरत्व से बचाया।

पुलुमयी और यज्ञश्री—गौतमीपुत्र के बाद उसका पुत्र पुलुमयी आन्ध्र साम्राज्य का शासक बना। सम्भवतः उसने अपने साम्राज्य का विस्तार और अधिक दक्षिण आन्ध्र में किया। इस वंश का एक और महत्वपूर्ण राजा यज्ञश्री था। वह निश्चित रूप से महाराष्ट्र से लेकर आन्ध्र तक का शासक था; सम्भव है कि उसने उज्जैन के शकों को भी हराया हो। यज्ञश्री के कुछ सिक्कों पर जहाज़ का चित्र है, इस से प्रतीत होता है कि कुछ सामुद्रिक उपनिवेशों पर भी उसका शासन होगा। आन्ध्र वंश का वह अन्तिम शक्तिशाली शासक था। उस के बाद आभीरों ने आन्ध्रों से महाराष्ट्र छीन लिया और पूर्वीय देशों से पल्लवों ने उन्हें खदेड़ दिया। कुन्तल देश में उन की जो शाखा थी, वह कदम्बों के हाथ में चली गई। तीसरी सदी ईसवी तक मध्यभारत में वाकाटकों के रूप में एक नई शक्ति खड़ी हो गई।

प्राकृत के संरक्षक—आन्ध्र शासक सर्वसाधारण में बोले जाने वाली प्राकृत भाषा के बड़े संरक्षक थे। उन के प्रायः सभी शिलालेख प्राकृत भाषा में हैं। उन के शासनकाल मे प्राकृत साहित्य का बड़ा विकास हुआ। कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध 'हलसप्तशती' एक आन्ध्र राजा की ही लिखी हुई है। इसी युग में प्राकृत भाषा से महाराष्ट्री का विकास शुरू हुआ।

आन्ध्र वंश ने कुल मिला कर ४५० वर्ष राज्य किया और ईसा की तीसरी सदी तक अधिकांश दक्षिण पर उन्हीं का शासन बना रहा। पूर्व में प्रतीत होता है कि ईसवी सन् के प्रारम्भिक

दिनों में कण्ववंश का नाश करके इन्होंने मगध की विजय की। पश्चिम में पहले उन्होंने मध्यभारत की शुंग शक्ति का नाश किया और तब मालवा और सुराष्ट्र के शकों को आगे बढ़ने से रोका।

आन्ध्र शासकों का शासन पश्चिमी तट के भृगुकच्छ तथा अन्य महत्वपूर्ण बन्दरगाहों पर भी था। इन बन्दरगाहों से आन्ध्र लोग रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार करते थे। आन्ध्र साम्राज्य के पूर्वीय तट के बन्दरगाहों से मलाया अन्तरीप तथा पूर्वीय चीन तक व्यापार होता था। सम्भवत: इसी युग के भारतीय व्यापारियों ने सुमात्रा, जावा, भारती-चीन तथा स्याम आदि देशो में भारतीय उपनिवेशो की स्थापना की होगी।

३. उत्तर-पश्चिमी भारत के विदेशी राजवंश

वैक्ट्रिया और पार्थिया का विद्रोह—सन् २५० ईसा पूर्व में, जब महान् अशोक अपनी शक्ति के शिखर पर था, सीरियन साम्राज्य के दो राज्य, वैक्ट्रिया तथा पार्थिया विद्रोह करके स्वतन्त्र हो गए। वैक्ट्रिया में वहाँ के ग्रीक शासक ने अपनी स्वतन्त्र राज्य क़ायम करने की महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए केन्द्रीय ग्रीक शक्ति के ख़िलाफ़ विद्रोह किया। उधर पर्थिया का विद्रोह राष्ट्रीय ढंग का था।

मौर्यों के पतन के दिनों में भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थितियां इस ढंग की हो गई कि विदेशियों के लिए इस देश पर आक्रमण करना सहल हो गया। परिणाम यह हुआ कि अनेक विदेशियों ने भारतवर्ष पर हमला कर दिया और इस देश के उत्तर-पश्चिमी भाग पर दो सदियों के लिए अनेक विदेशी राज्य क़ायम हो

गए। इन विदेशी राजवंशों को भारती-ग्रीक, भारती-बैक्ट्रियन और भारती-पार्थियन कहा जाता है। इस काल में भारत के सीमाप्रान्त पर शासन करने वाले दो ग्रीक राजवंशों की सत्ता के प्रमाण हमें उपलब्ध होते हैं। यह प्रमाण तत्कालीन सिक्को के रूप में हैं, जिन पर ग्रीक तथा भारतीय भाषाओं में इन शासकों के नाम खुदे हुए हैं और ये सब बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। इन वंशों के ४५ राजाओं के नाम उपलब्ध हो चुके हैं।

भारती-बैक्ट्रियन—बैक्ट्रिया (वर्तमानबल्ख) अपनी भौगोलिक अवस्थिति के कारण स्वभावतः एशिया के इतिहास में बहुत महात्वपूर्ण भाग ले सकता था। अपनी भौगोलिक अवस्थिति के कारण बैक्ट्रिया को भारतवर्ष के मार्ग की कुञ्जी कहा जा सकता था। मध्य एशिया के अनेक मार्ग बैक्ट्रिया से होकर ही जाते थे। सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व वह नगर पूर्वीय पर्शिया की राजधानी था। अन्य सम्पूर्ण पर्शिया के समान बैक्ट्रिया भी सिकन्दर के अधीन हो गया और उसने इसी नगर को भारतवर्ष पर किए जाने वाले अपने आक्रमणों का आधार बना लिया। सिकन्दर के बड़े बड़े आयोजनों की पूर्त्ति में यह नगर बीच की शृंखला का काम करता था, स्वभावतः बहुत शीघ्र यह एक महत्वपूर्ण ग्रीक उपनिवेश बन गया। अपनी स्वाधीनता घोषित करने तक बैक्ट्रिया सीरियन साम्राज्य का भाग बन कर रहा।

डेमेट्रियस (Demetrius)—सीरियन राजाओं की अधीनता से निकल कर बैक्ट्रियन शासकों ने भारतवर्ष पर अपनी निगाह डाली। सन् १९० ईसापूर्व से १८० ईसापूर्व तक बैक्ट्रिया के शासक डेमेट्रियस ने पंजाब, सिन्ध और सुराष्ट्र के बहुत से भाग जीत

लिए। इस तरह सिन्धु नदी का जलीय मार्ग उसके अधिकार में आगया। प्राचीन नगर सागला को उसने अपने भारतीय राज्य की राजधानी बनाया और इस नगर का नाम अपने पिता के नाम पर रक्खा। कहा जाता है कि उसने अन्य नगरों की नींव भी डाली। उस के समय के अनेक ढंग के सुन्दर सिक्के प्राप्त होते हैं। डैमेट्रियस के बुढ़ापे के दिनों में उसके पोते ने उसके खिलाफ़ विद्रोह कर दिया और अपने दादा को हटा कर वह स्वयं राजा बन बैठा।

बैक्ट्रियनों का पतन—सन १५० ईसापूर्व में डैमेट्रियस के पोते का भी वध कर दिया गया। इन आन्तरिक झगड़ों से बैक्ट्रिया की शक्ति बहुत क्षीण पड़ गई। एक तरफ़ से बैक्ट्रियन राज्य पर पार्थिया के हमले होने लगे और दूसरी ओर युए-ची (Yueh-chi) की प्रगति इन लोगों के लिए खतरे का कारण बन गई। इस समय तक पार्थियन, भारतीय तथा शक लोगों से निरन्तर लड़ते रहने के कारण बैक्ट्रियन राजाओं की शक्ति बहुत क्षीण पड़ गई थी। उनके जीवन का रुधिर इन युद्धों में समाप्त हो चुका था और उन में अब प्रतिरोध की शक्ति नहीं बची थी। परिणाम यह हुआ कि बैक्ट्रिया के शासक शकों से पराजित होकर अपनी जन्म भूमि बैक्ट्रिया से भी हाथ धो बैठे और उन्हें अपने भारतीय राज्य में जाकर बसने को बाधित हो जाना पड़ा।

इस समय सम्पूर्ण पञ्जाब पर भारती-ग्रीक वंशों के छोटे-छोटे राजा शासन कर रहे थे। इस युग के सिक्के बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। इन में से कुछ सिक्के बहुत सुन्दर हैं। इन सिक्कों का सम्बन्ध सम्भवतः पञ्जाब और सिन्ध पर शासन करने वाली दो विभिन्न ग्रीक शाखाओं से है।

मीनाण्डर (Menander)—इन भारती-ग्रीक शासकों में केवल मीनाण्डर ने ही वास्तविक महत्ता प्राप्त की। बौद्ध साहित्य में मीनाण्डर को मिलिन्द नाम से लिखा गया है। बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्दपन्ह (मिलिन्द प्रश्न) मीनाण्डर के नाम पर ही है। कहा जाता है कि मीनाण्डर कट्टर बौद्ध था। भारतवर्ष पर जिस ग्रीक आक्रमण को सम्भवतः इतनी सफलता मिली कि वह भारतवर्ष के हृदय पाटलिपुत्र तक भी जा पहुँचा, उसका नेता भारती-ग्रीक शासक मीनाण्डर को ही स्वीकार किया जा सकता है। स्ट्रैबो ने मीनाण्डर को पंजाब, सिन्ध और काठियावाड़ का शासक लिखा है।

सागला का नगर—'मलिन्द पन्ह' के अनुसार "मीनाण्डर की राजधानी सागला नगर था। यह नगर योनक लोगों के देश में था, यह व्यापार व्यवसाय का बड़ा महत्वपूर्ण केन्द्र था, पावर्त्य प्रदेश के इस नगर में पानी की बहुतायत थी। इस नगर में उद्यान उपवन, निकुञ्ज और तालाब आदि भी प्रभूत मात्रा में थे। नदो, पर्वत और जंगलों ने सागला नगर को स्वर्ग के समान सुन्दर बना रक्खा था। चतुर शिल्पियों ने इस नगर में बड़े सुन्दर महलों की रचना की थी। इस नगर के निवासी पूर्णतः स्वतन्त्र थे; उनके सम्पूर्ण शत्रुओं और प्रतिपक्षियों का दमन कर दिया गया था।" इस नगर के चारों ओर दृढ़ किलेबन्दी थी और इसका स्थान खूब सोच-विचार कर चुना गया था। सागला नगर व्यापार और शिक्षा का केन्द्र था। वहाँ अनेक विभिन्न मतों के अनुयायी मित्रभाव से रहा करते थे।

मगध पर यूनानी आक्रमण—भारतीय साहित्य में मगध पर यूनानी आक्रमण की गूंज आज तक भी सुरक्षित है। पांतजलि के

अनुसार ग्रीक आक्रान्ताओं ने चित्तौड़ के निकट माध्यमिका पर और कोशल में साकेत पर अधिकार कर लिया। कालिदास के अनुसार सिन्धु नदी के तट पर पुष्यमित्र शुंग के पौत्र की अध्यक्षता में मागध सेना से ग्रीक आक्रान्ताओं ने मुकाबला किया। यहां सिन्धु नदी का अभिप्राय सम्भवतः राजपूताना और बुन्देलखण्ड के बीच की एक नदी से है। गर्ग-संहिता के अनुसार ग्रीक लोगों ने साकेत, पांचाल और मथुरा को पराजित कर दिया और वे पाटलिपुत्र तक भी जा पहुँचे। गर्ग-संहिता में यह भी लिखा है कि उनके अपने देश में कोई समस्या उत्पन्न हो जाने के कारण ग्रीक लोग मध्यदेश में अधिक समय तक न ठहर सके। वे शीघ्र ही लौट गए। मीनाण्डर अचानक ही लौटा और उसके कुछ ही दिनों बाद उसका देहान्त हो गया। वह एक महान् बौद्ध था उसके अवशेष एक बड़े दगोबा में रक्खे गए। उत्तर-पश्चिमी भारत में मीनाण्डर के सिक्के बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। दक्षिण में ये सिक्के हमीरपुर और जमुना तक मिले हैं। मीनाण्डर के देहान्त के दो सदियों बाद पैरीप्लोस के लेखक ने लिखा था कि उसके सिक्के पश्चिमी भारत के सामुद्रिक बन्दरगाहों पर आज तक भी व्यवहार में लाए जाते हैं।

शक आक्रमण—जिस खतरे से डर कर मीनाण्डर को अचानक ही अपनी राजधानी की ओर लौट जाना पड़ा था, वह खतरा सम्भवतः शक आक्रमणों का था। युए-ची की प्रगति तथा पश्चिम में पार्थियन साम्राज्य के प्रभाव से शक लोग दक्षिण की ओर बढ़ने को बाधित हुए। इन्हों ने बैक्ट्रिया की ग्रीक शक्ति का नाश कर दिया और शकस्तान (सीस्तान) को पार करके भारत में प्रवेश

करने के उद्देशय से वे वोलान दर्रे तक आ पहुँचे। पञ्जाब के कुछ भारती-यूनानी राजाओं का नाश कर उन्हों ने तक्षशिला और मथुरा में दो राज्य स्थापित कर लिए। शकों की दूसरी शाखा मालवा और सुराष्ट्र की ओर बढ़ गई। इन प्रान्तों में जो शक राज्य स्थापित हुआ, वह चार सदियों तक क़ायम रहा।

एन्शिएलकिदस (Antialkidas)—तक्षशिला के एक अन्य भारती-यूनानी शासक का नाम भी उल्लेखयोग्य है। मध्यभारत के वेसनगर से एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है। यह शिलालेख तक्षशिला के ग्रीक राजा एन्शिएलकिदस द्वारा विदिशा के शासक के दरबार में भेजे गए राजदूत हेलिओडोरस (Heliodoras) ने खुदवाया था। हेलिओडोरस का कथन है कि वह भागवत धर्म का अनुयाई था और वेसनगर का स्तम्भ उसने वासुदेव की पवित्र स्मृति में बनवाया है। यह घटना दो दृष्टिओं से बड़ी महत्वपूर्ण है, एक तो यह कि इस शिलालेख के अनुसार भागतव धर्म दूसरी सदी ईसा पूर्व तक निश्चय ही एक बड़ा व्यापक और प्रभावशाली धर्म बन चुका होगा और दूसरा यह कि इस युग में भी विदेशी आक्रान्ता भारतीय धर्मों की ओर आकृष्ट होते जा रहे थे।

भारती-पार्थियन—तीसरी सदी ईसापूर्व में पार्थिया में जो राष्ट्रीय क्रान्ति हुई, उससे वहाँ एक शक्तिशाली राजवंश की स्थापना होगई। यह राजवंश ५ सदियों तक क़ायम रहा। पार्थियन शक्ति पूर्व की ओर बढ़ती गई, परन्तु भारतवर्ष पर इसका प्रभाव एक सदी से अधिक समय के लिए क़ायम नहीं रहा। सब से पूर्व पार्थियन राजा मिथ्रिडेटस (Mithridatus) ने भारतीय सीमा में पैर रक्खा। उसके लम्बे शासनकाल के अन्तिम दिनों, सन्

१३८ ईसापूर्व तक सिन्धु और जेहलम के बीच के भाग पर उस का अधिकार स्थापित हो चुका था। पार्थियन राजा भारतवर्ष में यह प्रभाव अधिक समय तक क़ायम नहीं रख सके। तथापि इस घटना से भारतवर्ष और फ़ारस के पारस्परिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ट अवश्य होगए। पर्शिया का खिताब क्षत्रप (Satrap) या महान्क्षत्रप बहुत समय तक यहाँ प्रयोग में आता रहा।

गोंदोफेरनीज़ (Gondophernes)—भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त पर जो छोटे-छोटे राजा इन दिनों शासन कर रहे थे, उन में से अनेक के नाम स्पष्ट रूप से पार्थियन थे। इन में सब से अधिक उल्लेखयोग्य गोन्दोफ़रनीज़ है। वह सम्भवतः एक पार्थियन राजा था और प्रतीत होता है कि ईसा की पहली शताब्दी के प्रथमार्थ में वह शासन कर रहा था। उसके राज्य में गान्धार, काबुल और तक्षशिला भी अन्तर्गत थे। गोन्दोफेरनीज़ का नाम सेण्ट थामस की सुप्रसिद्ध दन्तकथा से सम्बन्धित है। कहा जाता है कि सेण्ट थामस ने अपने प्रभाव से उसे ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया था। एक अन्य अनुश्रुति है कि मद्रास के निकट किसी स्थान पर थामस की हत्या कर दी गई थी।

शक—प्रथम सदी ईसापूर्व में एक शक राजा ने की-पिन (Ki-pin) पर अधिकार कर लिया। स्टेन कोनो (Sten Know) के अनुसार यह की-पिन गान्धार ही था। शक लोग काबुल की ग्रीक शक्ति को तो पराजित नहीं कर सके, परन्तु मथुरा और नासिक के शिलालेखों से प्रतीत होता है कि शकों की शक्ति का विस्तार पूर्व में यमुना तक और दक्षिण में गोदावरी तक हो गया था। दक्कन में पैठान के आन्ध्र शासन से उनकी निरन्तर प्रतिद्वन्दता बनी रही।

शकों की उज्जैन-विजय—गाथाग्रन्थ, मनुस्मृति, हरिवंश आदि प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंमें शकों का उल्लेख बहुत स्थानों पर मिलता है। जैन ग्रन्थ 'कालकाचार्य-कथानक' में पश्चिम-भारत पर हुए शक आक्रमण का मनोरंजक वर्णन उपलब्ध होता है। इस बात के प्रमाण हैं कि इस ग्रन्थ में जो जैन इतिवृत्त उपलब्ध होता है, वह अधिकांश में सही है। इस से प्रतीत होता है कि शक लोग बोलान दर्रे के मार्ग से बलोचिस्तान होते हुए सिन्ध की ओर आए थे। उनके सेनापति 'शाही' कहलाते थे और प्रमुख सेनापति को 'शाहानुशाही' कहा जाता था। उन की एक शाखा ने उज्जैन को विजय किया।

विक्रमादित्य—जैन प्रमाणों के आधार पर महान् विक्रमादित्य ने उज्जैन से शकों को खदेड़ दिया। इस विजय के उपलक्ष में उसने सन् ५७ ईसापूर्व में विक्रम सम्वत् का प्रारम्भ किया। अनेक विदेशी ऐतिहासिक यह स्वीकार ही नहीं करते कि ५७ ईसा-पूर्व में कोई विक्रमादित्य नाम का राजा हुआ। परन्तु भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य की सर्वसम्मत ऐतिहासिक साक्षी को इतनी अवज्ञा के साथ देखना कदापि युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। प्राचीन उज्जैन की खुदाई होने पर सम्भवतः इस समस्या पर प्रकाश पड़ सके। कालकाचार्य-कथानक के अनुसार विक्रमादित्य किसी गर्द्धभिल नाम के राजा का पुत्र था। सम्भव है कि हिन्दूधर्म के इस महान् राजा विक्रमादित्य में विदेशी रुधिर का अंश भी विद्यमान हो। दूसरी शताब्दी ईसवी में उज्जैन पर शक शासन पुनः स्थापित हो गया और यह शासन तीन शताब्दियों तक जारी रहा।

गौतमीपुत्र शातकर्णी और समुद्रगुप्त आदि के शिलालेखों में भी शकों का वर्णन उपलब्ध होता है । तथ्य यह है कि पश्चिमी भारत के शक राजाओं ने भारतवर्ष में जिन शिलालेखों को खुदवाया, वे ही भारतवर्ष के प्राचीनतम संस्कृत शिलालेख हैं।

पंजाब के शक शासक—तक्षशिला और मथुरा में जो शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, उन में अनेक राजाओं के शक नाम ही हैं । इन में एक नाम माउज़ो भी है; माउज़ो के राज्य में तक्षशिला भी सम्मिलित था। उस की तिथि प्रथम शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ में रक्खी जा सकती है। उस का उत्तराधिकारी अज़ोज़ (Azes) बना, जिस ने पंजाब में से भारती-युनानी राज्य का विनाश किया। अनेक शक राजाओं का परिचय उन के सिक्कों से मिलता है, परन्तु उन के पारस्परिक सम्बन्धों तथा तिथिक्रम के विषय में निश्चय से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

मथुरा का क्षत्रप—मथुरा के शक शासक अपने को क्षत्रप कहते थे। इन में एक प्राचीन क्षत्रप का नाम राजुल था; वह अपने को 'महाक्षत्रप' कहता था। मथुरा में प्राप्त एक शिलालेख में तथा अपने सिक्कों में उस ने अपने को "राजाओं का राजा" लिखा है। उस का पुत्र भी महाक्षत्रप था। इन राजाओं ने अपने शिलालेखों में जिस सम्वत का प्रयोग किया है, वह सम्वत् विक्रम तथा शक सम्वतों से भी प्राचीन है । इस वंश के दो अन्य उल्लेखयोग्य राजा 'पतिक' (Patika) और 'खरओस्त' (Kharaosta) थे

क्षहरात (Kshaharatas)—शकों के एक परिवार का नाम क्षहरात था । इन लोगों ने अपना अधिकार दक्षिण और

पश्चिमी भारत की ओर बढ़ाया था। क्षहरातों ने आन्ध्र राजाओं के हाथ से महाराष्ट्र का प्रदेश जीत लिया और आन्ध्र राजाओं को अपनी सीमा सुदूर दक्षिण तक ही सीमित कर लेने के लिए वाधित हो जाना पड़ा।

नाहपन (Nahapana)—क्षहरात परिवार का सब से बड़ा राजा नाहपन था। उस के शासन काल में महाराष्ट्र का अधिकांश भाग उसी की अधीनता में आ गया। उस का राज्य पश्चिमी तट पर सुपारा तक और मालवा में मन्दसोर तक विस्तृत था। नाहपन ने भी अपने को महाक्षत्रप लिखा है। यह ख्याल किया जाता है कि शकाब्द, जो सन् ७८ ईसवी से शुरू हुआ, नाहपन के वंश के किसी राजा ने प्रचलित किया था। नाहपन को दक्षिण में आन्ध्र लोगों के साथ और उत्तर में मालवा के साथ निरन्तर संघर्ष में रहना पड़ा। प्रतीत होता है कि उसके जामाता उषवदात (Ushavadata) ने मालवा को पूरी तरह से हरा दिया था। परन्तु आन्ध्र की समस्या यथापूर्व बनी रही और शिलालेखों से ज्ञात होता है कि कालान्तर में आन्ध्र राजा गौतमीपुत्र शातकर्णी ने शक शक्ति का विनाश कर के पुनः आन्ध्र प्रभुता स्थापित कर दी। गौतमीपुत्र शातकर्णी ने नाहपन को राज्यच्युत कर दिया और अपने नाम के सिक्के जारी किए।

उज्जैन के शक—गौतमीपुत्र के देहान्त के बाद शक लोगों ने पुनः अपने अपहृत राज्य का उद्धार कर लिया और उज्जैन में एक दृढ़ राजवंश की स्थापना की। उज्जैन के शक क्षत्रप पिछले आन्ध्र राजाओं के सब से बड़े प्रतिद्वन्दी थे। इन में पहला क्षत्रप चष्टन (Chashtana) था, जो एक विद्वान के

अनुसार ७८ ईसवी में राजगद्दी पर बैठा। शायद इसी ने शकाब्द का प्रारम्भ किया। यह भी सम्भव है कि उसका शासनकाल दूसरी शताब्दी ईसवी के प्रारम्भ में रहा हो। उसने भी अपने आपको महाक्षत्रप लिखा है। उस के सिक्कों पर खारोष्ठी लिपि अंकित है। इस से प्रतीत होता है कि वह किसी उत्तरीय शक्ति, सम्भवत: कुशान शक्ति, के अधीन होगा।

रुद्रदामन—सन १३० ईसवी में चष्टन के देहान्त के बाद उस का पोता रुद्रदामन उस का उत्तराधिकारी बना। रुद्रदामन इस वंश का सब से अधिक प्रसिद्ध राजा हुआ है। गिरनार में उस का जो शिलालेख उपलब्ध हुआ है, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। मालवा, सुराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु घाटी का अधोभाग, मारवाड़, उत्तरीय कोंकण तथा मध्य भारत के अनेक भाग रुद्रदामन के आधीन थे। रुद्रदामन ने अवश्य ही इन में से अनेक प्रान्तों को आन्ध्र राजाओं से जीता होगा। उसने आन्ध्र राजा, सम्भवत: पुलुमयी, को दो बार जीतने का दावा किया है। रुद्रदामन ने यौधेयों के गणराज्य को भी जीता। यह राज्य वर्तमान भरतपुर रियासत के स्थान पर था। उस की राजधानी उज्जैन ही थी। सुराष्ट्र पर उस का एक पार्थियन प्रतिनिधि शासन करता था। उस ने सुराष्ट्र की सुप्रसिद्ध सुदर्शन झील पर एक नया बांध बनवाया। सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से इसी झील के पानी से सिंचाई का काम लिया जा रहा था।

शिलालेखों से प्रतीत होता है कि रुद्रदामन एक बहुत ही दक्ष राजा था। अपने निजी कोश से बहुत अधिक धन व्यय कर के उस ने सुदर्शन बांध बनवाया था। शासन कार्य में वह अपने मन्त्रियों तथा अमात्यों से भी सहायता लेता था।

गिरनार का शिलालेख—गिरनार का शिलालेख प्रौढ़ संस्कृत भाषा में है। संस्कृत के महान् लेखकों की परिष्कृत शैली इस शिलालेख की भाषा में भी पाई जाती है। भारतीय साहित्य के इतिहास में गिरनार के इस शिलालेख का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इस से मैक्समूलर की संस्कृत के पुनरुद्धार युग की कल्पना खण्डित हो जाती है। इस शिलालेख से प्रतीत होता है कि उज्जैन के शक राजाओं ने बड़ी शीघ्रता से हिन्दू संस्कृति को अपना लिया था और तब विदेशियों तथा भारतीय आर्यों में अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे। विदेशी शक भारतीय सभ्यता और समाज में पूरी तरह रल-मिल गए थे और हिन्दुओं के साथ एकाकार हो कर, वे हिन्दू सभ्यता के विकासपथ में अग्रसर हो रहे थे।

ईसा की दूसरी सदी से लेकर गुप्त साम्राज्य के उदय तक उज्जैन पर अनेक शक क्षत्रपों ने शासन किया। समुद्रगुप्त के अलाहाबाद वाले शिलालेख में लिखा है कि सम्राट् को शक राजाओं ने स्वेच्छा-पूर्वक कर देना शुरू कर दिया था। पांचवीं सदी ईसवी के अन्त में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने उज्जैन के इस शकवंश की समाप्ति कर दी।

४. भारत की कुशान शक्ति

कुशान तिथिक्रम—कुशानवंश के तिथिक्रम के सम्बन्ध में अभी तक निश्चय के साथ कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस का परिणाम यह हुआ कि बीच के ३०० वर्षों के इतिहास का निर्माण सन्तोष जनक रूप में अभी तक नहीं हो पाया। तक्षशिला के अन्वेषणों से इस समस्या के हल करने में कुछ सहायता अवश्य

मिली है। कुशान लोगों के प्रथम पांच राजाओं के तिथिक्रम की व्यवस्था ठीक ढंग से की जा चुकी है। सर जोन मार्शल, प्रो० स्टेन कोनो और डा० स्मिथ की राय में कनिष्क के राज्यारोहण की तिथि १२० ईसवी है, परन्तु अन्य अनेक ऐतिहासिक यह तिथि ७८ ईसवी में मानते हैं।

यूए-ची का स्थान परिवर्तन—कुशान लोग यूए-ची नामक एक जंगली जाति का भाग थे। प्राचीन चीनी ऐतिहासिकों के वृत्तान्तों से ज्ञात होता है कि वे लोग शुरू-शुरू में चीनी तुर्किस्तान की सीमा में रहा करते थे। उन का शरीर विशाल और मुंह लाल होता था;सम्भवतः तुरक लोगों से भी उन का सम्बन्ध था। लगभग १६५ ईसापूर्व में उन्हें उस प्रदेश से एक अन्य शक्तिशाली जत्थे ने खदेड़ दिया। इस तरह पश्चिमी चीन से निकाले जाकर यूए-ची जाति के ये बड़े-बड़े गिरोह धीरे-धीरे दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ चले। पहले उन्होंने वु-सन (Wu-sun) जत्थे को हराया। उस के बाद उन्हों ने शक लोगों को भारतवर्ष के सीमाप्रान्त की ओर खदेड़ दिया। परन्तु कुछ समय के बाद वू-सन शक्ति के पुनरुद्धार हो जाने पर, यूए-ची जाति ने शकों को हरा कर उन्हें उन के नवविजित प्रदेश से भी निकाल दिया।

कुशानों का उत्थान—वे लोग अब अक्षु (Oxus) की घाटी में आ बसे। इस समय तक उन का जंगलीपन जाता रहा था और वे संगठित होकर पांच हिस्सों में बँट गए थे। एक शताब्दी के बाद इन यूए-ची लोगों में कुशान नामक हिस्सा बहुत शक्तिशाली बन गया। उन का प्रथम राजा कैडफ़ीसिज़ प्रथम था।

कैडफीसिज प्रथम (*Kadphises I.*)—यह एक शक्ति-

शाली राजा था। इस ने पार्थिया पर आक्रमण किया और क्रमशः काबुल तथा गान्धार को अपने राज्य में मिला लिया। उस का देहान्त ८० वर्ष की आयु में हुआ।

कैडफीसिज़ द्वितीय—इस के शासन काल में कुशान साम्राज्य का विस्तार और भी अधिक बढ़ गया। अनेक विद्वानों के मतानुसार सन् ७८ ईसवी में कैडफ़ीसिज़ द्वितीय ने ही शकाब्द का प्रारम्भ किया था। उसके राज्य में भारतवर्ष के भी बहुत से भाग सम्मिलित थे और इन भागों में पर उस के अधीनस्थ राजा शासन करते थे। वह नाहपन,तथा मालवा और मध्यभारत के अन्य शक क्षत्रपों का भी अधीश्वर था। उस का राज्य केवल अक्षु की घाटी, काबुल और गान्धार तक ही सीमित न था, अपितु भारतवर्ष का काफी बड़ा भाग भी उस के शासन के अन्तर्गत था। कैडफ़ीसिज़ के सिक्के बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। ऐतिहासिक स्मिथ के अनुसार 'प्रतीत होता है कि सिन्धु से लेकर गंगा की घाटी में, कम से कम बनारस तक का प्रदेश कैडफीसिज़ द्वितीय के शासन के अधीन था, पश्चिम में उस की शक्ति का विस्तार नर्मदा तक होगा।

चीन के साथ संघर्ष—ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त तक पश्चिम में चीन की शक्ति का विस्तार बहुत ज़ोरों पर होने लगा था। पान-चाओ नाम का एक चीनी सेनापति एक भारी चीनी सेना लेकर चीनी-तुर्किस्तान, पर्शिया और पार्थिया को विजय करता हुआ कैस्पियन समुद्र के तट तक आ पहुँचा। चीनी सेना की इन निरन्तर विजयों से कैडफ़ीसिज़ द्वितीय चौकन्ना हो गया। उस ने चीनी राजा के पास यह सन्देश भेजा कि वह अपनी

कन्या का विवाह उसके साथ कर दे, अन्यथा वह उन पर आक्रमण कर देगा। चीनी-राजा के यह स्वीकार न करने पर दोनों में लड़ाई छिड़ गई। कुशान राजा ने चीनी सीमाप्रान्त की ओर ७०००० घुड़सवारों की एक सेना रवाना कर दी। परन्तु इस लम्बे सफ़र से कुशान सेना इतनी थक गई थी कि चीनियों ने उसे आसानी के साथ पराजित कर दिया। तब कैड़फ़ीसिज़ द्वितीय को बाधित होकर इस चीनी राजा को कर देना पड़ा। चीनी इतिहासकारों ने लिखा है कि ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्त तक भारतवर्ष से चीन सम्राट् के लिए विविध उपाहर प्रायः आते रहते थे।

कैड़फीसिज़ प्रथम तथा द्वितीय के दिनों में भारतीय व्यापार पुनः समृद्ध हो गया और चीन, भारत तथा रोमन साम्राज्य में व्यापारिक वस्तुओं का आवागमन बहुत बढ़ गया। रोम से भारतवर्ष में प्रभूत मात्रा में सोना आया और कैडफ़ीसिज़ द्वितीय ने ताम्बे तथा चाँदी के सिक्कों के अतिरिक्त सोने के सिक्के भी ढाले। उसके सिक्कों से ज्ञात होता है कि वह शिव का पूजक था। एक शिलालेख में उसे 'महीश्वर' भी लिखा है।

कनिष्क—कनिष्क के समय में कुशान साम्राज्य अपनी उन्नति की चरम सीमा तक जा पहुँचा। कनिष्क की तिथि अभी तक अनिश्चित है। परन्तु काम चलाने के लिए उसके राज्यारोहण की तिथि सन् १२० ईसवी में मान ली गई है। इस बात के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण मिले हैं कि कैडफ़ीसिज़ द्वितीय के देहान्त के कई वर्षों के बाद कनिष्क कुशान साम्राज्य की राजगद्दी पर बैठा। एक सिक्के से प्रतीत होता है कि इसी बीच में एक अज्ञात नाम का राजा कुशान वंश की गद्दी का स्वामी बना।

कनिष्क कैडफ़ीसिज़ द्वितीय का पुत्र नहीं था। यह भी सम्भव है कि उसका जन्म यूए-ची जाति के किसी अन्य हिस्से में हुआ हो। स्टेन कोनो के अनुसार वह खोतान से आया था और उसका जन्म छोटी यूए-ची जाति में हुआ था।

कुशान ने अपने राज्यारोहण के समय से एक सम्वत् भी चलाया। करीब शताब्दी तक उत्तरीय भारत और काबुल में यह सम्वत् प्रचलित रहा।

कनिष्क की विजयें कनिष्क ने करीब ४० वर्षों तक शासन किया। पुरुषपुर (वर्तमान पेशावर) को उसने अपनी राजधानी बनाया। उसके जीवन का अधिकांश भाग चीनियों तथा मध्य एशिया की जंगली जातियों के साथ लड़ाई करने में व्यतीत हुआ। अपने राज्यकाल के प्रारम्भ ही में उसने काश्मीर की सुन्दर घाटी को जीत लिया। पश्चिम में उसने अपना राज्य पार्थिया तक बढ़ा लिया। उसकी सब से बड़ी विजय चीनियों की विजय थी, जिनसे कैडफ़ीसिज़ द्वितीय को पराजय का मुँह देखना पड़ा था। खोतान, यारकन्द और काशघर के शासकों को भी उसने अपने अधीन कर लिया। इस कार्य के लिए उसे पामीर के पार अपनी विशाल सेना भेजने का अत्यधिक कठिन आयोजन भी करना पड़ा। कहा जाता है कि कनिष्क के सेनापति उसके इन निरन्तर युद्धों से इतना तंग आगए कि उन्होंने उसकी हत्या कर डाली। कनिष्क ने सम्पूर्ण उत्तरीय भारत को अपने अधीन कर लिया और उसका राज्य गान्धार तथा काश्मीर से लेकर बनारस तक व्याप्त हो गया। तिब्बती और चीनी लेखकों ने कनिष्क के साकेत (अवध) और पाटलिपुत्र के राजाओं के साथ हुए संघर्षों का जो वर्णन लिखा था,

वह आज तक भी सुरक्षित है। कनिष्क के सिक्के मथुरा, श्रावस्ती सारनाथ और गोरखपुर ज़िले तक से प्राप्त हुए हैं। राज्य के विभिन्न, प्रान्तों पर उसके भेजे हुए प्रतिनिधि और क्षत्रप शासन करते थे।

कनिष्क का धर्म—बौद्ध इतिवृत्त के अनुसार कनिष्क बौद्ध-धर्म का उदार संरक्षक था। अशोक के बाद वे उसी को स्थान देते हैं। पेशावर में उपलब्ध शिलालेख से भी ज्ञात होता है कि कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। अपनी राजधानी में उसने एक मीनार बनवाया था; चीनी यात्री इस मीनार को देख कर बड़े प्रभावित होते थे। अलबरूनी ने भी इसका ज़िक्र किया है। काश्मीर अथवा जालन्धर में कनिष्क ने चौथी बौद्ध महासभा बुलाई थी। इस महासभा में भी बौद्ध धर्म की विवादास्पद बातों के सम्बन्ध में विचार किया गया था। इसके बाद इस ढङ्ग की अन्य कोई महासभा नहीं हुई। इस महासभा के निर्णयों को ताम्र-पत्रों पर खुदवा कर उन्हें एक स्तूप में रखवा दिया गया।

कनिष्क के सिक्कों से प्रतीत होता है कि स्वयं बौद्ध होते हुए भी वह हिन्दू, यूनानी तथा फ़ारसी देवताओं का पूर्ण सन्मान करता था।

बौद्ध धर्म का प्रसार—इस शक्तिशाली सम्राट् की संरक्षकता पाकर भारतवर्ष के बाहर, विशाल कुशान साम्राज्य में, बौद्ध धर्म का प्रसार होने में बड़ी सहायता मिली होगी। यह ठीक कहा जाता है कि 'कुशान साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ बौद्ध धर्म भी अपना विजयक्षेत्र बढ़ाता चला जा रहा था।' गान्धार और तक्षशिला विश्वविद्यालय—ये दोनों बौद्ध भिक्षुसंघों के केन्द्र बन गए थे। खोतन और चीन के मार्ग खुल गए थे। इसी युग में जाकर

बौद्ध धर्म का प्रसार उत्तर दिशा में प्रारम्भ हुआ। उत्तर-पश्चिम दिशा में भी भारतीय संस्कृति का प्रसार कनिष्क के शासनकाल में ही शुरू हुआ और अशोक का उद्देश्य अब नए देशों में भी पूरा होने लगा।

कनिष्क के समय में भारतवर्ष और चीन में जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, वह करीब १००० बरसों तक बना रहा। उसके परिणाम भी बहुत लाभकर सिद्ध हुए। चीन से हज़ारों विद्यार्थी इस देश में शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से आते रहे और भारतीय अध्यापक तथा प्रचारक चीन में जाकर ज्ञान का प्रकाश देते रहे।

कला और साहित्य का संरक्षक कनिष्क—अशोक की तरह कनिष्क भी एक महान् निर्माता था। अपनी राजधानी में उसने अनेक बड़ी-बड़ी बौद्ध इमारतें बनवाईं। वर्तमान तक्षशिला के 'सर सुख विभाग' में कनिष्क द्वारा बनवाए गए नगर के खण्डरात छिपे पड़े हैं। सम्भवतः काश्मीर में भी कनिष्क ने एक नगर की नींव डाली थी। मथुरा में भी उसके शासनकाल में अनेक सुन्दर इमारतें बनाई गईं। निर्माणकला की गान्धार पद्धति कनिष्क के ज़माने में बहुत उन्नत हुई। मथुरा की खुदाई में से कनिष्क की एक बड़ी प्रस्तर मूर्त्ति प्राप्त हुई है, परन्तु दुर्भाग्य से उसका सिर टूट कर गुम हो गया है।

कनिष्क साहित्य का संरक्षक था। उसका नाम अनेक विद्वान् और साहित्यज्ञों से सम्बद्ध है। अश्वघोष, वसुमित्र, नागार्जुन आदि विख्यात बौद्ध लेखक कनिष्क के दरबार के रत्न थे। कहा जाता है कि भारतीय चिकित्साशास्त्र का प्रणेता महान् चरक कनिष्क का ही राजवैद्य था। इसके अतिरिक्त माठर, संरक्ष, पार्श्व,

यूनानी आगेसिलास (Agesilaos) आदि विद्वानों का भी कनिष्क संरक्षक था।

कनिष्क के उत्तराधिकारी—कनिष्क के बाद उसका पुत्र हुविष्क कुशान राज्य का अधिपति बना। उस ने सम्भपतः २० वर्ष राज्य किया होगा। उस के सिक्के भी उस के पिता के सिक्कों के समान कलापूर्ण और सुन्दर हैं और उन पर भी अनेक देवता अंकित हैं। काश्मीर में एक नगर और एक भिक्षुसंघ के नाम हुविष्क नाम पर रक्खे गये। सम्भव है कि हुविष्क ने भी अपने पिता के साम्राज्य पर अपना अधिकार बनाए रक्खा हो। हुष्विक की प्रवृत्तियां हिन्दु प्रतीत होती हैं और यह भी मालूम होता है कि वह शिव और विष्णु का उपासक था। उसने अपने पुत्र का नाम भी वासुदेव रक्खा।

हुविष्क के पुत्र वासुदेव के शासनकाल में कुशान साम्राज्य का पतन शुरु हुआ। कुशान साम्राज्य के इस पतन का सम्बन्ध तीसरी सदी ईसवी में फ़ारस के ससानियां राजवंश के उत्थान के साथ भी जोड़ा जा सकता है। कुशान साम्राज्य के नष्ट हो जाने पर भी काबुल घाटि में पांचवीं सदी ईसवी के हूणों के आक्रमण तक, कुशानवंशीय राजा राज्य करते रहे। उस के बाद भी छोटे-छोटे विभिन्न कुशान राजाओं के ज़रा-ज़रा से राज्य, सातवीं सदी ईसवी में अरबों के फ़ारस विजय तक, बने रहे।

विदेशियों का शीघ्र एकीकरण—यह देख कर आश्चर्य होता है कि इस युग में विदेशी आक्रान्ता इस देश को जीत कर भी यहां की सभ्यता और संस्कृति से इतना अधिक प्रभावित हो गए कि शीघ्र ही उन में और भारतीय आर्यों में कोई भेद

नहीं रह गया। हम देखते हैं कि दूसरी सदी ईसापूर्व में, एक यूनानी राजा ने वासुदेव की पूजा के लिए एक स्तम्भ बनवाया था। इसी तरह कुशान लोग इस देश में आने के कुछ ही समय बाद बौद्ध और हिन्दु बन गए और यहां तक कि उन्होंने हिन्दु नामों को भी अपना लिया। मालवा के शक राजाओं ने संस्कृत को अपना लिया, उन्हों ने भी हिन्दु नाम स्वीकार कर लिए और शीघ्र ही उन में तथा अन्य हिन्दुओं में कोई अन्तर नहीं रह गया।

इस तरह इन विदेशी आक्रमणों से भी भारत समाज की रचना पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। तब भारतीय धर्म, संस्कृति और समाज में इतना जीवन था और वे नए विदेशी तत्वों को अपने अन्दर इतना शीघ्र खपा और पचा लेते थे कि इस प्रक्रिया द्वारा भारतीय समाज और संस्कृति के विकास में सहायता ही मिलती थी।

५. बौद्ध धर्म का रूपपरिवर्तन और गान्धार कला

हीनयान और महायान—बौद्ध धर्म के रूप में परिवर्तन की प्रक्रिया तो काफ़ी पहले से शुरु हो चुकी थी, परन्तु मुख्यतया यह परिवर्तन हुआ ईसा की पहली दो या तीन सदियों में ही। एशिया के इतिहास में यह घटना बड़ी महत्वपूर्ण थी। इस का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म हीनयान और महायान नाम से दो हिस्सों में बंट गया। दक्षिणीय बौद्धों का हीनयान सम्प्रदाय महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं पर उसी तरह से स्थिर रहा। ये लोग किसी तरह के परिवर्तन के पक्ष में नहीं थे। लंका, ब्रह्मा, स्याम आदि के बौद्ध आज तक भी हीनयान सम्प्रदाय के है। परन्तु

उत्तरीय बौद्धों ने महायान सम्प्रदाय के रूप में मौलिक बौद्ध धर्म में अनेक परिवर्तन कर दिए। एक तरह से कहना चाहिए कि उन्हों ने बौद्ध धर्म का पूरा स्वरूप ही बदल दिया। महायान सम्प्रदाय में मनुष्य से ऊपर, चमत्कारपूर्ण शक्तियों की सत्ता स्वीकार की जाने लगी। बुद्ध को उन्होंने परमात्मा का रूप दे दिया। यह बुद्ध प्रत्येक प्राणी के अन्तर में विद्यमान रहता है। बोधिसत्वों के रूप में बुद्ध के अनेक अनुचरों को मान लिया गया। ये बोधिसत्व पापी मनुष्यों और बुद्ध के बीच में दूत का काम करते हैं। सभी बोधिसत्व प्रायः प्राचीन हिन्दू देवता थे, महायान बौद्धों ने उनका नाम बदल कर उन्हें अपना लिया। बुद्ध की सत्ता विश्वास, आत्मचिन्तन और योग द्वारा देखी जा सकती है। यह योग की पद्धति पातंजलि के योगदर्शन पर आश्रित है। वैदिक विचारों के अनुसार योग एक ऐसा मनोवैज्ञानिक अध्यवसाय है, जो मनुष्य को सच्चे आध्यात्मिक प्रकाश की ओर ले जाता है। महायान सम्प्रदाय ने भक्ति मार्ग को भी स्वीकार कर लिया। यह भक्ति मार्ग उन दिनों सर्वप्रिय हो रहा था। महायान सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव का परिणाम यह हुआ कि महात्मा बुद्ध की मूर्त्ति की पूजा शुरू हो गई। महात्मा बुद्ध के पिछले जन्मों की कथाओं-जातक कथाओं तथा जीवन वृत्तान्त के आधार पर पत्थर, ताम्बा और कांसा की लाखों-करोड़ों मूर्तियां घड़ डाली गई। इन में से अधिकांश मूर्तियों का निर्माण गांधार शिल्पकला के आधार पर किया गया। इन मूर्तियों को देखने से ज्ञात होता है कि सर्वसाधारण जनता के हृदयों में बौद्ध धर्म ने किस गहराई से अपना स्थान बना लिया था। प्रारम्भिक बौद्ध प्रचारकों ने अपने गुरु का एक

भी मूर्त्ति नहीं बनाई थी। महायान सम्प्रदाय के प्रचलित होने के बाद बौद्ध मूर्तियों का जो निर्माण प्रारम्भ हुआ, उस का एक प्रभाव यह भी हुआ कि विदेशों में महात्मा बुद्ध का सन्देश फैलाने के कार्य में बड़ी आसानी हो गई।

रूपपरिवर्तन के कारण—इस रूपपरिवर्तन के अनेक कारण थे। ईसवी सन के प्रारम्भ से पहले की सदियों में भारतवर्ष में भक्ति-मार्ग और योगाभ्यास की विधियों का प्रादुर्भाव हुआ था। इन मार्गों का प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ना आवश्यक था। इन से बौद्ध धर्म में भी भावुकता का प्रवेश हो गया। प्राचीन बौद्ध धर्म का उद्देश्य व्यावहारिक रूप में अपने अनुयाइयों का आचार उन्नत करना था, वह प्राणीमात्र के जीवन को पवित्र मानता था। अशोक ने इस महान् सर्वजनहितकारी आन्दोलन का यह ठीक स्पष्टीकरण किया था कि "बौद्ध धर्म महान मनोवैज्ञानिक सच्चाइयों पर आश्रित है।" यह बौद्ध धर्म ऊँची सतह के आचार शास्त्र पर आश्रित था। इस उदार बौद्ध धर्म का यह विशिष्ट दार्शनिक रूप कुछ विद्वानों को तो सन्तुष्ट कर सकता था, परन्तु उससे सर्वसाधारण जनता की धार्मिक वासनाएँ पूरी नहीं होती थीं। साधारण स्थिति की जनता को तो धर्म के नाम पर कोई अधिक स्थूल चीज़ चाहिए। हैवेल के अनुसार शक्तिशाली देवपुरुषों के प्रति असाधारण श्रद्धा के भाव भारतीय मनोवृत्ति में सदा से विद्यमान रहे हैं। इन्हीं कारणों से बौद्ध धर्म में महायान सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। महायान सम्प्रदाय का आधार तो भक्ति और योग की भारतीय प्रवृत्तियां थीं; परन्तु उस पर विदेशी धार्मिक गाथाओं और मूर्तिपूजा की प्रवृत्तियों का प्रभाव भी पड़ा। अवलोकित और मंजुश्री आदि

देवता भी बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के देवताओं में सम्मिलित कर लिए गए।

कनिष्क की संरक्षकता में ही बौद्ध धर्म में ये परिवर्तन आ सके। कनिष्क से साथ, पाटलिपुत्र की बजाय गान्धार बौद्ध धर्म का केन्द्र बन गया। इस का परिणाम यह हुआ कि संघ का नियन्त्रण, जिसने अवश्य ही बौद्ध धर्म के इन परिवर्तननों का तीव्र विरोध किया होगा, ढीला पड़ गया। जब तक मगध बौद्ध धर्म का केन्द्र रहा, वहां के भिक्षु संघ ने बौद्ध धर्म में परिवर्तन करने के आन्दोलनों को सिर न उठाने दिया। परन्तु दूर के बौद्धों पर संघ का यह नियन्त्रण और प्रभाव सम्भव नहीं था। गान्धार में बौद्ध धर्म ने मूर्त्तिपूजा आदि अनेक विदेशी प्रवृत्तियों को भी बड़ी आसानी के साथ अपना लिया।

साथ ही, यह आवश्यक था कि विदेशों में प्रसार होने के साथ ही, बौद्ध धर्म का रूप भी बदले। बौद्ध धर्म की जिन विशेषताओं के प्रभाव से पूर्वीय भारत के निवासी उस की ओर आकृष्ट हुए थे, यह आवश्यक था कि अन्य देशों में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए, उस में उन देशों की स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन आते चले जावें।

हिन्दू धर्म की ओर प्रगति—बौद्ध धर्म का यह नवीन रूप हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट हो रहा था, यह बात इन तथ्यों से सिद्ध होती है कि उस में भक्ति और योग की प्रवृत्तियां आ गई। देवत्व की भावना बौद्धों ने स्वीकार कर ली और वे भी संस्कृत को अपनी धार्मिक भाषा के रूप में इस्तेमाल करने लगे।

नागार्जुन—भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार नागार्जुन इस नई

पद्धति का सब से महान् पोषक था, वह सम्भवतः कनिष्क का समकालीन था। बौद्ध धर्म, साधारण जनता की निगाह में, अपनी ऊँची सतह के कारण, पढ़े लिखे समझदार लोगों की विशिष्ट श्रेणी के एकाधिकार की चीज़ बना हुआ था। उसे सर्वसाधारण की धार्मिक वासनाओं को पूरा करने वाली स्थूल चीज़ बनाने के लिए जो क्रान्ति हुई, उस का सब से बड़ा नेता नागार्जुन ही था। नागार्जुन को कुछ लोग बौद्ध धर्म का लूथर भी कहते हैं।

गान्धार कला का उदय—बौद्ध धर्म के रूप परिवर्तन के साथ ही साथ भारतीय वास्तुकला में भी एक नई पद्धति का प्रारम्भ हुआ। गान्धार की राजधानी तक्षशिला ही निस्सन्देह इन दिनों महायान सम्प्रदाय का सब से बड़ा केन्द्र रही होगी। इस अवसर पर जिस कला का विकास हुआ, उसे 'गान्धार कला पद्धति' कहा जाता है। उसे यूनानी-बौद्ध कला भी कहते हैं। गान्धार कला में बौद्ध भावों को यूनानी कला के ढंग पर व्यक्त किया है। महात्मा बुद्ध और भारतीय देवताओं की मूर्त्तियों का निर्माण यूनानी देवताओं के ढंग पर किया गया है। इन मूर्त्तियों की भूषा और वस्त्र भी यूनानी ढंग के हैं। खोतन का प्रदेश भारतीय, चीनी, ईरानी और यूनानी-रोमन—इन चारों महान् सभ्यताओं के सम्मिश्रण का महान केन्द्र बन गया। इस से यह पूर्णतया सम्भव है कि गान्धार कला पर अन्य विदेशी कलाओं का प्रभाव भी पड़ा हो।

परन्तु हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि इस कला ने भारतीय भावनाओं को ही यूनानी आकार दिया, इस कला में कोई नई भावना नहीं उत्पन्न हुई और इस समय भी मगध ही बौद्ध धर्म का आध्यात्मिक केन्द्र था, यूनान नहीं। साथ यह भी एक तथ्य

है कि यूनानी कपाकारों ने इस प्रक्रिया द्वारा भारतीय कला को एक नया प्रोत्साहन दिया।

प्राचीन भारतीय कला से भेद—भारतवर्ष के अन्य आन्तरिक कलाकेन्द्रों से गान्धार की यह कला स्पष्टतः भिन्न थी। इस युग के जो कलापूर्ण अवशेष अमरावती में उपलब्ध हुए हैं, वे गान्धार कला से कहीं बढ़ चढ़ कर हैं। इसी तरह मथुरा और सारनाथ में जो कलापूर्ण सुन्दर अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनसे एक सर्वथा विभिन्न परम्परागत कारीगरी का परिचय मिलता है।

जातकों की कहानियां, जिनमें महात्मा बुद्ध के पूर्व जन्यों का वर्णन है इस कला के व्यावहारिक प्रदर्शन का सर्वश्रेष्ठ साधन बनीं। बोधिसत्वों के सम्बन्ध की भी असंख्य मूर्तियाँ बना डाली गईं। इस तरह भारतीय मूर्त्ति-निर्माण-कला को यह एक भारी प्रोत्साहन मिला और शीघ्र ही सारा देश करोड़ों बौद्ध मूत्तियों से भर गया।

यह नवीन कला पद्धति प्राचीम विश्वासों की कठोर अपरिवर्थन-शीलतया के खिलाफ़ एक प्रतिक्रिया थी, इससे गान्धार के मूर्त्ति-निर्माता अपनी रचनाओं को अत्यधिक भूषित करने में आनन्द अनुभव करने लगे। उस समय तक भी उच्चकोटि की भारतीय कला का स्वरूप सादा और संयमपूर्ण होता था। अब गान्धार कला के विकास के बाद से भारतीय कला में भी गहरे मोड़ों और अत्यधिक भूषा की लोकप्रिय भावना का प्रवेश हो गया। इस तरह हम देखते हैं कि सिर्फ़ कुछ सदियों के व्यवधान से ही मौर्य और गुप्तकालीन कला में बड़ा भेद दिखाई देता है।

सम्भवतः ४०० ईसवी तक गान्धार-कला का पूर्ण नाश हो गया।

६. व्यापार और व्यवसाय

(३०० ईसापूर्व से २०० ईसवी तक)

अलेक्जैण्ड्रिया—पश्चिम के साथ भारतवर्ष का व्यापार इस युग में भी पहले के समान चलता रहा। सिकन्दर की मिश्रविजय के बाद अलेक्जैण्ड्रिया के बन्दरगाह की महत्ता बहुत अधिक बढ़ गई और वह भारत तथा यूरोप के बीच में होने वाले व्यापार की कुञ्जी बन गया। सीरिया की अराजकता, पार्थिया की क्रान्ति तथा शकों के आक्रमणों के कारण यूरोप और भारत के बीच का स्थलमार्ग सुरक्षित नहीं रहा था, इस कारण इस युग में लाल समुद्र के जलमार्ग की महत्ता बहुत अधिक बढ़ गई।

म्योज़ हारमोस (Myos Hoarmos)—इस सामुद्रिक मार्ग में क्रमशः म्योज हार मोस नामक बन्दरगाह ने बड़ी प्रमुखता धारण करली। हम देख चुके हैं कि मिश्र के राजा फिलेडैलफ़स ने अपने दूत भारतवर्ष में भेजे थे, ये लोग अवश्य ही मौर्य सम्राट् के दरबार में भी गए होंगे। इस युग में भारतवर्ष का यूरोप के साथ सीधा व्यापार बहुत कम होता था। रक्त समुद्र के मुहाने पर मूज़ा (वर्तमान अदन) में व्यापारी बदल जाते थे। वर्तमान पोर्ट सईद के समान उन दिनों का अदन पूर्वीय व्यापार का एक बड़ा प्रमुख परिवर्तन केन्द्र(Clearing House) बना हुआ था।

यूडोक्सज़ (Eudoxus)—उस युग के कुछ साहसी यूनानी भारतवर्ष के साथ सीधा व्यापार भी करते थे। इन में यूडोक्सज़ सब से अधिक प्रसिद्ध है। वह एक महान् अन्वेषक था। वह

दो वार भारतवर्ष में आया और यहाँ से कीमती सामान अपने साथ ले गया। इसके अतिरिक्त उसने अफ्रीका महाद्वीप का पूरा चक्कर काट कर बिना स्थलीय बाधा के, जल मार्ग से ही भारतवर्ष में आने के दो असफल प्रयत्न भी किए। इस तरह के दूसरे प्रयत्न में उसकी मृत्यु हो गई। यूडोक्सज़ के इन प्रयत्नों के कई सौ वर्ष बाद वास्कोडी गामा को इस मार्ग से भारतवर्ष में आने में सफलता प्राप्त हुई।

रोमन साम्राज्य के साथ भारतवर्ष का व्यापार—पहली सदी ईसवी में, रोमन साम्राज्य के उदय के साथ-साथ पश्चिम और भारतवर्ष का पारस्परिक व्यापार बहुत बढ़ गया। इस समय तक व्यापार के मार्ग काफ़ी सुरक्षित और भयरहित हो चुके थे। आरामपसन्द रोमन लोग भारतवर्ष में बने उपभोग के पदार्थों को बहुत पसन्द करते थे, अतः वहां भारतीय पदार्थों की मांग बहुत बढ़ गई। भारतीय कपड़ा, मलमल, हीरे, मोती, मसाले, मिरचें, चीनी रेशम आदि की रोमन साम्राज्य में अत्यधिक मांग थी। रोम का धन भारतवर्ष में खिंचा आ रहा है, यह शिकायत प्लिनी (Pliny) ने भी की थी। दक्षिण में पृथवी के नीचे से यूनानी सिक्कों के जो ढेर उपलब्ध हुए हैं, उनसे भी यही स्थापना सिद्ध होती है। नीरो के राज्य में भारत का यूनान के साथ व्यापार अपनी चरम सीमा तक जा पहुँचा।

प्राचीन भारतीय भूगोल पर पाश्चात्य लेखक—भारत और पश्चिम का व्यापारिक सम्बन्ध बहुत बढ़ जाने के कारण यूरोप के अनेक लेखकों ने इस देश के भूगोल के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा। इन में स्ट्रैबो सब से प्राचीन था। वह स्वयं

एक प्रसिद्ध पर्यटक था, यद्यपि वह भारतवर्ष में कभी नहीं आया। उसके वर्णन अपने से पूर्व के लेखकों के आधार पर हैं, अतः स्ट्रैबो ने जिस भारतवर्ष का वर्णन किया है, वह उसके अपने समय का नहीं, अपितु तीसरी या चौथी सदी ईसापूर्व का है।

एरियन (Arrian) ने अपनी इण्डिका दूसरी सदी ईसा पूर्व के मध्य में लिखी। प्लिनी (Pliny) ने अपना 'प्राकृतिक इतिहास' प्रथम शताब्दी ईसवी के द्वितीयार्ध में लिखा। इस पुस्तक में भारतीय तट से भ्वोज़हारमोज़ के भ्रमण का मनोरंजक वर्णन अंकित है।

इस युग की एक महत्वपूर्ण कृति "एरीथियन समुद्र का पेरीप्लस" है। इसके लेखक का नाम अज्ञात है। इस कृति में लेखक ने लाल समुद्र, अरब और पश्चिमी भारत का आंखों देखा वर्णन किया है। इन भूगोलों में सब से अन्तिम कृति टालेमी की है। टालेमी ईसा की दूसरी सदी में हुआ था। उसका ग्रन्थ भौगोलिक होने की अपेक्षा गणित सम्बन्धी अधिक हैं।

भारतवर्ष से दूत मण्डल—कहा जाता है कि रोमन सम्राट्-ओगस्टस के राज्यारोहण के समय भारतवर्ष के एक राजा ने भी अपना दूत मण्डल रोमन दरबार में भेजा था। सम्भवतः इसे प्रथम कुशान राजा ने भेजा होगा। यह मण्डली भृगुकच्छ से जहाज़ पर सवार हुई। ये लोग चार वर्ष के बाद रोम पहुँचे। सम्भवतः इस देरी का कारण यह था कि इस मण्डल के पास बड़े बोझल उपहार थे। वे बब्बर शेर, मगरमच्छ, अजगर आदि जीवित पशु भी अपने साथ ले जा रहे थे। उनकी सामुद्रिक यात्रा तो अवश्य ही एक वर्ष के अन्दर-अन्दर समाप्त हो गई होगी। इसी तरह

की अन्य दूत मण्डलियों के वृत्तान्त भी उपलब्ध होते हैं।

मौनसूनी हवाओं का अन्वेषण—ईसा की प्रथम शताब्दी में, क्लाडियस के शासनकाल के दिनों में, हिप्पालस (Hippalus) नाम के एक सामुद्रिक कप्तान ने मौनसूनी हवाओं का महत्त्वपूर्ण अन्वेषण किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इन हवाओं की सहायता से अलैक्ज़ैण्ड्रिया से लेकर भारतवर्ष तक की यात्रा करीब दो ही महीनों में समाप्त करली जाने लगी! एक समय था जब स्काइलाक्स (Skylax) को स्वेज़ से भारतवर्ष तक आने में २½ वर्षों का समय लगा था।

पश्चिमी भारत के सामुद्रिक तट—पैरीप्लस के लेखक ने भारतवर्ष के उन बन्दरगाहों का बड़ा मनोरञ्जक वर्णन किया है जिन्हें उसने स्वयं देखा था। इनका पहला बन्दरगाह सिन्ध नदी के बीच के दहाने पर था। ग्रीक लेखक उसे बारबरीकन (Barbarikan) कहते थे। वह सिन्ध की राजधानी मीननगर (सम्भवत: पाटल) को समुद्र के साथ मिलाता था। सिन्ध के बन्दरगाहों से बाहर जाने वाली चीज़ों में हीरे, नील, खालें, चीनी रेशम और काश्मीर की सुगन्धित औषधी कुष्ठ प्रमुख थीं। इसके बाद भारतवर्ष का प्रसिद्ध बन्दरगाह भृगुकच्छ आता था। यह वर्तमान भड़ोच में नर्मदा की अन्तरीप पर था। पैरीप्लस के लेखक को भृगुकच्छ में मीनाण्डर के सिक्के प्रचलित दिखाई दिये। उथली ज़मीन और ज्वारभाटों के कारण इस बन्दरगाह में जाना सुगम नहीं था। उस लेखक ने सुराष्ट्र के तत्कालीन राजा का जो नाम लिखा है, वह नाहपन से मिलाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त दक्षिण के अन्य प्रसिद्ध बन्दरगाह तेर (तग्ग), सुपारा, पैठान और कल्याण थे।

पैरीप्लस के लेखक ने दक्षिण के कतिपय अन्य बन्दरगाहों तथा तामिल मार्गों का वर्णन भी किया है। केलरपुत्र के प्रमुख बन्दरगाह मुज़िरिस पर उसके रद्दी लङ्गरों के कारण यात्री नहीं जाते थे। कोचीन का नेलकुण्डा (नीलकण्ठ) उन दिनों काली मिरचों के व्यापार के कारण भारतवर्ष भर में प्रसिद्ध था। मानसून के आविष्कार के बाद यह बन्दरगाह भारवर्ष का सब से बड़ा बन्दरगाह बन गया और इसकी महत्ता भृगुकच्छ से भी बढ़ गई। इस बात के भी यथेष्ट प्रमाण हैं कि पश्चिमी भारत के इन बन्दरगाहों के निकट यूनानियों के बाक़ायदा उपनिवेश-से बस गये थे।

पैरीप्लस में भारत के पूर्वीय समुद्रतट के बन्दरगाहों का भी वर्णन है, यद्यपि उसका लेखक तामिल के पार नहीं गया। कोरोमण्डल समुद्रतट के प्रमुख बन्दरगाह कमारा, जो कावेरी के दहाने पर था, पाडुका (वर्तमान पाण्डीचरी) और सोप्तमा (सुपत्तन) थे। इन सब का व्यापार, विशेष कर गङ्गा नदी की घाटी में उत्पन्न पदार्थों, मलमल और मोतियों की बड़ी निर्यात के कारण उन्नत दशा में था। बङ्गाल के जहाज़ इन बन्दरगाहों पर प्रायः आते जाते थे। मुसलीपटम जिले के मसालिया बन्दरगाह से मलमल बड़े परिमाण में बाहर जाता था और उड़ीसा के दर्शन नामक स्थान से हाथी दांत का सामान। ताम्रलिप्ति का बन्दरगाह गङ्गा के दहाने पर अवस्थित था।

प्राचीन भारत और पश्चिम

हम इस अध्याय में जिस युग का अनुशीलन कर रहे हैं, उससे करीब ८०० वर्ष पहले, अर्थात् देरियस के ज़माने में भी, भारतवर्ष और पश्चिम में सम्बन्ध क़ायम था। भारत और

पश्चिम की संस्कृतियों पर इस सम्बन्ध का क्या प्रभाव पड़ा, यह बात अध्ययन का एक मनोरंजक विषय है। विद्वानों में इस प्रश्न की चरचा बहुत समय से है और इस सम्बन्ध में उनमें परस्पर भारी मतभेद भी हैं।

सिकन्दर से पहले पश्चिम से सम्बन्ध—सिकन्दर से पहले भारतवर्ष और यूनान में परोक्ष सम्बन्ध ही था। अतः इस सिद्धान्त पर विश्वास कर सकना उतना आसान नहीं कि पैथागोरस ने अपने दर्शन के अधारभूत सिद्धान्त भारतीय दर्शनों से लिए, यद्यपि उन दोनों में पर्याप्त समानता अवश्य हैं। दोनों पुनर्जन्म को मानते हैं; दोनों शराब और माँस के विरुद्ध हैं, इत्यादि। यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व तक ग्रीस और भारतवर्ष एक दूसरे के साहित्य से सर्वथा अनभिज्ञ रहे हों और उन पर एक दूसरे का कोई प्रभाव न पड़ा हो। दोनों देशों के व्यापारिक सम्बन्ध निस्संदेह बहुत प्राचीन थे। परन्तु सम्भव है कि इन व्यापारिक सम्बन्धों का प्रभाव उनकी संस्कृति पर न पड़ा हो। व्यापारिक पदार्थों को एक देश से दूसरे देश में लेजानेवाले व्यापारी मार्ग में बदलते जाते थे। अतः व्यापार सीधा नहीं होता था। जो व्यापारी सीधा अन्य देशों में जाते थे, वे भी व्यापार के अतिरिक्त अन्य बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे। यदि उस युग में भारतवर्ष की संस्कृति पर किसी विदेशी संस्कृति का प्रभाव पड़ा तो वह फ़ारस की संस्कृति का था। फ़ारस और भारतवर्ष का सम्बन्ध दो सदियों से कायम था।

मौर्यकाल—यद्यपि सिकन्दर के आक्रमण से भी भारतवर्ष की संस्कृति पर यूनानी संस्कृति का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तथापि

उसका यह प्रभाव अवश्य हुआ कि दोनों देशों में पारस्परिक सम्बन्ध उत्पन्न हो गया। बैक्ट्रिया में एक ग्रीक उपनिवेश बस गया और सीरिया के यूनानी राजा के साथ भारत साम्राज्य के गहरे सम्बन्ध उत्पन्न हो गए। जिस यूनानी संस्कृति ने सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया और सभ्य मिश्रदेश को भी अपने रंग में रंग दिया था, वह यूनानी संस्कृति, पाटलिपुत्र के राजमहलों में यूनान देश की साम्राज्ञी के निवास करते हुए भी और मौर्य सम्राट् का यूनानी राज्यों से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित रहने पर भी, इस देश में आकर निस्तेज हो गई। मैगस्थनीज़ के वृत्तान्तों से भारतवर्ष पर यूनानी सभ्यता का इंच भर भी प्रभाव प्रतीत नहीं होता। अशोक ने अपने भवनों में पत्थर का इस्तेमाल करने की बात सम्भवतः पर्शियन अथवा यूनानी संसर्ग से सीखी।

धर्म और संस्कृति—मौर्य्य साम्राज्य के विनाश के बाद, कुशान काल में जब अनेक यूनानी राजा पंजाब के हिस्सों पर राज्य करने लगे, तब भारतवर्ष और पश्चिम में और भी अधिक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो गया। अनेक भारती-यूनानी सिक्कों से प्रतीत होता है कि ये यूनानी शासक बड़ी शीघ्रता ने भारतीय संस्कृति के रङ्ग में रङ्गे जा रहे थे। उनमें से हेलिओडोरस के समान कुछ तो हिन्दू धर्म में दीक्षित हो गए और मीनान्डर के समान कतिपय राजा बौद्ध हो गए। यहाँ तक कि उन्होंने हिन्दू नामों को भी अपना लिया। तब उनमें और भारतीय हिन्दुओं में कोई भेद नहीं रह गया। स्मिथ के अनुसार उस युग के ब्राह्मणों में इतनी शक्ति थी और वे इतने सतर्क रहते थे कि वे किसी विदेशी प्रभाव से भारतीय संस्कृति को प्रभावित नहीं

होने देते थे। यदि उन दिनों कभी भारतीय धर्म पर कोई विदेशी प्रभाव पड़ा भी, तो वह कुछ अंश तक बौद्ध धर्म पर ही। स्मिथ का कथन है कि "उन दिनों भारती-यूनानी राजा ही हिन्दू धर्म के प्रभाव में आते चले जा रहे थे, हिन्दू राजाओं पर यूनानी संस्कृति का प्रभाव नहीं पड़ रहा था।"

कुशानकाल में कई तरह से भारतवर्ष पर यूनानी संस्कृति का प्रभाव पड़ा भी था। कुशान राजाओं ने एशिया माइनर से अनेक यूनानी शिल्पियों को इस देश में बुलाया। पेशावर के एक प्राचीन लेख में कनिष्क के विहारों के निरीक्षक का नाम आगेसिलाओस (Agesilaos) लिखा है। इस तरह उत्तर-पश्चिमी भारत की कला पर यूनानी-रोमन कला का प्रभाव पड़ना शुरु हुआ और अनेक सदियों तक यह प्रभाव बना रहा। तीसरी सदी ईसवी में फ़ारस में ससानियां वंश के उदय के बाद, भारतवर्ष और यूनान में सिवाय समुद्र के व्यापारिक सम्बन्धों के, अन्य कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था।

यूनान और भारतवर्ष का जो सम्बन्ध इन अनेक सदियों में बना रहा, उसके प्रभावों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है।

कला—भारतीय कला पर जो यूनानी प्रभाव पड़ा, वह गांधार पद्धति से ज्ञात हो सकता है। इसे यूनानी-बौद्ध पद्धति भी कहा जा सकता है। इस पद्धति में बौद्ध भावना को यूनानी जामा पहना कर नए रूप में खड़ा किया गया। कनिष्क और उसके वंशजों के समय मे इसी पद्धति के अनुसार बौद्ध संस्कृति और महात्मा बुद्ध के जीवन सम्बन्धी सच्ची या कल्पित

घटनाओं के आधार पर लाखों करोड़ों प्रस्तर मूर्त्तियां घड़ी गई। रॉलिन्सन का कथन है कि "गांधार पद्धति की कड़ी आलोचना करना आजकल के ऐतिहासिकों का फैशन बन गया है। यह नामुनासिब है। इसमें सन्देह नहीं कि गांधार पद्धति की मूर्त्तियों में वह भव्यता और सुन्दरता नहीं, जो गुप्तकाल की मूर्त्तियों में पाई जाती है, तथापि उनमें से बहुत-सी मूर्त्तियों को आकर्षण और कला से शून्य कदापि नहीं कहा जा सकता। वे महात्मा बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं की सुन्दर टीका हैं।"

सिक्के—यह कहा जा सकता है कि सुन्दर सिक्के बनाने का ढंग भारतवर्ष ने पश्चिम से सीखा। उससे पूर्व भारतीय अपने सिक्कों को सुडौल और सुन्दर बनाने की ओर बहुत कम ध्यान देते थे। दक्षिण में तो रोमन सिक्के तक भी चालू होगए थे।

साहित्य—यह कहा जाता था कि यदि भारतीय दर्शन नहीं तो नाटक साहित्य को तो अवश्य ही यूनान का ऋणी होना चाहिये। परन्तु वास्तव में यूनानी और भारतीय नाटक कला में भेद इतने अधिक हैं और समानता इतनी कम है कि अब वह सिद्धान्त बिलकुल अस्वीकार कर दिया गया है। कुछ लोगों ने यह दावा भी पेश किया है कि कनिष्क के राजवैद्य चरक के आयुर्वेद ग्रन्थ और यूनानी चिकित्सा ग्रन्थों में समानता है, परन्तु प्रमाणों के नितान्त अभाव से यह पक्ष भी ठहर नहीं सकता।

भारतवर्ष की अनेक कहानियां प्राचीन काल में भी अरब की राह से होकर यूरोप के देशों में जाती रही हैं। इनमें पञ्चतन्त्र विशेष महत्वपूर्ण है।

ज्योतिष—भारतीय ज्योतिषियों ने ज्योतिष विद्या की अनेक बातें निस्सन्देह यूनानी ग्रन्थों से लीं। गर्ग संहिता में लिखा है कि 'यद्यपि यवन (ग्रीक) लोग असभ्य हैं, तथापि ज्योतिष विद्या का प्रादुर्भाव उन्हीं लोगों में हुआ, अतः इस दृष्टि से उनकी पूजा देवताओं के समान करनी चाहिए। इस विषय के भारतीय ग्रन्थों में तारों के अनेक ग्रीक नाम भी उपलब्ध होते हैं। एक ज्योतिष कृति 'रोमक सिद्धान्त' नाम की भी है और वहां 'रोमक' को एक प्रसिद्ध नगर लिखा है। एक और कृति का नाम 'पौलिश सिद्धान्त' है। यह नाम सम्भवतः चौथी सदी ईसवी के अलेक्जैण्ड्रिया वाले पाल (Paul) के किसी ज्योतिष ग्रन्थ के आधार पर रक्खा गया होगा। बाद में जाकर गणित और ज्योतिष शास्त्र इस देश में इतने उन्नत हो गए कि अरब के माध्यम द्वारा यूरोप ने इन दोनों विद्याओं के सम्बन्ध में भारतवर्ष से बहुत कुछ सीखा।

दर्शन एलैक्ज़ण्ड्रिया के नव-प्लेटोनिक स्कूल (Neo-Platonic school) में मांस और शराब का निषेध है, वहाँ तपस्या की भावना भी विद्यमान है और योग की सिद्धियों की ओर भी उसकी प्रवृत्ति प्रतीत होती है। इन तथ्यों से यह ज्ञात होता है कि सम्भवतः उस पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव होगा। यह प्रभाव किस तरह पड़ा। इसका समन्वय करना भी कठिन नहीं है। उन दिनों भारतवर्ष और अलैक्ज़ण्ड्रिया में पारस्परिक आवागमन प्रायः होता रहता था। पश्चिम के मैनीशीज़्म (Manicheism) में बौद्ध और हिन्दू विचारों का विचित्र मिश्रण है। ग्नौस्टिसिज़्म (Gnosticism) पर भी हिन्दू प्रभाव दिखाई देता है। स्वर्गों की अनेकता का भाव हिन्दू दर्शन में भी

है और त्रिगुण का सिद्धान्त सांख्य के त्रिगुणों के आधार पर प्रतीत होता है।

हम एक स्थान पर पहले भी कह चुके हैं कि कृष्ण की गीता और ईसाइयत के उपदेशों में समानता सिद्ध करने का प्रयत्न निराधार प्रतीत होता है। वैसे ईसाइयत के अनेक कैथोलिक रीति रिवाज तिब्बत के लामाई-रीतिरिवाजों से मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं। सम्भवत: यह फ़ारस की राह तिब्बत पर ईसाइयत का प्रभाव हो।

बौद्ध धर्म और ईसाइयत--संसार के इन दोनों महान् धर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों की चरचा प्राय: हुआ करती है। दोनों की प्राचीन कथाओं में जो समानता है, उसे प्राय: बढ़ाकर दिखाया जाता है। एक का दूसरे पर कुछ ऋण है, यह सिद्ध करना तो कठिन है, परन्तु दोनों पर एक दूसरे का प्रभाव अवश्य दिखाई देता है। उदाहरण के लिये बौद्ध साहित्य में जो असित,बालक बुद्ध को देख कर उसके महान् पुरुष होने की भविष्यवाणी करता है, उस असित की कथा बाइबल के 'ल्यूक के उपदेश' वाले साइमन से बिलकुल मिलती है। तथापि इस बात को सिद्ध करने के लिए अभीष्ट प्रमाण नहीं मिलते कि ईसाइयत ने बौद्ध धर्म से बहुत कुछ लिया। यद्यपि यह कल्पना बहुत युक्तियुक्त प्रतीत होती है कि महान् सिकन्दर के आक्रमण के बाद, पूर्व और पश्चिम में सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर, बौद्ध धर्म के आदर्शों का प्रभाव ईसाइयत पर अवश्य ही पड़ा होगा।

जोसेफ़ (Joaasaph) बर्लाम (Barlaam) की पुस्तक—इस समय के बहुत काल बाद जाकर बौद्ध कहानियों के यूरोप में जाने के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। मध्ययुग में जोसेफ़ और बर्लाम की

पुस्तक यूरोप भर में अत्यधिक सर्वप्रिय थी। इस पुस्तक का लेखक एक ईसाई साधु था, जिसने भारतीय स्रोतों से, सम्भवतः ललित विस्तर में से, बौद्ध कथाओं का अध्ययन किया था। विण्टरनीज का कथन है कि 'ईसाइयत का यह कथाग्रन्थ स्पष्टरूप से बौद्ध कथाओं के आधार पर लिखा गया है। इस पुस्तक की अनेक कथाएँ, भारतीय गाथा ग्रन्थों में पाई जाती हैं।' सम्भवतः उपर्युक्त पुस्तक सब से पूर्व, छठी सदी ईसवी में पैहलवी भाषा से लिखी गई होगी, उसके बाद अरबी, असीरियन, ग्रीक, लेटिन तथा अन्य यूरोपियन भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ होगा। ईसाइयत का सन्त जोसेफ़ वास्तव में बोधिसत्व ही है।

महात्मा बुद्ध की जीवन सम्बन्धी कथाओं ने यूरोप को बेतरह अपनी ओर आकृष्ट किया। आर्नोल्ड नाम के एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ कवि ने उन्नीसवीं सदी के अन्त में 'एशिया का प्रकाश' (Light of Asia) नामक एक सुन्दर काव्य लिखा, जिसमें महात्मा बुद्ध का जीवन वृत्तान्त वर्णित है। यह पुस्तक यूरोप में इतनी सर्वप्रिय हुई कि इस के ६० संस्करण इङ्गलैण्ड में और १०० से अधिक संस्करण अमेरिका में हुए। प्रसिद्ध डेनिश कवि कार्लजेलेरप ने अपना 'पिलग्रिम कामनीता' नामक प्रसिद्ध उपन्यास बौद्ध आदर्शों से आकृष्ट होकर ही लिखा। बौद्ध आदर्श और विचारों का पश्चिम की संस्कृति पर आज तक गहरा प्रभाव विद्यमान है।

दसवां अध्याय

भारतवर्ष का सुवर्ण युग

गुप्तवंश का प्रादुर्भाव

गुप्तों का उदय—ईसा की तीसरी शताब्दी के भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कम तथ्य ज्ञात हैं। चौथी सदी के प्रारम्भ में पाटलिपुत्र पुनः भारतवर्ष की राजनीतिक शक्ति का केन्द्र बन गया। चन्द्रगुप्त नाम के मगध के एक मामूली से राजा ने गुप्तवंश को शक्तिशाली बना दिया। इस गुप्तवंश का वास्तविक प्रारम्भ किस तरह हुआ, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आन्ध्र राजाओं के राजपत्रों में राजकर्मचारियों के रूप ने कुछ गुप्तों का उल्लेख है—यथा शिवगुप्त, शिवखण्ड-गुप्त आदि। सातवीं सदी में इत्सिङ्ग नामक जो प्रसिद्ध चीनी यात्री भारतवर्ष में आया, उसने अपने लेखों में श्रीगुप्त नाम के एक राजा का ज़िक्र किया है, जो दूसरी शताब्दी के अन्तिम भाग में मगध पर राज्य करता था। मुमकिन है कि यही श्रीगुप्त गुप्त वंश का प्रथम राजा हो। यह भी सम्भव है कि इस श्रीगुप्त की गणना पुराणों के उस श्री-पार्वतीय राजवंश में हो, जिसके सम्बन्ध

में वहाँ लिखा है कि आन्ध्रवंश के बाद भारतवर्ष के विभिन्न राजवंशों में एक श्री-पार्वतीय राजवंश भी था, इसके सात राजाओं ने २५० वर्ष राज्य किया। इससे यह भी प्रतीत होता है कि इन पार्वतीय राजाओं का सम्बन्ध नैपाल से भी होगा और उधर के शक्तिशाली लिच्छवियों से उनका मित्रता का सम्बन्ध रहा होगा।

चन्द्रगुप्त—गुप्तवंश के प्रथम दो राजाओं, गुप्त और घटोत्कच गुप्त के सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। इस वंश का पहला शक्तिशाली राजा चन्द्रगुप्त प्रथम था, जो ३२० ईसवी में राजगद्दी पर बैठा। लिच्छवियों के प्राचीन राजवंश में विवाह का सम्बन्ध स्थापित करके चन्द्रगुप्त ने अपनी शक्ति बढ़ाली। चन्द्रगुप्त के इस विवाह का प्रमाण उन अनेक सिक्कों से मिलता है, जिन पर उसके साथ साथ लिच्छवी रानी कुमारदेवी का भी चित्र अंकित है। निस्संदेह इस विवाह से गुप्तवंश की शक्ति बहुत बढ़ गई। सम्राट समुद्रगुप्त बड़े अभिमान के साथ अपने को लिच्छवी वंश का दौहित्र कहा करता था।

चन्द्रगुप्त ने अपना राज्य प्रयाग तक बढ़ा लिया। वह अपने को आर्य्यावर्त का सम्राट् कहने लगा। उसने अपने नाम से एक सम्वत् भी जारी किया, यह गुप्तसम्वत् उत्तरीय भारतवर्ष में अनेक सदियों तक प्रचलित रहा। गुप्तवंश को भारतवर्ष की प्रधान शक्तियों में लाने का श्रेय चन्द्रगुप्त प्रथम को ही है।

समुद्रगुप्त (३२६ से ३७५ ईसवी)—चन्द्रगुप्त प्रथम का पुत्र समुद्रगुप्त गुप्तवंश का सब से अधिक प्रसिद्ध सम्राट् हुआ है। उसने करीब आधी शताब्दी तक इस देश पर राज्य किया। भारतीय इतिहास के सब से अधिक शक्तिशाली राजाओं में सम्राट् समुद्रगुप्त

की भी गणना है। शान्ति के दूत अशोक के मुकाबले में समुद्रगुप्त युद्ध और विजय का दूत था। अशोक को युद्ध करके विजय प्राप्त करने से घृणा थी और समुद्रगुप्त को उससे प्रेम था। युवावस्था से ही समुद्रगुप्त की महत्वाकांक्षा थी कि वह भारतवर्ष का चक्रवर्ती सम्राट् बने। राज्यारोहण करते ही उसने अपने दिग्विजय के कार्यक्रम के अनुसार कार्य शुरु कर दिया। ऐतिहासिकोंने समुद्रगुप्त को 'भारतीय नैपोलियन' का खिताब दिया है।

अलाहाबाद की प्रशस्ति—अलाहाबाद में अशोक ने जो स्तम्भ लगवाया था, उसी पर सम्राट् समुद्रगुप्त के राजकवि हरिषेण द्वारा विरचित एक प्रशस्ति और भी खुदवा दी गई। इस प्रशस्ति द्वारा हमें समुद्रगुप्त के समय की अनेक प्रमुख राजनीतिक घटनाओं का परिचय मिलता है। प्राचीन भारतवर्ष के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से यह प्रशस्ति बहुत महत्वपूर्ण है। इस प्रशस्ति से हमें समुद्रगुप्त की विजयों के वृत्तान्त के अतिरिक्त उसके महान् व्यक्तित्व का भी परिचय मिलता है। इसके द्वारा हम चौथी सदी के भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थियों का अन्दाज़ा भी लगा सकते हैं। साहित्यिक दृष्टि से, इस प्रशस्ति द्वारा हमें ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त के समय में संस्कृत भाषा बड़ी उन्नत दशा में थी। रुद्रदामन (दूसरी सदी) के समय से भी इन दिनों की संस्कृत भाषा अधिक परिष्कृत हो चुकी थी। यह प्रशस्ति आधी तो गद्य में है और आधी पद्य में। पद्य भाग में राजकवि हरिषेण ने वैदर्भी शैली का अनुसरण किया है, जो सुगम और स्पष्ट होती है। तथापि गद्य भाग में लम्बे-लम्बे समास हैं, इनमें से एक समास १२० अक्षरों का है। प्रत्येक दृष्टि से यह प्रशस्ति

अत्यधिक महत्वपूर्ण है और इससे गुप्तवंश का इतिहास लिखने में बड़ी सहायता मिली है।

समुद्रगुप्त की विजययात्राएं—अलाहाबाद की प्रशस्ति के आधार पर समुद्रगुप्त की बड़ी-बड़ी विजययात्राओं का संक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है। सब से पूर्व उसने आर्यावर्त्त के अनेक राजाओं का नाश करके उनका राज्य अपने राज्य में मिला लिया। प्रशस्ति में उनमें से ६ राजाओं के नाम भी दिए गए हैं। ये राज्य गुप्त साम्राज्य के आन्तरिक भाग बन गए। इनके बाद उसने मध्य भारत की जंगली जातियों को भी अपने अधीन कर लिया।

तदनन्तर उसने दक्षिण की ओर विजययात्रा की। इस यात्रा में उसने दक्षिण के अधिकांश राजाओं को अपने अधीन कर लिया। समुद्रगुप्त ने जिस प्रकार स्कीम बना कर शीघ्र ही दक्षिण के अधिकांश भाग को अपने अधिकार में कर लिया, वह प्रचीन भारत के इतिहास में एक निराली ही चीज़ है। समुद्रगुप्त ने वर्तमान मद्रास के निकट, कांची के पल्लव राजा को भी हराया था। इसके बाद वह पश्चिम की ओर बढ़ा और खानदेश को विजय करते हुए पाटलिपुत्र को लौटा। स्मिथ के अनुसार समुद्रगुप्त की इस विजययात्रा में दो या तीन वर्षों का समय लगा होगा।

प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त इस बात को समझता था कि सुदूर दक्षिण को अपनी सीधी अध्यक्षता में नहीं रक्खा जा सकता। अतः दक्षिण के अधीनस्थ राजाओं से कर लेकर ही वह सन्तुष्ट हो गया।

समुद्रगुप्त की इस महान् विजय शक्ति को देखकर भारतवर्ष के अनेक राजाओं ने स्वयं ही उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

कामरूप (आसाम), समतट (ब्रह्मपुत्र का अन्तरीप), डावक (पूर्वीय बंगाल), नैपाल, कर्तृपुर (या तो पंजाब का कर्तारपुर अथवा कुमायूं और गढ़वाल), मालवा, यौधेय आदि गणराज्य भी इन्हीं, स्वयं अधीनता स्वीकार कर लेने वाले राज्यों में थे।

प्रभाव का क्षेत्र – समुद्रगुप्त के प्रभाव का क्षेत्र इस से भी अधिक विस्तृत था। भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के विदेशी शासक, शक, मुरुण्ड आदि तथा लंका का राजा—ये सभी सम्राट् समुद्रगुप्त से मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उत्सुक थे। ये लोग पाटलिपुत्र में अनेक उपहार भी भेजा करते थे। इस तरह समुद्रगुप्त की मित्रता का क्षेत्र अक्षु से लंका तक व्याप्त था। चीनी इतिवृत्त से ज्ञात होता है कि लंका के राजा मेघवर्ण (३५२-३७६ ईसवी) ने एक दूत मण्डली के द्वारा अनेक बहुमूल्य उपहार सम्राट् समुद्रगुप्त की सेवा में भेजे थे और गया तीर्थ में अपनी ओर से एक बौद्ध मठ बनवाने की आज्ञा मांगी थी। मेघवर्ण ने गुप्त सम्राट् से यह आज्ञा भी मांगी थी कि लंका के लोग भारतवर्ष के तीर्थों की यात्रा कर सकें।

अश्वमेध—शीघ्र ही समुद्रगुप्त सम्पूर्ण भारतवर्ष का सम्राट् बन गया। तब उसने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। पुष्यमित्र के बाद किसी राजा ने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया था। इस अवसर पर समुद्रगुप्त ने सोने के पदक भी बनवाये थे। तत्कालीन सिक्कों में से अनेक आज भी उपलब्ध होते हैं। लखनऊ के म्यूज़ियम की पत्थर की अश्वमूर्ति भी सम्भवतः सम्राट् समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ का चिन्ह है। प्रतीत होता है कि उन दिनों सम्पूर्ण भारत-साम्राज्य में समुद्रगुप्त के इस अश्वमेध की बड़ी

चरचा हुई होगी, क्यों कि भारतीय साहित्य में जहां भी समुद्रगुप्त का नाम उपलब्ध होता है, वहां उस के अश्वमेध का वर्णन भी अवश्य मिलता है।

समुद्र गुप्त का व्यक्तित्व—समुद्रगुप्त की प्रतिभा केवल युद्ध-क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं थी, वह शान्तिकाल के लिए भी एक बहुत सफल शासक था। उसके समय के जो सिक्के उपलब्ध हुए हैं, उन से उसकी विभिन्न विशेषताओं का परिचय मिलता है। किसी सिक्के में वह काउच पर बैठ कर भारतीय सितार बजा रहा है। एक सिक्के में वह शेर से लड़ता हुआ दिखाई देता है। कुछ सिक्कों पर युद्ध की कुल्हाड़ियां अंकित हैं, ये उस की विजय यात्राओं के चिन्ह हैं। अलाहाबाद की प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के वैयक्तिक गुणों का भी विशद वर्णन है। वह एक महान् साहित्यिक और कवि था। अपनी प्रजा में वह कविराज नाम से भी प्रसिद्ध था।

यह भी कल्पना की जा सकती है कि सम्भवतः इस प्रशस्ति में हरिषेण ने राजभक्ति के वश में आकर कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया हो। परन्तु वास्तव में इस प्रशस्ति की शैली इतनी निश्चित और ऐतिहासिक है कि उस में अतिशयोक्ति ज़रा भी प्रतीत नहीं होती। समुद्रगुप्त का महान् व्यक्तित्व और उसका व्यापक प्रभाव इस प्रशस्ति के आविष्कार से पहले अज्ञात था। उस की महत्ता को सिद्ध करने के लिए इस प्रशस्ति के अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों की भी कमी नहीं है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य'—सन् ३७५ में समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय पाटलिपुत्र के इस द्वितीय मागध साम्राज्य

का अधीश्वर नियुक्त हुआ। उसने अपने नाम के पीछे विक्रमादित्य का खिताब लगाना शुरू किया। वह भी एक अत्यन्त सफल और शक्तिशाली सम्राट था। उस के शासनकाल में सम्पूर्ण भारतवर्ष शान्ति और सुख की नींद सोता था। अनेक विद्वानों की राय में कालिदास इसी चन्द्रगुप्त का राजकवि था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ४० वर्षों तक राज्य किया। उस के समय की सब से बड़ी राजनीतिक घटना पश्चिमी भारतवर्ष की विजय है। चौथी सदी के अन्त में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जैन के शक राजवंश का नाश कर दिया। इस राजवंश की स्थापना रुद्रदामन ने की थी। इस तरह मालवा, गुजरात और काठियावाढ़ के जो प्रदेश सदियों तक विदेशी शासन की अधीनता में रहे थे,वे भी अब गुप्त साम्राज्य का भाग बन गए। शक राज्य पर यह भारी आक्रमण करने से पूर्व, अपनी शक्ति को दृढ़ बनाने के लिए चन्द्रगुप्त द्वितीय ने, सम्भवतः मध्य भारत के उदीयमान वाकाटक राजवंश से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करलिया था। उज्जैन और पश्चिमी प्रदेशों की विजय से न केवल गुप्त-साम्राज्य का विस्तार ही खूब बढ़ गया, अपितु उस की आय में भी बड़ी अभिवृद्धि हो गई। पश्चिमी तट के समृद्धिशाली बन्दरगाह भी अब गुप्त साम्राज्य की सीमा में आ गए। साथ ही भारतवर्ष में से विदेशी राजवंशों का सर्वथा नाश हो जाने के कारण, गुप्त साम्राज्य के युग में, भारतवर्ष में राष्ट्रीय जागृति और कला के एक नए युग का प्रारम्भ हो गया।

फाहियान (*Fa-hien*)—चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में फाहियान नाम का प्रसिद्ध चीनी यात्री भारतवर्ष में आया और उस ने अपनी इस यात्रा का जो वृत्तान्त लिखा, वह आज भी प्राप्त

होता है। फाहियान प्रथम चीनी यात्री था। उसने सन् ३६६ से ४१४ तक सम्पूर्ण उत्तरीय भारत की यात्रा की। उसकी यात्रा का उद्देश्य प्रामाणिक बौद्ध धर्मग्रन्थों को एकत्र करना था। इस साहसिक यात्री ने मार्ग में अनेक भयंकर विपत्तियों का सामना किया। चीन से तक्षशिला पहुँचने में उसे ६ साल लगे। राह में उसने गोबी के रेगिस्तान और खोतन को भी पार किया। खोतन उन दिनों पूर्णतः बौद्ध था। उसके बाद पामीर को पार करके उद्यान और स्वात की राह से वह भारतवर्ष में आ पहुँचा। उसने गान्धार और मगध के प्रसिद्ध बौद्ध तीर्थों की यात्रा की। इसके बाद उस ने ३ वर्षों तक पाटलिपुत्र में और दो वर्षों तक पूर्वीय भारत के प्रसिद्ध बन्दरगाह ताम्रलिप्ति में बौद्ध धर्म का स्वाध्याय किया। इसके बाद लंका और जावा होते हुए वह स्वदेश को लौट गया।

फाहियान की यात्रा का वृत्तान्त—प्रतीत होता है कि फाहियान अपने धार्मिक स्वाध्याय में इतना अधिक निमग्न रहता था कि उस ने इस देश की राजनीतिक परिस्थितियों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, यहाँ तक कि जिस गुप्त सम्राट् के राज्य में उसने ६ वर्ष काटे, उसका नाम तक भी उसने अपने यात्रा वृत्तान्त में नहीं दिया। तथापि उसके वृत्तान्तों से सर्वसाधारण भारतीय जनता की तत्कालीन दशा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अपने लेखों में प्रसंगवश उसने भारतवर्ष के जो हालात दिये हैं, उन से भारतीय जीवन और संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ जाना जा सकता है।

पाटलिपुत्र—प्रतीत होता है कि इस समय तक पाटलिपुत्र की राजनीतिक महत्ता काफ़ी कम हो गई थी और गुप्त सम्राट

अयोध्या को अधिक अपनाते चले जा रहे थे । तथापि इस समय तक पाटलिपुत्र एक सम्पन्न नगर था। पाटलिपुत्र में एक बहुत बड़ा हस्पताल था, जो जनता के चन्दे पर चलता था । इसके अतिरिक्त वहाँ दो बौद्ध मठ भी थे, जो बौद्ध विद्या और संस्कृति के केन्द्र बने हुए थे । फाहियान ने भी अशोककालीन राज-प्रासादों की विशालता, सुन्दरता और उनकी सजावट की प्रशंसा की है।

बौद्ध धर्म का केन्द्र—मथुरा उत्तरीय भारत का एक बड़ा महत्वपूर्ण नगर था। वह बौद्ध धर्म की शिक्षा का महान् केन्द्र था। हीनयान और महायान, इन दोनों सम्प्रदायों के बौद्ध मथुरा में बड़ी शान्ति और प्रेम के साथ रहते थे, उनमें परस्पर वैमनस्य के भाव नहीं थे । बौद्ध धर्म के अनेक प्रमुख स्थान अब तक नष्ट भ्रष्ट हो चुके थे । गया और कपिलवास्तु बिलकुल उजड़ गये थे और श्रावस्ती एक छोटे-से गाँव के रूप में बच रहा था। मगध, कोशल और मथुरा के आसपास के प्रान्त अब बौद्ध धर्म का केन्द्र बने हुए थे। देश के सभी हिस्सों में अभी तक सुन्दर आकार के बौद्ध मठ काफ़ी बड़ी संख्या में बने हुए थे । इस युग के भिक्षु अपनी विद्या और तपस्यामय जीवन के लिए विशेष प्रसिद्ध थे। विद्या अभी तक कण्ठस्थ ही की जाती थी।

सरकार—सरकारी नियन्त्रण उतना कड़ा न था । कर भी हलके थे। राजकीय आय का अधिकांश भाग सरकारी भूमियों के भूमिकर से आता था। मौर्यकाल की अपेक्षा गुप्तकाल का दण्ड-विधान भी बहुत नरम था। फाँसी किसी को नहीं दी जाती थी। आवागमन ख़तरे से रहित था । फाँसी की सज़ा अज्ञात थी, इस

का अभिप्राय है कि उस युग में गुप्त सम्राटों का शासन इतना प्रभावशाली होगा कि फांसी की सज़ा देने की आवश्यकता ही नहीं रही होगी।

जनता की साधारण दशा—भारतीय जनता तब समझदार और सम्पन्न थी। वर्णव्यवस्था के बन्धन कठोर हो गये थे। बौद्ध शिक्षाओं के प्रभाव से अहिंसा का सिद्धान्त हिन्दू धर्म के आधार भूत सिद्धान्तों में आ गया था। कुछ अंश तक अछूतपन भी शुरू हो गया था। चाण्डाल लोग जब किसी नगर में जाते थे तो अपने हाथ में लकड़ी का एक टुकड़ा ले लेते थे, ताकि अन्य व्यक्ति उन से छूकर भ्रष्ट न हो जाँए। चाण्डालों को शहर से बाहर रहने के लिये बाधित किया जाता था।

सब मिला कर भारतवर्ष के इतिहास में गुप्त सम्राटों के शासनकाल का युग असाधारण तौर से सम्पन्नता का युग था। सरकार यद्यपि मज़बूत और स्थिर थी, तथापि उसका शासन कोमलतापूर्ण था। अत्याचार किसी पर नहीं किया जाता था। सभी जगह असीम सहिष्णुता का बर्ताव होता था। देश के एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने में किसी तरह का कोइ खतरा नहीं था। परन्तु इसके २०० वर्ष बाद परिस्थितियां बिलकुल बदल गई।

कुमारगुप्त—चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के बाद उस का पुत्र कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य, गुप्त साम्राज्य का सम्राट् नियुक्त हुआ। उसने ४१५ ईसवी से ४५५ ईसवी तक ४० वर्ष राज्य किया। देश भर में बड़ी संख्या में प्राप्त होने वाले कुमारगुप्त के सिक्कों से ज्ञात होता है कि उसके राज्य में पूर्णतया शान्ति और

व्यवस्था क़ायम रही, तथा गुप्त साम्राज्य का विस्तार भी कम नहीं हुआ। कुमारगुप्त ने भी अश्वमेध यज्ञ किया, इससे प्रतीत होता है कि उसने कतिपय विजय यात्राएँ भी की होंगी।

प्रतीत होता है कि कुमारगुप्त के शासनकाल के अन्तिम दिनों में गुप्त साम्राज्य पर किसी शक्तिशाली शत्रु का प्रबल आक्रमण हुआ और उसके कारण सम्पूर्ण गुप्त साम्राज्य छिन्नभिन्न होता हुआ सा जान पड़ा। एक मनोरञ्जक शिलालेख से इन आक्रमणों का परिचय मिलता है। उस शिलालेख से प्रतीत होता है कि एक समय, जब गुप्त साम्राज्य के सौभाग्य का सितारा बिलकुल मन्द पड़ गया था, गुप्तवंश के महान वीर युवराज स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य की रक्षा की थी। युवराज स्कन्दगुप्त ने गुप्त सम्राटों का जाता हुआ राज्य फिर से क़ायम कर दिया। इन युद्धों में एक दिन ऐसी दशा भी आई थी कि युवराज स्कन्दगुप्त की शक्ति कुछ समय के लिये छिन्नभिन्न हो गई और एक रात उसे नङ्गी ज़मीन पर लेट कर ही बितानी पड़ी। परन्तु इसके बाद स्कन्दगुप्त ने शीघ्रता से सैन्य संग्रह कर लिया और तब अपने शत्रु पुष्यमित्रों पर, आक्रमण करके उन्हें पराजित कर दिया। ये पुष्यमित्र लोग कौन थे और इनका मूल निवासस्थान किस जगह था, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रबल प्रतापी स्कन्दगुप्त ने हूणों की असख्य सेना को भी हराया। सम्राट् कुमारगुप्त के शासनकाल के अन्तिम दिनों में हूण जाति के नए गिरोहों ने गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण शुरू कर दिया था। शिलालेख में लिखा है कि इस असंख्य हूण सेना को गुप्त साम्राज्य के सीमाप्रान्त पर ही पराजित करके युवराज स्कन्दगुप्त पाटलिपुत्र में लौटा

और यह प्रसन्नतादायक समाचार उस ने अपनी माता को सुनाया, जैसे वासुदेव ने कंस की हत्या का समाचार देवकी को सुनाया था। सम्भवतः इन्हीं दिनो बूढ़े सम्राट कुमारगुप्त का देहान्त हो गया।

गुप्त साम्राज्य का ध्वंस

स्कन्दगुप्त—प्रतापी स्कन्दगुप्त के सम्राट बनते ही गुप्त साम्राज्य पर हूणों का एक और भयंकर आक्रमण हुआ। इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिए स्कन्दगुप्त को सीमाप्रान्त पर चले आना पड़ा। भारी प्रयत्न करके स्कन्दगुप्त ने हूणों का यह आक्रमण तो असफल कर दिया, परन्तु उस के बाद ये हूण आक्रमण गुप्त साम्राज्य के लिए एक स्थिर समस्या बन गए। हृष्टपुष्ट हूण लाखों की संख्या में, बन्धन रहित वायु के समान इस देश की ओर बढ़े चले आ रहे थे। उन्हें रोक सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं था। परिणाम यह हुआ कि पांचवीं सदी के अन्त तक पंजाब और मालवा पर हूणों का अधिकार हो गया। इस के बाद गुप्त साम्राज्य का ध्वंस शुरू हो गया। स्कन्दगुप्त गुप्तवंश का अन्तिम शक्तिशाली सम्राट सिद्ध हुआ। यद्यपि स्कन्दगुप्त के बाद भी कई सदियों तक अनेक गुप्त राजा राज्य करते रहे, तथापि गुप्तवंश की शक्ति और महत्ता जाती रही। वास्तव में हूण आक्रमणों का प्रतिरोध करने के लिए सम्राट स्कन्दगुप्त को इतनी शक्ति व्यय कर देनी पड़ी कि उस से गुप्त साम्राज्य की शक्ति बहुत क्षीण पड़ गई।

जूनागढ़ के शिलालेख में लिखा है—"म्लेच्छ आक्रमण से गुप्त साम्राज्य की रक्षा करने के लिए सुराष्ट्र के प्रान्त में

किस सेनापति को नियुक्त किया जाय—इस समस्या पर स्कन्दगुप्त ने लगातार कई दिन और रातों विचार किया था।"

हम देखते हैं कि समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का यह महान् गुप्त साम्राज्य पांचवीं सदी के अन्त में नष्टभ्रष्ट होता हुआ प्रतीत होता है।

गुप्त सम्राटों को अपनी शक्ति कायम रखने के लिए अब सभी ओर लड़ाई लड़ना आवश्यक हो गया था। एक तरफ़ उन्हें पुष्पमित्रों की क्रान्ति का दमन करना था और दूसरी ओर उन्हें असंख्य हूणों को अपनी सीमा में आने से रोकना था। इन युद्धों और संघर्षों का परिणाम यह हुआ कि गुप्त सेना की शक्ति क्रमशः क्षीण पड़ती गई। गुप्त सम्राट को इन उलझनों में फँसा देख कर अनेक महत्वाकांक्षी व्यक्तियों में अपना पृथक राज्य स्थापित कर लेने की इच्छा जागृत हो गई। परिणाम यह हुआ कि मैत्रक जाति के नेता भट्टारक ने गुजरात में स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया। वलभी को उस ने अपनी राजधानी बनाया। इस के बाद मध्यदेश के मौखरियों, मन्दसोर के शासक, बंगाल के राजा तथा अन्य भी अनेक व्यक्तियों ने भट्टारक के मार्ग का अनुसरण किया और अपने-अपने राज्यों को स्वतन्त्र बना लिया। इस के साथ ही इस बात के भी कुछ प्रमाण मिले हैं कि उन दिनों गुप्त वंश के वंशजों में पारिवारिक झगड़े उत्पन्न हो गए थे। निश्चय ही इन झगड़ों ने साम्राज्य की शक्ति को क्षीण बनाया होगा। हमें यह भी ज्ञात है कि यद्यपि प्रारम्भ के गुप्त सम्राट हिन्दू थे और वे प्राचीन क्षत्रिय प्रथाओं का अनुसरण करते थे, तथापि बाद के गुप्त राजा बौद्ध धर्मानुयायी हो गए थे। गुप्त शासकों

के इस धर्म-परिवर्तन का प्रभाव उनकी सैनिक शक्ति को कमज़ोर बनाने का कारण हुआ होगा। इन्हीं सब बातों का परिणाम यह हुआ कि मौर्य साम्राज्य के समान गुप्त साम्राज्य भी बहुत शीघ्रता से विध्वन्स हो गया।

बाद के गुप्त शासक—सन् ४६७ में स्कन्दगुप्त का देहान्त हो गया और उसके बाद गुप्त साम्राज्य के विध्वन्स की रफ्तार और भी तेज़ होगई। क्षीण शक्ति होकर भी यह गुप्त वंश सातवीं सदी तक क़ायम रहा। पाँचवीं सदी के अन्तिम भाग में गुप्त साम्राज्य का विस्तार बंगाल से पूर्वीय मालवा तक बच रहा था। इसी सदी के पूर्वार्ध में लिखे गए एक लेख से ज्ञात होता है कि तब मध्यप्रान्त भी गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत था। पाँचवीं सदी का अन्त हो जाने पर गुप्त राज्य केवल मालवा तक ही सीमित रह गया। इस सदी के अन्त में गुप्त राज्य की सीमा मालवा से आसाम के सीमान्त तक हो गई। उसके बाद कुछ समय तक के लिए इस गुप्त राज्य को प्रतापी हर्षवर्धन ने अपने अधीन कर लिया, परन्तु सातवीं सदी के उत्तरार्ध में आदित्यसेन नाम के गुप्तवंशीय राजा ने अपने अपहृत राज्य का पुनरुद्धार कर लिया। आदित्य ने अपने राज्य का विस्तार भी किया। वह एक शक्तिशाली शासक था, उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया।

पुरुगुप्त—स्कन्दगुप्त के बाद सम्भवतः उसका भाई पुरुगुप्त मगध राज्य की राजगद्दी पर बैठा। प्रतीत होता है कि पुरुगुप्त बुढ़ापे में जाकर राजा बना। स्कन्दगुप्त का देहान्त सन् ४६७ में हुआ था और उसके ६ वर्ष बाद, सन् ४७३ में कुमारगुप्त द्वितीय, गुप्त साम्राज्य पर शासन कर रहा था; इसका अर्थ यही है कि पुरुगुप्त

का राज्यकाल बहुत छोटा था। सम्भवतः बौद्ध आचार्य वसुबन्धु का शिष्यत्व स्वीकार करके पुरुगुप्त बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था। उसके समय गुप्त साम्राज्य की राजधानी अयोध्या प्रतीत होती है।

बालादित्य—पुरुगुप्त के बाद उसका पुत्र नरसिंहगुप्त राजा बना। अनेक विद्वानों के मन्तव्यानुसार यह नरसिंहगुप्त वही बालादित्य था, जिसके सम्बन्ध में ह्यूनसांग (य्वांन-च्वांग) ने लिखा है कि उसने मिहिरगुल को कैद कर लिया था। इस सम्बन्ध में काफ़ी मतभेद है और यहाँ उस मतभेद के विस्तार में जाना अनावश्यक है। वास्तव में बाद के गुप्तवंशीय राजाओं का तिथि-क्रम पुरातत्वज्ञों और ऐतिहासिकों में अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। बालादित्य के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय राजा बना। यह एक विचित्र बात है कि जहां स्कन्दगुप्त से पूर्व के तीन गुप्त सम्राटों ने कुल मिला कर १३० वर्ष राज्य किया था, वहाँ उसके बाद के तीन गुप्त राजा केवल १० वर्षों तक ही राज्य कर पाए। गुप्तवंश के सम्पन्ध के इस ऐतिहासिक तथ्य की तुलना औरंगज़ेब से पहले और पीछे के मुगलवंशीय राजाओं के राज्य-काल से की जा सकती है।

बुधगुप्त—पाँचवीं सदी के अन्त में गुप्त साम्राज्य पर बुधगुप्त राज्य कर रहा था। उसके राज्य में मध्य भारत, काशी और बंगाल भी सम्मिलित थे। इस समय तक गुप्त साम्राज्य का क्षेत्र बहुत कम नहीं हुआ था। अपने से पहले राजा के साथ उसका क्या सम्बन्ध था, यह अनिश्चित है। सम्भवतः वह स्कन्दगुप्त का ही छोटा भाई था। बुधगुप्त ने सन् ४७७ से ४९७ तक अर्थात् २० वर्ष, राज्य किया।

ह्यून सॉंग के अनुसार बुधगुप्त के बाद बालादित्य राजा बना। इन्हीं दिनों तोरमान के नेतृत्व में शक लोगों ने मालवा पर अधिकार कर लिया। शिलालेखों से प्रतीत होता है कि जहाँ सन् ४८४ में एरान (Eran) का मुखिया तो बुधगुप्त का सेवक था, वहाँ बुधगुप्त का छोटा भाई तोरमान के नीचे करद भूमिपति था। एक शिलालेख में गुप्तवंश तथा शकों में हुए एक भयंकर युद्ध का वर्णन है। इस युद्ध में भानुगुप्त नामक गुप्त राजा के साथ उसके सेनापति गोपराज ने भी बड़ी वीरतापूर्वक प्राणों का विसर्जन किया था। प्रतीत होता है कि मालवा में हूणों का आधिपत्य अधिक समय तक क़ायम नहीं रहा सका।

बाद के मागध गुप्त राजा—शिलालेखों में गुप्तवंश की एक अन्य शाखा का वर्णन भी मिलता है। इस शाखा का प्रथम राजा कृष्णगुप्त था। गुप्त वंश के सम्राटों से इस शाखा का क्या सम्बन्ध था, इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इस शाखा के अनेक राजाओं के नाम हमें ज्ञात हैं। इनमें कुछ राजाओं को मौखरि शक्ति से संघर्ष भी करना पड़ा। यह संघर्ष अनेक पीढ़ियों तक जारी रहा। हर्षवर्धन की अध्यक्षता में वे कन्नौज के अधीनस्थ विभिन्न राज्य बना कर भी रहे। सातवीं सदी के उत्तरार्ध में आदित्यसेन ने गुप्त शक्ति का पुनरुद्धार किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आदित्यसेन के राज्य का विस्तार काफ़ी बड़ा था। सम्भवतः गौड़ लोगों ने आठवीं सदी में उत्तर में गुप्तवंश का नाश कर दिया। कनारा ज़िले के बारहवीं और तेरहवीं सदी के कतिपय लेखों में कुछ गुप्तवंशीय राजाओं का नामोल्लेख है; इस से प्रतीत होता है कि गुप्तवंश के कुछ राजा दक्षिण भारत

में तब तक भी बने हुए थे। इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि दक्षिण के कनारा प्रदेश से गुप्तवंश का सम्बन्ध प्रारम्भ में था।

मौखरि वंश—गुप्तवंश की शक्ति का ह्रास हो जाने पर गंगा की घाटी के ऊपर के भाग में मौखरि वंश ने शक्तिसंचय कर लिया। इसके बाद उत्तरीय भारत पर अधिकार करने के लिए मौखरि राजाओं का गुप्तवंशीय राजाओं के साथ निरन्तर संघर्ष चलता रहा। इस परिवार की दो शाखाएँ थी। एक शाखा गया के प्रान्त पर शासन करती थी और दूसरी संयुक्त प्रान्त पर। कुछ मौखरि राजाओं ने गुप्तवंश की राजकन्याओं से विवाह भी किया। सन् ५५४ में, राजा ईशानवर्मन के समय से, गुप्तवंशीय राजाओं तथा मौखरियों में भयंकर वैमनस्य उत्पन्न हो गया। अन्त में हर्ष के सम्बन्धी राजा ग्रहवर्मन के समय गुप्त राजाओं ने गौड़ों की सहायता लेकर मौखरियों का विनाश कर दिया। यह कहा जा सकता है कि छटी सदी के उत्तरार्ध में मौखरि लोग गंगा की घाटी की सब से बड़ी राजनीतिक शक्ति थे।

वलभी का राज्य—गुप्त साम्राज्य के अवशेषों में से वलभी में भी एक राज्य क़ायम हुआ। इस राज्य का संस्थापक मैत्रक वंश का भट्टारक था। इस राज्य के पहले दोनों राजा अपने को सेनापति ही कहते रहे। परन्तु उनके उत्तराधिकारियों ने अपने को महाराजा कहना शुरु कर दिया। छटी सदी में इस वंश की एक शाखा ने मालवा में अपना राज्य क़ायम कर लिया और बड़ी शीघ्रता से उन्होंने अपनी सीमा बढ़ा ली। इस वंश की जो

शाखा वलभी पर राज्य कर रही थी, उसके एक राजा का विवाह हर्ष की पुत्री के साथ हुआ था।

बंगाल के शासक—चौथी और पांचवीं सदी में बंगाल भी गुप्त साम्राज्य का भाग बन गया था। छटी सदी के मध्य में वहाँ गौड़ शक्ति का प्रादुर्भाव हो गया। सातवीं सदी में इस वंश का शशांक नामक एक राजा बहुत शक्तिसम्पन्न हो गया। शशाँक हर्षवर्धन का एक प्रसिद्ध प्रतिद्वन्दी था। आठवीं सदी में इस गौड़ राज्य में मगध भी सम्मिलित हो गया और नवीं सदी में यह राज्य कन्नौज तक विस्तृत हो गया।

हूणों का आक्रमण

ईसा की पाँचवीं सदी में, इस देशपर उत्तर-पश्चिम से हुए हूण-आक्रमणों के कारण भारतवर्ष की शान्ति भङ्ग हो गई। यह हूण आक्रमण इतना ज़बरदस्त था कि गुप्त साम्राज्य की विशाल और सङ्गठित सेना भी आर्यावर्त के उत्तर-पश्चिमी भाग की वैज्ञानिक और स्वाभाविक सीमा की रक्षा कर सकी। जब जङ्गली हूणां के बड़े-बड़े गिरोहों ने इस देश पर आक्रमण किया तो उनके लिए पञ्जाब के द्वार खुल गए। इस देश के निवासियों को इतनी पाशविकता और असभ्यता से कभी पाला नहीं पड़ा था, जितनी इन सफ़ेद हूणों में थी। कुछ समय के लिये तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि ये शक्तिशाली जङ्गली घुड़सवार भारतवर्ष की सम्पूर्ण सभ्यता को मलियामेट कर देंगे। परन्तु स्कन्दगुप्त ने बड़ी वीरता से इन हूणों का सामना किया और कुछ समय के लिये उसने इन की असंख्य सेना को पराजित भी कर दिया। कुछ ही वर्षों के बाद, स्कन्दगुप्त के शासनकाल में इन्हों ने इस देश पर दूसरा

हमला किया। इस आक्रमण में भी हूणों को सफलता प्राप्त नहीं हुई। परन्तु इसके कुछ ही समय बाद, फ़ारस की शक्ति हूणों की बढ़ती हुई सेना को रोक नहीं सकी और परिणाम यह हुआ कि लाखों की संख्या में आक्रान्ताओं के बड़े-बड़े नए गिरोह पंजाब की ओर आ गये।

तोरमान—पांचवीं सदी के अन्त में तोरमान की अध्यक्षता में हूण लोगों ने मालवा को अपने अधीन कर लिया। शिलालेखों से प्रतीत होता है कि तोरमान भी भारतीय देवताओं की पूजा करता था। उसने शीघ्र ही भारतीय ख़िताबों का व्यवहार शुरू कर दिया था।

मिहिरकुल—सन् ५०२ में, तोरमान के देहान्त के बाद, उस का पुत्र मिहिरगुल राजा बना। वह भयङ्कर अत्याचारी था। उस के भारतीय राज्य की राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी। हूणराज्य अब पश्चिम में फारस से लेकर पूर्व में खोतन तक व्याप्त था। कल्हण तथा ह्यूनसांग के उल्लेखों से प्रतीत होता है, कि मिहिरगुल ने सभी तरह की अमानुषिक असभ्यताएँ की। मिहिरगुल का भयङ्कर राज्य सन ५२८ में तब जाकर समाप्त हुआ, जब मालवा के शक्तिशाली राजा यशोधर्मन ने, सम्भवतः एक गुप्त वंशीय राजा के सहयोग से, मिहिरगुल को हराकर उसे बन्दी कर लिया। परन्तु कुछ समय के बाद यशोधर्मन ने उसे छोड़ दिया और तब वह काश्मीर चला गया। मिहिरगुल ने काश्मीर में भी भयङ्कर अत्याचार किये। वहीं पर उसका देहान्त हुआ। मिहिरगुल के अत्याचार और पाशविक कर्म वर्णनातीत हैं। उसकी गणना रोम के नीरो और आट्टिला (Attila) आदि की श्रेणी में की जा सकती

है। इसी बीच में तुर्क लोगों ने एशिया में से हूण शक्ति का नाश कर दिया।

हूण आक्रमण के प्रभाव—भारतवर्ष पर हूण आक्रमण बहुत देर तक जारी नहीं रहे। इस देश में हूण लोगों का शासन बहुत थोड़ी देर तक रहा और वे भारतवर्ष के हृदय तक पहुँच भी नहीं पाए। तथापि उत्तर-पश्चिमी भारत के इतिहास पर इन हूण आक्रमणों का गहरा प्रभाव पड़ा। हूणों के भयंकर आक्रमणों से टक्कर खाकर गुप्त साम्राज्य की शक्ति बहुत कमज़ोर पड़ गई और इस कारण शीघ्र ही गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इस समय, भारतवर्ष में केन्द्रीय शक्ति के क्षीण हो जाने के बाद सम्पूर्ण देश छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया और मुसलमानों के भारतवर्ष में आने तक, यहां का कोई राज्य, कुछ अपवादों को छोड़ कर, केन्द्रीय शक्ति का रूप धारण नहीं कर सका। तोरमान ने भारतीय खिताबों का व्यवहार शुरु कर दिया था। उसका क्रूर पुत्र मिहिरगुल भी शिव का उपासक था। यह स्पष्ट है कि हूणों के आक्रमण के दिनों में जो लाखों हूण इस देश में आकर आबाद हो गए थे वे, भारतवर्ष में से हूण राज्य नष्ट हो जाने पर, प्राचीन भारती-ग्रीकों, शकों और कुशानों के समान हिन्दू जनता का ही भाग बन गए। उन्होंने भारतीय संस्कृति को पूर्ण रूप से अपना लिया। ये नए खून के हूण बाद में जाकर भारतीय सेना के लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। अनेक ऐतिहासिकों का विचार है कि राजपूत तथा पश्चिमी भारत की अन्य अनेक जातियां इन्हीं हूणों की सन्तान हैं। यह भी ख्याल किया जाता है कि जंगली और असभ्य हूणों को अपनी समाज का भाग बना कर हिन्दुओं

ने अपने आचार का स्टैण्डर्ड गिरा दिया और इसी समय से हिन्दुओं में अनेक अन्ध विश्वास भी घर कर गए।

यशोधर्मन—हूणविजयी प्रतापी यशोधर्मन भारतीय इतिहास में अभी तक एक समस्या है। अभी तक उसके वंश और परिवार के सन्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। मन्दसोर में प्राप्त उसकी दोहरी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि वह मालवा का शासक था। इसी प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि उसने उत्तरीय भारत के अधिकांश भाग को विजय कर लिया था। वहाँ लिखा है कि यशोधर्मन की विजयी सेनाओं ने उत्तर में हिमालय के आन्तरिक भागों को भी विजय किया और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी तक का प्रदेश उन्होंने जीता। यशोधर्मन ने दावा किया है कि उसने उस प्रदेश पर भी राज्य किया, जहां गुप्तों को भी सफलता नहीं मिली थी। इस प्रशस्ति की भाषा इस ढंग की है कि उसे परम्परागत दिग्विजयों की साहित्यिक पुनरावृत्ति कह कर टाला नहीं जा सकता

महरौली का राजा चन्द्र—गुप्तवंश के एक और राजा का पूर्वापर सम्बन्ध अभी तक अज्ञात है। यह राजा चन्द्र है। राजा चन्द्र ने महरौली के निकट जिस लोहे की कीली की स्थापना की थी, वह लोहे की कीली आज तक प्राचीन संसार की आश्चर्यजनक चीज़ों में गिनी जाती है। यह कीली प्राचीन भारत की उन्नत धातु-निर्माण कला का एक ज्वलन्त उदाहरण है। कुछ ऐतिहासिकों ने राजा चन्द्र को चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वीकार किया हैं और कुछ ने चन्द्रगुप्त प्रथम। कुछ लोगों की राय में वह राजपूताने में पुष्करण का राजा था। राज चन्द्र की प्रशस्ति में लिखा है कि उसने पूर्व

में बंगाल के राजा को हराया और उत्तर में सिन्धु नदी को पार कर के बाल्हीक लोगों को।

हर्ष और उस का समय

हर्ष (६०६ से ६४७ ईसवी)—राजा हर्ष के राज्यकाल में एक बार पुनः उत्तरीय भारत में राजनीतिक एकता स्थापित हो गई। हर्ष में सम्राट अशोक और समुद्रगुप्त इन दोनों ही के गुण विद्यमान थे। वह एक सफल विजेता था, साथ ही उस ने सर्वजन-हितकारी कार्य भी बड़ी संख्या में किए। अपने राज्यकाल का अन्तिम भाग हर्ष ने देश की उन्नति में ही लगाया। उस का पिता-थानेसर का राजा था। उसकी प्रभुता न केवल गुजरात और मालवा को ही, अपितु हूण राजा को भी स्वीकार करनी पड़ी। परन्तु उस की आकस्मिक मृत्यु हो जाने के बाद मालवा के राजा ने उस के जामाता की हत्या करवा दी और बंगाल के राजा ने उस के पुत्र को मरवा दिया। इस कारण इन अत्याचारों का बदला लेने के लिए उस के छोटे पुत्र हर्ष को बाधित हो जाना पड़ा।

हर्ष की विजय यात्राएं—शीघ्र ही हर्ष ने मालवा को विजय कर लिया। इस के बाद अपनी संगठित और सुशिक्षित सेना की सहायता से निरन्तर ६ वर्षों तक हर्ष युद्धों में ही लगा रहा। परिणाम यह हुआ कि उत्तरीय भारत का अधिकांश भाग उस की अधीनता में आगया। पश्चिमी पंजाब से बंगाल तक और पश्चिम में वलभी तक का प्रान्त हर्ष के राज्य की सीमा में आगया। आसाम का राजा भी उसे कर देने लगा। विन्ध्याचल की ओर हर्ष की अभिवृद्धि को शक्तिशाली चालुक्य राजा पुलिकेशिन द्वितीय ने

रोक दिया और तब दक्षिण में हर्ष के राज्य की सीमा नर्मदा नदी तक निश्चित हो गई।

साहित्य का संरक्षक—अपने शासन काल के पहले ६ वर्ष तो हर्ष ने विजय यात्राओं में लगाए; परन्तु इस के बाद ३० वर्षों तक, अपनी शक्तिशाली सेना के बल पर, उसे कभी अपनी तलवार म्यान से बाहर निकालने की आवश्यकता नहीं हुई। अब उसने अपना ध्यान संस्कृत और साहित्य की उन्नति की ओर लगाया। वह एक महान् साहित्यप्रेमी था। उस के दरबार में दार्शनिकों, कवियों, नाटक तथा उपन्यास लेखकों और कलाकारों का जमघट लगा रहता था इन में हर्ष चरित तथा कादम्बरी के लेखक महाकवि बाण का संस्कृत साहित्य के इतिहास में अमर स्थान है।

कहा जाता है कि स्वयं हर्ष ने भी तीन उत्तम नाटक लिखे थे जिन के नाम ये हैं—नागानन्द, रत्नावली और प्रियदर्शिका। उस ने एक व्याकरण ग्रन्थ भी लिखा था।

कन्नौज की धर्मसभा—सुप्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनसांग (ह्वान च्वांग) से प्रभावित हो कर हर्ष बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का अनुयायी हो गया। उस ने कन्नौज में एक बड़ी धर्म सभा निमन्त्रित की। इस सभा में हर्ष ने बौद्ध विद्वान् ह्यूनसांग के व्याख्यान सुनने तथा उस से वाद विवाद करने केलिए उत्तर भारत के सम्पूर्ण धार्मिक नेताओं को आमन्त्रित किया। ह्यूनसांग ने यह चैलेंज दे दिया कि यदि वह किसी से हार जायगा तो विजेता को उसके जीवन पर भी अधिकार हो जायगा। शास्त्रार्थ शुरू हुआ और वह १८ दिनों तक जारी रहा। अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा प्रतिभा के बल पर इस विवाद में ह्यूनसांग ही विजयी रहा।

तब हर्ष ने बौद्ध संघों और मठों को दान दिया। हर्ष ने पशुहत्या कानून बना कर बन्द कर दी। उसकी अध्यक्षता में बहुत शीघ्र कन्नौज बौद्ध धर्म का एक महान् केन्द्र बन गया। हर्ष ने कन्नौज को सुन्दर बनाने की ओर भी यथेष्ठ ध्यान दिया। उसने नगर के चारो ओर मज़बूत क़िलेबन्दी करवा दी।

प्रयाग में सभाएँ—स्वयं बौद्ध होते हुए भी हर्ष का अन्य धर्मों से विरोधभाव नहीं था। अपने शासनकाल के प्रति पाँचवें वर्ष वह एक महासभा बुलाता था और इस महासभा में युद्ध के सामान के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार का सामान दान करता था। एक ऐसी ही महासभा के अवसर पर प्रयाग में पाँच लाख मनुष्य जमा होगए थे। महासभा के दिनों में बुद्ध, शिव और सूर्य की मूर्त्तियो की पूजा की जाती थी और भिक्षुओं, ब्राह्मणों तथा कंगालों को यथेष्ट दान दिया जाता था। पाँच वर्षों में महाराजा हर्ष जितना धन अथवा पदार्थ संग्रह करते थे, वह सब इस अवसर पर दान में बाँट देते थे। प्रत्येक महासभा के बाद हर्ष स्वयं बिलकुल दरिद्र के समान हो जाते थे।

ह्यूनसांग (य्वान च्वांग)—महाराजा हर्ष पर इस चीनी यात्री का असाधारण प्रभाव था। २६ वर्ष की आयु में भी जब ह्यूनसाँग चीन से भारतवर्ष के लिए रवाना हुआ था, वह अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध था। अपनी धार्मिक भावना के वश मार्ग की असंख्य और भयंकर दिक्क़तों की परवाह न करके वह भारतवर्ष में आ पहुँचा। इस देश में वह १३ वर्षों तक रहा और इस बीच में उसने प्रत्येक प्रान्त का भ्रमण किया। सन् ६४५ में वह स्वदेश को वापस लौट गया। इस देश से बहुमूल्य ग्रन्थों, मूर्तियों तथा पुरातत्व

की अन्य बहुत-सी वस्तुओं को वह अपने साथ ले गया और अपना शेष जीवन उसने संस्कृत ग्रन्थों का चीनी अनुवाद करने में बिता दिया। ह्यूनसाँग का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावोत्पादक था। वह एक महान् विद्वान्, महान् सन्त, महान् नेता और महान् यात्री था। वह लेखक भी बहुत उच्चकोटि का था। उसने इस देश में जो कुछ देखा, उसका विस्तृत वर्णन उसने लिखा है। ह्यूनसाँग का ग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये एक अमूल्य खान के समान है। भारतीय इतिहास पर ह्यूनसाँग का अपरिमेय ऋण है।

ह्यूनसांग का वृत्तान्त—हर्ष के समय में कन्नौज भारतवर्ष का सब से अधिक महत्वपूर्ण नगर था। पाटलिपुत्र उजड़ चुका था। शासनव्यवस्था दृढ़ और न्यायपूर्ण थी। अपराध बहुत कम होते थे परन्तु अपराध के लिए दण्डविधान गुप्तकाल की अपेक्षा बहुत कठोर थे। कर हलके थे। उपज का छठा भाग भूमिकर के रूप में लिया जाता था। फाहियान के समय की अपेक्षा इस युग में आवागमन कम सुरक्षित हो गया था।

जनता की दशा—इस युग में साम्प्रदायिकता बहुत कम थी। जनता में आचार की प्रतिष्ठा सब से अधिक थी। व्यक्तिगत पवित्रता का माप बहुत ऊँचा था। माँस बहुत कम खाया जाता था। कुलीन स्त्रियों को खूब ऊँची शिक्षा दी जाती थी। पर्दा बिलकुल नहीं था। सती प्रथा ज़ोरों पर थी। अन्तर्वर्ण विवाह बिलकुल नहीं होते थे। सरकार का नियन्त्रण ऊँचे दर्जे का था, यद्यपि मौर्यकाल और गुप्तकाल के समान दृढ़ और देशव्यापी शासनव्यवस्था अब नहीं रही थी।

व्यवसायिक जीवन का नियन्त्रण संघों के आधार पर किया

जाता था। राजनीतिक और व्यापारिक उद्देश्यों से समुद्र की यात्रा करना अब एक साधारण और प्रचलित बात हो गई थी। शिक्षा का खूब प्रसार था। सभ्य श्रेणियों, जिनमें बौद्ध भी सम्मिलित थे, की भाषा संस्कृत थी। नालन्द तथा अन्य अनेक स्थान विद्या और कला का केन्द्र बने हुए थे।

ह्यूनसांग ने भारतीयों का वर्णन बड़े सम्मान के साथ किया है। फाहियान के समान उसका दृष्टिकोण संकुचित नहीं था, इस लिए उसके वर्णनों की महत्ता बहुत अधिक है और उन से बहुत-सी महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती है। बौद्ध मूर्ति कला उतार पर थी। उसका महान् केन्द्र गान्धार अब उजड़ गया था। आसाम का राजा कट्टर हिन्दू था और दक्षिण भारत में इन दिनों जैन धर्म बढ़ती पर था। पाटलिपुत्र के अतिरिक्त गया का भी विनाश हो चुका था।

ह्यूनसांग ने लिखा है कि भारतीयों को पढ़ने लिखने का शौक है; उनकी शिक्षापद्धति बड़ी सङ्गठित है। पढ़ाई में अभी तक स्मरण शक्ति से अधिक काम लिया जाता था। बौद्ध मठ शिक्षा केन्द्र बने हुए थे। ह्यूनसांग ने नालन्द विश्वविद्यालय का वर्णन खूब विस्तार के साथ किया है। नालन्द हर्षकालीन भारत का सब से बड़ा विश्वविद्यालय था। वह महायान सम्प्रदाय का ऑक्सफोर्ड तथा काशी का प्रतिद्वन्दी था

राष्ट्रीय जागृति का युग

गुप्तवंश के शासनकाल को भारतवर्ष का स्वर्णयुग कहा जाता है। यह राष्ट्रीय जागृति का युग था। इन दिनों भारतीय सभ्यता

में जीवन का रुधिर फड़क रहा था, उसमें प्रगति थी। समुद्रों के पार उसका प्रसार होरहा था, और उसके द्वारा समुद्र पार के उपनिवेश सभ्य बन रहे थे। भारतीय संस्कृति में तब जीवन था, संसार को वह बहुत कुछ सिखा रही थी और उसमें संसार की अन्य सभ्यताओं की श्रेष्ठ बातों को लेने की शक्ति भी विद्यमान थी। आर्यावर्त से विदेशी राज्यों का नाश कर दिया गया था और अब उसमें राष्ट्रीय जागृति की भावना अनुप्राणित होरही थी। कुशान शक्ति को सिन्धु के पार धकेल दिया गया था। कनिष्क के नेतृत्व में जिस विदेशी सभ्यता का प्रभाव इस देश पर पड़ा था, वह भारती-यूनानी कला के रूप में परिवर्तित होकर भारतीय सभ्यता का आन्तरिक भाग बन गई थी और इस देश की धार्मिक, साहित्यिक और कला सम्बन्धी प्रगतियों में उसने जागृति की भावना का संचार कर दिया था। प्राचीन भारत के ब्राह्मण गुरु अपनी छिपी हुई झोंपड़ियों से एक बार पुनः सूर्य के प्रकाश में निकल आए और साम्राज्य का आश्रय प्राप्त करके राष्ट्रीय प्रगतियों के नेता बन गये। इस जागृति की प्रवृत्ति पूर्णरूप से राष्ट्रीय थी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म एक बार पुनः भारतवर्ष का प्रमुख धम बन गया और बौद्ध धर्म का ह्रास शुरू हो गया। इस पुनरुद्धृत हिन्दू धर्म में संकुचित साम्प्रदायिकता की भावना अभी तक नहीं आई थी।

हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार—गुप्तकाल हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार का काल था। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि गुप्तवंश से पहले हिन्दू धर्म की समाप्ति हो चुकी थी। अशोक के शासनकाल में बौद्ध धर्म बहुत उन्नति कर गया था, परन्तु उस युग में भी हिन्दू धर्म जिन्दा दशा में था और उसका उच्चकोटि का साहित्य

दिनोंदिन अभिवृद्धि कर रहा था । यह स्पष्ट है कि ईसवी सन् के प्रारम्भिक दिनों में ब्राह्मण अपने प्राचीन धर्म का पुनर्निर्माण नए और वैज्ञानिक आधारों पर करने लगे थे । अतः उनमें अनेक नई भावनाएँ सर्वप्रिय होती जा रही थीं । गुप्तवंश के शासनकाल में हिन्दूधर्म का रूप बहुत व्यापक-सा हो गया और वह एक "धर्मों की सभा" के समान बन गया । प्रत्येक भारतीय, चाहे उसके विचार किसी भी किस्म के क्यों न हों, ब्राह्मणों की उच्चता को स्वीकार करके तथा वेदों की अपौरुषेयता के सिद्धान्त को मान कर, उसका सदस्य बन सकता था । हिन्दू धर्म में से पुराना कुछ भी हटाया नहीं गया, परन्तु बहुत-से नए विचार उसमें सम्मिलित कर लिए गए । हिन्दू कला भी एक नए क्षेत्र में जा पहुँची, जहाँ चिन्हों की महत्ता बहुत बढ़ गई । हिन्दू देवताओं के शरीरों के सम्बन्ध में विचित्र-विचित्र ढङ्ग की अलौकिक कल्पनाएँ कर ली गईं । सुदूर दक्षिण में तामिल सन्तों ने धार्मिक प्रचार की भावना से पूर्ण शैव सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया । उधर पश्चिम में भागवत समुदाय सर्वप्रिय होने लगा ।

हिन्दू धर्म के इन नवीन रूप को चार भागों में बाँटा जा सकता है—(१) स्मार्त—वे लोग जो प्राग्बौद्धकालीन वैदिक साहित्य को परम प्रमाण मानते थे (२) शैव (३) वैष्णव तथा (४) शाक्त । शैव और वैष्णवों से शाक्तों के ढङ्ग तथा भावों में भेद है । शाक्तों का सम्प्रदाय विचारों तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों पर आश्रित आन्दोलन नहीं है, वह तो केवल पूजा की एक प्राचीन पद्धति है, जिस में बहुत-सी फिलासफ़ी भी मिली हुई है । शाक्त सम्प्रदाय अनेक नामों और रूपों के देवताओं की पूजा

करता है; अनेक वैषयिक साधनाओं के अतिरिक्त उसमें पशु बलिदान और यहाँ तक कि मनुष्य का बलिदान करने का भी विधान है। शाक्तों के धर्मग्रन्थ तन्त्रग्रन्थ हैं। स्याम और बंगाल के कुछ भागों में शाक्त लोग अभी तक काफ़ी संख्या में पाए जाते हैं।

हिन्दुत्व एक विशेष प्रकार के जीवन का नाम है। उसका क्षेत्र केवल धार्मिक सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है। हिन्दू धर्म की इसी व्याख्या में इन दोनों तथ्यों की कैफ़ियत छिपी है कि एक ओर तो वह इतना स्थायी धर्म है कि अभी तक उसका विनाश नहीं हो सका और दूसरी ओर वह इतना अव्यापक है कि भारतवर्ष से बाहर उसका प्रसार नहीं हो सका। हिन्दू बनने के लिए कुछ विचारों या सिद्धान्तों पर विश्वास कर लेना ही पर्याप्त नहीं है; हिन्दूधर्म में मत परिवर्तन की महत्ता बहुत कम है और ईसाइयों के बैप्टिज्म (Baptism) के समान संस्था उसमें है ही नहीं। हिन्दू बनने के लिए जीवन को भी हिन्दू बना लेना आवश्यक है।

बौद्ध धर्म के विरुद्ध आन्दोलन—हिन्दू धर्म में शुरु ही से अन्य विचारों और सम्प्रदायों को अपने अन्दर जज़्ब कर लेने की ज़बरदस्त शक्ति रही है। इसी कारण इस देश में हिन्दू धर्म ने अपने शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी बौद्ध धर्म पर विजय प्राप्त कर ली। इन दोनों महान धर्मों में पारस्परिक प्रतिद्वन्दता का प्रारम्भ सम्भवतः गुप्तवंश के युग में हुआ और यह प्रतिद्वन्दता करीब ५०० वर्षों तक बनी रही। अन्त में शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म, को पूरी पराजय दे दी और उसके बाद से बौद्ध धर्म इस देश के किसी-किसी भाग में ही बच रहा। बौद्ध धर्म पर अन्तिम प्रहार मुसल्मानों के आक्रमण काल में हुआ। प्रारम्भिक मुसल्मान विजेताओं ने

अनेक बौद्ध मठों को नष्टभ्रष्ट कर दिया। इस समय तक बौद्ध धर्म का प्रभाव केवल बौद्ध मठों तक ही बच रहा था, इस कारण मठों के नष्ट हो जाने से भारत में बौद्ध धर्म भी नष्ट हो गया। दूसरी ओर हिन्दुओं के असंख्य मन्दिरों को तोड़ फोड़ कर भी मुसल्मान भारतवर्ष में से हिन्दू धर्म का नाश नहीं कर सके।

गुप्तवंशीय राजा हिन्दू धर्म के संरक्षक तो थे, परन्तु वे इतने संकीर्ण हिन्दू नहीं थे कि बौद्धों पर अत्याचार करते। गुप्तकालीन हिन्दू सम्राट तो बौद्धों को भी दान दक्षिणा देते रहे। दो महान् बौद्ध विचारकों, वसुबन्धु और असंग, का जन्म गुप्तकाल के प्रारम्भ में ही हुआ था। हूण आक्रमणों से हिन्दूधर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म को अधिक हानि पहुँची। सातवीं सदी में ह्युनसांग ने लिखा है कि उसके समय में देश के कई भागों में बौद्धधर्म का ह्रास शुरू हो चुका था। बंगाल और उड़ीसा में हिन्दू धर्म के शक्तिरूपी जिस बीभत्स रूप के साथ बौद्ध धर्म ने सम्बन्ध स्थापित कर लिया, उस से इस ह्रास की गति और भी बढ़ गई। बौद्ध धर्म का केन्द्र मगध, शाक्त धर्म के उत्पत्ति स्थानों से इतना निकट था कि बौद्ध धर्म पर भी तान्त्रिक क्रियाओं का प्रभाव पड़ गया।

कहा जाता है कि बौद्ध धर्म के खिलाफ़ हिन्दू प्रतिक्रिया सम्राट अशोक के देहान्त के बाद ही शुरू होगई थी। हिन्दूधर्म का भक्तिमार्ग विदेशियों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर रहा था। उज्जैन के शक राजा, विशेष कर रुद्रदामन, संस्कृत भाषा के संरक्षक थे। गुप्तवंश के शासनकाल में हिन्दू धर्म की बढ़ती हुई शक्तियों ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया और तब हिन्दुओं ने बौद्ध धर्म पर विजय शुरू की। संस्कृत राजभाषा बनगई और बौद्धों ने भी उसे अपना लिया।

महान् भारतीय विश्वविद्यालय—इस युग में विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का प्रसार हो रहा था। तक्षशिला, अजन्ता, नालन्दा आदि विश्वविद्यालय इस युग की संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र थे।

नालन्दा विश्वविद्यालय—तत्कालीन नालन्दा विश्वविद्यालय का विस्तृत वर्णन हमें आज भी उपलब्ध होता है। किसी समय इस स्थान पर एक बड़ा आम्रवन था। ५०० व्यापारियों ने इस आम्रवन को खरीद लिया और उसे महात्मा बुद्ध की भेंट कर दिया। महात्मा बुद्ध इस वन में ३ मास तक रहे भी। उन्होंने वहां एक बौद्ध मठ स्थापित किया, जो क्रमशः अधिक-अधिक उन्नत होता चला गया। धीरे-धीरे वह विद्या का केन्द्र बन गया। अनेक राजाओं ने उसे बड़े-बड़े दान दिए और वह एक विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गया। वहां १०००० विद्यार्थियों को न केवल मुफ्त शिक्षा दी जाती थी, अपितु उन से भोजन और रहन-सहन आदि का व्यय भी नहीं लिया जाता था। सौ गांवों की आय से इस विश्वविद्यालय का खर्च चलाया जाता था। नालन्दा के १५०० अध्यापक अपनी विद्वत्ता और योग्यता के कारण संसार भर में सुप्रसिद्ध थे। विश्वविद्यालय की इमारतें बहुत बड़ी-बड़ी शानदार और कलापूर्ण थीं। उन की आन्तरिक सजावट भी बहुत उत्तम थी। नालन्दा के सम्पूर्ण कार्यक्रम में व्यवस्था और नियन्त्रण की गहरी पुट मिली हुई थी। सभी अर्थों में नालन्दा की यह संस्था एक सच्चा विश्वविद्यालय थी। यहां संस्कृत, धर्मशास्त्र, दर्शन, कानून, विज्ञान, चिकित्सा, कला, शिल्प, संगीत आदि की उच्चतम शिक्षा दी जाती थी। ह्यूनसांग के समय में

इस विश्वविद्यालय का आचार्य शील भद्र था, जो तत्कालीन संसार का एक महान् विद्वान था। इस महान् विश्वविद्यालय के स्नातकों की धाक सम्पूर्ण एशिया महाखण्ड पर छाई हुई थी।

कालिदास—इसी युग में कालिदास के साथ-साथ भारतीय नाटक साहित्य अपने विकास की उच्चतम दशा को पहुँच गया। भारतीय साहित्य में कालिदास का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

शकुन्तला—कालिदास की सर्वश्रेष्ठ रचना उसका 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नामक नाटक है। कालिदास की इस अमर रचना ने पूर्व और पश्चिम के लाखों पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट किया है। संस्कृत शिलालेखों की भाषा से यह भी ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में संस्कृत भाषा का खूब विकास और प्रचार हो गया था। उन दिनों और भी बहुत से नाटक लिखे गए होंगे, जिस में अधिकांश आजकल उपलब्ध नहीं होते। साहित्यिक दृष्टि से पुराणों का स्थान भी काफ़ी उच्च है।

आर्य भट्ट और वराहमिहिर—वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन में भी बड़ी उन्नति हो गई थी। आर्यभट्ट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त अपने समय के संसार में सब से बड़े ज्योतिषी तथा गणितज्ञ थे। बाद में भारतवर्ष ही से अरब की राह इन विद्याओं का यूरोप में प्रसार हुआ। अरब लोगों ने बीजगणित (अलजब्रा) चिकित्सा; शल्यतन्त्र, भौतिकी, रसायन, ज्योतिष आदि विद्याएँ भारतवर्ष से ही सीखी थीं।

ललित कलाएं—इस युग में भारतीय भवन-निर्माण कला, मूर्त्ति-निर्माण कला और चित्र कला भी बहुत ऊँचे दर्जे तक जा

पहुँचीं। दुर्भाग्य से गुप्तकालीन अधिकांश इमारतें आज उपलब्ध नहीं होतीं। कुतुब मीनार के निकट दिल्ली की लोहे की विशाल कीली में लोहे के विभिन्न हिस्सों को इस चतुरता से जोड़ा गया है कि कुछ समय पूर्व तक उसके सम्बन्ध में यही माना जाता था कि वह एक साथ सांचे में ढाली गई होगी। अजन्ता की कुछ कलापूर्ण सुन्दर गुफाएँ भी इसी युग में बनी थीं। उनके अनेक चित्र भारतीय चित्रकला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। इन उच्चतम कलापूर्ण चित्रों में कल्पना का भी खूब प्रयोग किया गया है और साथ ही वे तत्कालीन वास्तविक जीवन का सही-सही चित्रण भी हैं। उनसे हमें तत्कालीन भारतवर्ष के कलापूर्ण प्रतिभाशाली मस्तिष्क का परिचय मिलता है।

एल्लोरा—इस युग की एक श्रेष्ठतम कृति एल्लोरा की चैत्य भवन है, जो विश्वकर्मा को समर्पित किया गया है। काफ़ी लम्बे काल तक एल्लोरा भारतीय शिल्पकला का केन्द्र रहा। प्रतीत होता है कि एल्लोरा के शिल्पियों ने कोई संघ बना रक्खा और उसी संघ की ओर से देवताओं के शिल्पी विश्वकर्मा के नाम पर इस सुन्दर मन्दिर का निर्माण किया गया।

व्यापार और व्यवसाय—हम पहले ही कह चुके हैं कि पश्चिमी तट से रोम साम्राज्य को खूब माल आता-जाता था। छटी सदी में एक ईसाई साधु इस देश में आया था। उसने अपना यात्रा वृत्तान्त लिखा है। उसका कथन है कि तब दक्षिण भारत में ईसाइमत का काफ़ी प्रचार हो रहा था। दक्षिण भारत के बन्दरगाह खूब समृद्ध थे। वहां रोमन सिक्के बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। इससे प्रतीत होता है कि तब रोम का काफ़ी धन

इस देश में आता होगा। चौथी सदी के बाद पश्चिम के साथ भारतवर्ष का स्थलमार्ग से व्यापार कम हो गया। इसका वर्णन भी यथास्थान किया जा चुका है।

गुप्तवंश के समय भारतवर्ष का पूर्वीय देशों के साथ जो समृद्ध विदेशी व्यापार था, उसकी बदौलत समुद्र पार के अनेक देशों में भारतीय सभ्यता का प्रसार होने में बड़ी मदद मिली। अनेक आपत्तियों के रहते भी इस युग में सुमात्रा, जावा और कम्बोडिया के साथ भारतवर्ष का सामुद्रिक व्यापार खूब उन्नत दशा में था।

ग्यारहवां अध्याय

प्राचीन भारतीय उपनिवेश

और

भारतीय सभ्यता का विदेशों में प्रसार

नए अन्वेषण—बहुत समय से यह समझा जाने लगा था कि भारतवासी स्वभाव ही से 'घर में रहने वाले व्यक्ति हैं। समुद्र और हिमालय के घेरे ने उन्हें बाक़ी दुनिया से काट अलग कर रखा है। परन्तु अर्वाचीन अन्वेषणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन भारतीयों ने अपने देश की सभ्यता का प्रसार एशिया महाखण्ड के सुदूर प्रदेशों तक भी किया था। इन अन्वेषणों के आधार पर हमारे लिए यह सम्भव होगया है कि हम भारतीय इतिहास का चित्र बहुत बड़े चित्रपट पर बना सकें।

सुदूर पूर्व मे भारतीय सभ्यता—हमें ज्ञात है कि प्राचीन भारतीय समुद्रों में यथेष्ट आते जाते थे और उन्हों ने उपनिवेशों का निर्माण भी किया था। ईसा की पहली सदी में, और सम्भवतः उससे भी ३, ४ सौ बरस पहले से, भारत महासागर सच्चे अर्थों में भारतवर्ष का महासागर बन चुका था। पूर्व के अनेक देशों पर

भारत की धाक पड़ चुकी थी। अनेक देशों ने भारतवर्ष से धर्म और संस्कृति का पाठ पढ़ा। साथ ही अनेक देशों को बसाने और उन्हें सभ्य बनाने का श्रेय भी भारतीयों को है। लंका, ब्रह्मा स्याम, अनाम, नैपाल, तिब्बत, मध्य एशिया, मंगोलिया, चीन और जापान की गणना पहले ढंग की श्रेणी में है। उक्त देशों में भारतवर्ष से जो धार्मिक सन्देशवाहक महात्मा बुद्ध के सर्वजन-हितकारी उपदेशों का अमर सन्देश लेकर गए, उन्हों ने इन देशों को भारतीय संस्कृति और भारतीय धर्म के रंग में रंग दिया। उन दिनों चीन की सभ्यता निस्सन्देह खूब उन्नत थी, परन्तु चीन ने भी भारतवर्ष से बहुत कुछ सीखा। इन सभी देशोंका भारतवर्ष से एक तरह का गुरु शिष्य का-सा शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गया।

भारतीय उपनिवेश—दूसरी श्रेणी के देशों में कम्बोडिया, चम्पा, जावा, सुमात्रा, बोर्निओ और बाली की गिनती है ईसवी सन के प्रारम्भिक दिनों में, भारतवर्ष के अनेक साहसी नागरिक इन देशों में जाकर बस गए। दक्षिण-पूर्वीय एशिया के सम्पूर्ण प्रदेशों में एक समय भारतीय राजा राज्य कर रहे थे उन सभी में भारतीय नागरिक आबाद हुए थे और इन देशों की कला, सभ्यता धर्म तथा साहित्य का उन सभी में प्रसार हो गया था। वहां संस्कृत के जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं, उन से प्रतीत होता है कि इन भारतीय उपनिवेशों में संस्कृत साहित्य के सभी अंगों का गम्भीर अध्ययन होता था। इन उपनिवेशों में पहले हिन्दू धर्म का प्रचार हुआ; उसके बाद, अनेक उपनिवेशों में उसका स्थान बौद्ध धर्म ने ले लिया।

इन उपनिवेशों में भारतीय संस्कृति का विस्तार इतनी निरन्तरता के साथ और क्रमशः हुआ कि भारतवर्ष में इस बात की विशेष चरचा नहीं हुई। भारतीय सभ्यता का यह प्रसार किन्हीं राजनीतिक विजयों का परिणाम नहीं था, अपितु यह एक उच्च सभ्यता का अपेक्षाकृत कम ऊँचाई की सभ्यताओं पर स्वाभाविक प्रभावके रूप में था। एक उन्नत सभ्यता अपने गुणों के बल पर अपनी भौगोलिक सीमाओं को लांघ कर विदेशों में भी जा पहुँची।

संस्कृति प्रसार का एक महान् साधन—भारतवर्ष से जो लोग अन्य ऐशियाई देशों में जाकर आबाद हुए, उन्हों ने भारतीय सभ्यता के विदेशों में प्रसार होने की प्रक्रिया में बड़ी सहायता पहुँचाई। दक्षिण पूर्वीय एशिया के सुन्दर प्रदेशों और द्वीपों में जो भारतीय बसने के लिए गए, उन्हें पहले-पहल वहां के जंगली निवासियों से वासता पड़ा। भारतीयों ने इन नग्न असभ्यों का नाश नहीं कर दिया, अपितु उन्होंने इन्हें सभ्य बनाने का गम्भीर प्रयत्न किया। शीघ्र ही वे लोग भारतवर्ष की कला, साहित्य, धर्म, भाषा, कानून और रीति रिवाज सीख गए। कम्बोडिया के खमेर, चम्पा के चाम, स्याम के थाई और जावा के मलई—ये सभी विदेशी जातियां बहुत शीघ्र मन, वचन और कर्म से भारतीय संस्कृति की भावनाओं में रंग कर एक समान हो गई। सभ्यता का प्रकाश पाकर इन लोगों ने कमाल कर दिखाया।

भारतीय उपनिवेशों में धर्म—प्रायः इन सभी उपनिवेशों में पहले हिन्दू धर्म का प्रसार हुआ। बाद में कहीं-कहीं बौद्ध धर्म का सन्देश भी लोकप्रिय हो गया। उस के बाद इन उपनिवेशों, में हिन्दू धर्म और महायान सम्प्रदाय का प्रभुत्व हो गया। कहीं

कहीं ये दोनों धर्म मिश्रित रूप में भी दिखाई दिए। अनेक उपनिवेशों में धर्म और राजनीति को भी मिला दिया गया। इन उपनिवेशों के प्रमुख धर्म मन्दिरों से राष्ट्रीय भवनों का कार्य भी लिया जाता था। राजाओं को अर्धदैवीय माना जाता था। अनेक राजाओं के देहान्त के बाद उन की जो प्रस्तर मूर्त्तियां बनाई गई, उन में उन्हें अपने अभीष्ट देवताओं का रूप भी दिया गया।

कम्बोडिया—इन उपनिवेशों में भारती-चीन का कम्बोडिया उपनिवेश सब से अधिक शक्तिशाली था। ईसा की पहली सदी में यहां भारतीय हिन्दू आबाद हुए थे। उन के कम्बोडिया में जाने पर वहां एक संगठित और शक्तिशाली राज्य स्थापित हुआ। उस की शासन व्यवस्था आर्यों भारतीय राज्यों के ढंग पर थी। कम्बोडिया एक सम्पन्न और उपजाऊ देश था। भारतीयों ने बड़ी आसानी से उसे समृद्ध बना दिया। आठवीं और नवीं सदी में वह उन्नति के शिखर पर जा पहुँचा। कम्बोडिया में लोगों ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया और वर्तमान अंग-कोर थौम नामक स्थान पर उन्होंने अपनी शानदार राजधानी बनाई। कम्बोडिया के एक जंगल में इस राजधानी के खण्डरात आज भी उपलब्ध होते है।

कम्बोडिया का पतन—तेरहवीं सदी में इस उपनिवेश का पतन प्रारम्भ हो गया। पहले उन से उत्तर दिशा का प्रदेश छिन गया और बाद में स्याम ने सम्पूर्ण कम्बोडिया को अपने अधीन कर लिया। आजकल यह प्रदेश फ्रांस के अधीन है और वर्तमान

काल में भी कम्बोडिया के एक छोटे-से नगर में प्राचीन कम्बोडिया की विभूति की झलक दिखाई देती है।

चम्पा—कम्बोडिया के उत्तर में चम्पा का उपनिवेश था। उसकी राजधानी अमरावती थी। चम्पा का उपनिवेश भी ईसा की पहली सदी में ही कायम हुआ था। अनेक उतार-चढ़ाव देख कर भी चम्पा का यह भारतीय उपनिवेश पन्द्रहवीं सदी तक पर्याप्त सम्पन्न और उन्नत रहा। बीच में एक वार केवल कुछ समय के लिए कम्बोडिया ने भी उस पर अधिकार कर लिया था। भारतवर्ष और चीन की दो महान् सभ्यताओं के बीच में चम्पा एक शृंखला का कार्य करता था। अन्त में अन्नाय निवासियों के आक्रमणों से चम्पा नष्ट हो गया।

कम्बोडिया में तो हिन्दू रीतिरिवाज आज तक भी उपलब्ध होते हैं, परन्तु चम्पा पर से प्राचीन हिन्दू संस्कृति का प्रभाव धुल-सा गया है। चम्पा के अधिकांश निवासी अब मुसल्मान हो गए हैं।

जावा और सुमात्रा—इन दोनों द्वीपों पर भारतीय उपनिवेशों की स्थापना बहुत प्राचीन काल में हुई थी। जावा और सुमात्रा भारतवर्ष से काफी निकट हैं, अतः स्वभावतः भारतीय यात्री सब से पूर्व इन्हीं द्वीपों में आवाद हुए। दक्षिण में अभी तक इस आशय की एक कहावत प्रचलित है कि जो व्यक्ति जावा में चला जाता है, वह फिर घर नहीं लौटता। पांचवीं सदी के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान भारतवर्ष से स्वदेश को लौटते हुए जावा में भी उतरा था। उस ने लिखा है कि तब जावा में हिन्दू धर्म बड़ी उन्नति पर था।

शैलेन्द्र—सातवीं सदी ईसवी में सुमात्रा द्वीप में सुप्रसिद्ध शैलेन्द्र राजवंश का प्रारम्भ हुआ। ये राजा बौद्ध धर्म के बड़े सहायक थे। शैलेन्द्रों की राजधानी भारतीय विद्याओं का प्रमुख केन्द्र थी। उनकी अध्यक्षता में सुमात्रा में शिल्पकला की बड़ी उन्नति हुई।

बोर्निओ और बाली—सुदूर बोर्निओ के द्वीप में भी भारतीय सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। बाली में हिन्दू धर्म का एक विकृत रूप आज तक भी विद्यमान है। वहाँ आज भी हिन्दू मन्दिर मौजूद हैं और उनमें हिन्दू देवताओं की पूजा होती है।

भारतीय औपनिवेशिक कला—इन उपनिवेशों के इतिहास में उनकी उन्नत भारतीय शिल्पकला का स्थान सब से प्रमुख है। यह बात निर्विवाद है कि इन उपनिवेशों में यह कला भारतवर्ष से ही आई। परन्तु यह भी एक तथ्य है कि इन उपनिवेशों में आकर यह कला अधिक उन्नत हो गई और उसके क्रम में भी कुछ परिवर्तन आगया। इस औपनिवेशिक कला की रचनाओं को नक़ल या आवृत्ति नहीं कहा जा सकता। ये अपने में पूर्णत: मौलिक और अत्यधिक उन्नत कला की कृतियाँ हैं। भारतीय शिल्प पर जो प्रतिबन्ध थे, वे इस औपनिवेशिक कला में नहीं पाये जाते और उसमें अनेक नए प्रभावों का चिन्ह भी दिखाई देता है।

अङ्कोर वात—कम्बोडिया का प्रसिद्ध मन्दिर अङ्कोर वात बारहवीं सदी में बनाया गया था। यह मन्दिर अत्यधिक भव्य है। उत्थान के अनुपातों की सुन्दरता, रुचि की श्रेष्ठता, उच्च

सज्जा आदि की दृष्टि से यह मन्दिर बहुत ही ऊँची श्रेणी की कला का नमूना है।

बोरोबुदूर का स्तूप—इसी तरह जावा में बोरोबुदूर का जो महान् स्तूप है, वह केवल जावा का नहीं, अपितु सम्पूर्ण बौद्ध संसार का सब से बड़ा स्तूप है। इसका निर्माण करने के लिए हज़ारों निपुण कारीगर बरसों तक मेहनत करते रहे होंगे और तब जाकर यह महान, विशाल और ऊंची इमारत तैयार हो सकी होगी। इन सभी कृतियों की कला बहुत ही ऊँची कोटि की है और उन्हें देख कर प्राचीन भारतीय कलाकारों की धाक माननी ही पड़ती है।

डा० फीनो (Finot) का कथन है कि "बहुत समय तक भारतवर्ष अपने को अपने अन्तरीप की सीमा में ही सीमित समझता रहा। परन्तु आज वह अभिमान भरी निगाह उठा कर समुद्र-पार के उन विस्तृत द्वीपों और प्रदेशों की ओर देख रहा है जहां कभी उस ने बड़े उन्नत और सम्पन्न उपनिवेशों का निर्माण किया था; जहां उस ने तत्कालीन संसार की बड़ी-बड़ी कलापूर्ण इमारतें बनाई थीं। वह समय दूर नहीं प्रतीत होता, जब नवीन भारत के सुपुत्र अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के सुन्दरतम पुष्पों की पूजा करने के लिए सुदूर अंगकोर तक की यात्रा किया करेंगे।"

दक्षिण-पूर्वीय एशिया के इन सुदूर द्वीपों में अपना आधिपत्य जमाने के साथ ही साथ भारतीय संस्कृति बड़ी शान्ति के साथ पूर्व की ओर भी अपने कदम बढ़ा रही थी। भारतवर्ष का बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति की प्रकाशमान मशालें लेकर पूर्व के इन देशों

में पहुँचा। पूर्व में भारतवर्ष की इन सांस्कृतिक विजयों का भी संक्षिप्त उल्लेख यहां कर देना चाहिए।

लंका—कहा जाता है कि विजय नाम के बंगाल के एक राजपुत्र ने छठी सदी ईसापूर्व में लंका की विजय की थी। अनुश्रुति है कि राजकुमार विजय एक जहाज़ पर सवार होकर लङ्का में गया था। इस जहाज़ पर कुल मिला कर ७०० व्यक्ति थे। तीसरी सदी ईसा पूर्व में सम्राट् अशोक के प्रचारकों ने, राजकुमार महेन्द्र की अध्यक्षता में इस द्वीप में बौद्ध धर्म का इतना स्थायी प्रचार किया कि लङ्का के निवासी आज तक बौद्ध ही चले आरहे हैं। तामिल साम्राज्य के हिन्दू आक्रान्ता लङ्का को हिन्दू धर्म में दीक्षित नहीं कर सके। यहां तक कि बौद्ध धर्म का परिवर्तित स्वरूप महायान सम्प्रदाय भी लङ्का में लोकप्रिय नहीं हो सका। लङ्का के बौद्ध धर्म का दक्षिण भारत के बौद्ध धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। सम्भवतः राजकुमार महेन्द्र लङ्का में जाने से पूर्व काफ़ी समय के लिए दक्षिण भारत में भी रहा होगा और उसने वहां भी बौद्ध धर्म के एक केन्द्र की स्थापना की होगी। कांची बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था और उसके द्वारा लङ्का और ब्रह्मा के साथ भारतवर्ष का जीवित सम्बन्ध कायम था।

बर्मा—प्राचीन काल में ब्रह्मा और भारतवर्ष का परस्पर क्या सम्बन्ध था, इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। यह भी मालूम नहीं कि ब्रह्मा में बौद्ध धर्म का प्रारम्भ कब से हुआ। यह पूरी तरह सम्भव है कि ब्रह्मा में भी अशोक के प्रचारकों ने बौद्ध धर्म का प्रकाश पहुँचाया हो। बौद्ध साहित्य में लिखा है कि सम्राट् अशोक ने सुवर्ण भूमि (ब्रह्मा) में भी अपने प्रचा-

रक भेजे परन्तु अशोक के शिला-लेखों में सुवर्ण-भूमि का उल्लेख नहीं हैं। वाद में अवश्य ही भारतवर्ष तथा चीन से वौद्ध प्रचारक इस देश में आए। होंगे ब्रह्मा के अधिकांश निवासी आज भी वौद्ध हैं और उनका धर्म लङ्का के बौद्ध धर्म से मलता है। इसका अभिप्राय है कि बौद्ध धर्म का यह रूप अवश्य ही ईसा की छठी सदी से पूर्व तक ब्रह्मा में प्रचलित होगया होगा। एक अनुश्रुति है कि बुद्धघोष ने ब्रह्मा में बौद्ध धर्म का सन्देश पहुँचाया। पल्लव लोगों की राजधानी कांची का पेगू से घनिष्ठ सम्बन्ध था। ईसा की ग्यारहवीं सदी में पेगू को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण ब्रह्मा में बौद्ध धर्म वहुत विकृत हो गया था। राजा अनवरत ने पेगू को विजय कर लिया और उसने सम्पूर्ण ब्रह्मा में पुनः विशुद्ध बौद्ध धर्म का प्रचार किया।

स्याम—स्याम में थाई जाति के लोग रहते हैं। ये लोग सब से पूर्व दसवीं सदी में यहां जाकर आवाद हुए थे। संभवतः थाई जाति का मूल स्थान चीन के एक प्रान्त में था, और वहीं से ये लोग बौद्ध धर्म का एक रूप अपने साथ स्याम में लाए थे। तेहरवीं सदी में स्यामी राजाओं के राज्य का बड़ा विस्तार होगया। तव पेगू भी उनके राज्य में अन्तर्गत था। इस के कुछ ही समय वाद स्याम के लोगों ने लङ्का से एक महान् बौद्ध आचार्य को अपने देश में निमन्त्रित किया। उसने लङ्का के बौद्ध धर्म के आधार पर सम्पूर्ण स्याम में बौद्ध धर्म का संगठन किया। प्रतीत होता है कि उस युग में पेगू दक्षिणी बौद्ध धर्म का एक वड़ा महत्वपूर्ण केन्द्र था। सम्भवतः पेगू ही से बौद्ध धर्म का मौलिक रूप उत्तर वर्मा और स्याम में फैला।

वर्तमान कम्बोडिया का बौद्ध धर्म वहां के प्राचीन बौद्ध धर्म से बिल्कुल भिन्न है। कम्बोडिया का वर्तमान धर्म तो स्याम से आए प्रारम्भिक बौद्ध धर्म का परिवर्तित रूप ही प्रतीत होता है। कम्बोडिया और स्याम के राजदरबारों में राजकीय त्यौहारों का संचालन आज तक भी ब्राह्मण लोग ही करते हैं। इन ब्राह्मणों का वहां के वर्तमान धर्मों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तथापि उनकी उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि इन देशों ने धर्म की शिक्षा भारतवर्ष से ही ली, चीन से नहीं।

खोतन—अनुश्रुति के अनुसार अशोक के शासन काल में भारतीय यात्री खोतन तथा मध्य एशिया के अन्य भागों में जाकर आबाद हुए। खोतन में बौद्ध धर्म का प्रसार अवश्य ही ईसा के जन्म से बहुत समय पूर्व हो चुका होगा, क्यों कि ईसवी सन की पहली सदी में खोतन ही से बौद्ध धर्म चीन में पहुँचा। बौद्धधर्म के दो महत्वपूर्ण भेद मध्य एशिया में प्रचलित थे। काशघर, बदख्शान और कूचा में सर्वास्तिवाद मत प्रचलित था। सम्भवतः कुशान राजाओं ने भी इसी सर्वास्तिवाद मत को ही अपनाया था। दूसरा मत महायानों का था। इस युग में महायान सम्प्रदाय खोतन और यारकन्द में बहुत लोकप्रिय हो रहा था।

चीन—भारतवर्ष तथा चीन का संस्कृतिक सम्बन्ध ईसा की प्रथम शताब्दी में शुरू होकर करीब १००० वर्षों तक कायम रहा। यह सम्बन्ध ऐतिहासिक अध्ययन का एक बड़ा मनोरंजक और महत्वपूर्ण विषय है। अन्य देशों के समान चीन में भी बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति के प्रसार का कारण बना। चीन में बौद्ध धर्म का प्रसार अनेक मार्गों से हुआ। सब से पूर्व, ईसा की पहली

सदी के मध्य में, खोतन और मध्य एशिया के कतिपय अन्य प्रदेशों से बौद्ध धर्म का विश्वविजयी सन्देश चीन में पहुँचा और बहुत शीघ्र वह सम्पूर्ण चीन में लोकप्रिय हो गया। चीनी लोग पहले ही से पर्याप्त सभ्य थे। अपने इस नवीन धर्म के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने की जबरदस्त इच्छा उन लोगों में उत्पन्न हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष और चीन में पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्ध पैदा हो गए। महात्मा बुद्ध की जन्मभूमि का दर्शन करके, इन अनेक सदियों में, हज़ारों चीनी बौद्ध भिक्षु अपने जन्म को सफल मानते रहे। भारतवर्ष से अनेक बौद्ध धर्माचार्यों को समय-समय पर चीन में निमन्त्रित किया जाता रहा। उन दिनो जल और स्थल दोनों मार्गों से चीन में आवागमन किया जाता था। बोधिधर्म नाम का एक महान भारतीय आचार्य सन ५२० में चीन के कैण्टन बन्दरगाह पर उतरा। उज्जैन का सुप्रसिद्ध विद्वान परमार्थ मलाया और भारता-चीन के रास्ते चीन में पहुँचा। दोनों देशों की इस सांस्कृतिक घनिष्ठता से चीन में साहित्य की भी खूब उन्नति हुई और वहां भारतीय साहित्य के अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया गया।

बौद्ध धर्म की एक और शाखा तिब्बत की राह से चीन में पहुँची। मंगोल राजा खुबिलाई अपने अनुयाइयों से कहा करता था कि लामा धर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ है। मंगोल वंश के शासन काल में उत्तरीय चीन में अनेक लामा मन्दिरों का निर्माण किया गया। ये मन्दिर वहाँ अब तक भी विद्यमान हैं। चीन के राजनीतिक इतिहास में भी लामा धर्म का भाग बड़ा महत्वपूर्ण है।

जापान—पूर्व में भारतीय सभ्यता का प्रकाश सुदूर जापान तक पहुँचा। जापान और कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रसार चीन के प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के आधार पर हुआ। उस पर लामा धर्म का कोई प्रभाव नहीं था। चौथी सदी में कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ और छटी सदी में जापान में। जापान और चीन का घनिष्ठ सम्बन्ध रहते हुए भी भारतवर्ष और जापान का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था। कालान्तर में चीन से बौद्धधर्म के अन्य रूप भी जापान में पहुँचे। बारहवीं और तेरहवीं सदी में जापान में बौद्ध धर्म बहुत उज्ज्वल, जीवित और निर्माण शक्ति से युक्त स्वरूप में दिखाई दिया।

अन्नाम—दसवीं सदी ईसवी में चीन से बौद्ध धर्म का प्रसार अन्नाम में हुआ। अन्नाम में भारतीय और चीनी सभ्यताओं का सीधा सम्पर्क हुआ। अन्नाम को इन दोनों सभ्यताओं की युद्ध-भूमि भी कहा जा सकता है। शुरु में अन्नाम पर चीन का प्रभाव अधिक था। बाद में भारतीय उपनिवेश चम्पा ने अन्नाम को विजय कर लिया और अन्नाम भी भारतीय सभ्यता का एक केन्द्र बन गया।

तिब्बत—पहाड़ी देश तिब्बत का लामा धर्म बौद्ध धर्म का ही एक रूपान्तर है। बंगाल के विकृत बौद्ध धर्म की ही यह एक शाखा है। तिब्बत के इस लामा धर्म में दलाई लामा महात्मा बुद्ध के अवतार के समान माना जाता है। उसके अधिकार अनन्त हैं। मंगोलों का बौद्ध धर्म भी तिब्बत के लामा धर्म के ही समान है। सब से पूर्व राजा खुबिलाई के समय यहाँ लामा धर्म का प्रसार हुआ। सोलहवीं सदी में, तीसरे दलाई लामा के शासन काल में यह लामा धर्म बहुत शक्तिशाली बन गया।

तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार भारतवर्ष के बौद्ध उपदेशकों ने ही किया। वहाँ आठवीं सदी में एक भारतीय बौद्ध आचार्य ने लामा धर्म की स्थापना की। उसके बाद ११वीं सदी में एक भारतीय आचार्य ,ने तिब्बत के धर्म में अनेक सुधार किए।

नैपाल—बौद्ध धर्म का एक विकृत रूप नैपाल में आज तक भी पाया जाता है। कहा जाता है नैपाल में बौद्ध धर्म का प्रचार सम्राट् अशोक की पुत्री ने किया था। तिब्बत के समान नैपाल में किसी शक्तिशाली पुरोहित तन्त्र ने वहाँ बौद्ध धर्म की रक्षा का प्रयत्न नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म की सब कुछ जज़्ब कर लेने वाली सामर्थ्य ने नैपाल के बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म में कुछ अधिक अन्तर नहीं रहने दिया। नैपाल में संस्कृत भाषा में लिखे प्राचीन बौद्ध साहित्य की बहुत-सी हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त हुई हैं।

पश्चिमी एशिया में भारतीय संस्कृति—पश्चिमी एशिया पर अनेक सदियों तक इस्लाम के जो जबरदस्त हमले होते रहे, उन्होंने वहां के प्राचीन धर्म और संस्कृति को पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया तथापि इस बात के प्रमाण हैं कि पश्चिमी एशिया पर कभी भारतीय संस्कृति का गहरा प्रभाव था। काबुल की घाटी और अफ़गानिस्तान बहुत समय तक भारतवर्ष का आन्तरिक भाग बन कर रहे। इन प्रदेशों में अनेक सुन्दर-सुन्दर बौद्ध अवशेष उपलब्ध हुए हैं। ह्यूनसांग ने फारस के एक बौद्धमठ का वर्णन भी किया है। अलबरूनी ने लिखा है कि प्राचीन काल में खुरासान, फारस, ईराक, मोसुल और सीरिया की सीमा तक के सभी प्रदेश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।

बारहवां अध्याय

पूर्व-मध्यकालीन भारत

[उत्तरीय भारत का राजनीतिक इतिहास]

(६५० से १२०० ईसवी)

महाराज हर्षवर्धन के देहान्त के बाद भारतवर्ष की राजनीतिक एकता फिर से छिन्न-भिन्न हो गई। इसके बाद का युग आरम्भिक मध्यकाल का युग कहलाता है। इस युग में राजपूतों ने विशेष शक्ति संग्रह किया और भारतवर्ष भर में बहुत-से छोटे-छोटे राज्य कायम होगए। इस युग के राजनीतिक इतिहास की एकमात्र महत्वपूर्ण घटना दक्कन के राष्ट्रकूटों, बंगाल के पालों तथा उत्तर-भारतीय गुर्जरप्रतिहारों में प्रभुत्व के लिए निरन्तर पारस्परिक संघर्ष है। यह संघर्ष बहुत लम्बे काल तक जारी रहा।

राजपूतों का उद्भव—हर्ष वर्धन के देहान्त के बाद, करीब ६०० वर्षों तक, अर्थात् मुसल्मानों की विजय से पूर्व तक, इस देश के राजनीतिक इतिहास का बड़ा भाग राजपूतों के उत्थान और उनकी पारस्परिक लड़ाइयों से भरा पड़ा है। इतिहास

के स्पष्ट प्रमाणों से यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि राजपूतों का उद्भव बिलकुल भारतीय ही था। उनमें अनेक जातियो के रुधिरों का सम्मिश्रण प्रतीत होता है। राजपूतों में अनेक वंश विशुद्ध क्षत्रिय जाति के भी थे। तथापि अनेक राजपूत वंशों के सम्बन्ध में यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है उनमें पश्चिमी भारत के विजयी विदेशी आक्रान्ताओं का रुधिर था। प्राचीन युग में वर्ण व्यवस्था इतनी उदार थी कि उसमें नई जातियों का प्रवेश भी हो सकता था। हम यह देख चुके हैं कि २०० ईसापूर्व से लेकर सन २०० ईसवी तक जिन विदेशी जातियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया, वे इसी देश में आबाद होती चली गई। बहुत शीघ्र वे जातियां हिन्दू समाज का आन्तरिक भाग बन गई। अनेक विदेशी शासक हिन्दू धर्म के संरक्षक तक बन गए थे। इसी तरह ईसा की पांचवीं और छटा सदी में जिन हूण आक्रान्ताओं ने भारतवर्ष के कुछ प्रदेशों का विजय किया था, वे भी बहुत शीघ्र हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट हो गए थे। हूण अपने शासन का नाश हो जाने पर भी पश्चिमी भारत में बस गए और बहुत शीघ्र वे हिन्दू समाज का भाग बन गए। हूणों की ऊँची जातियां हिन्दू धर्म में सम्मिलित होकर राजपूतों का भाग बन गई। इन जातियों के नाम गुर्जर और मैत्रक थे। हूणों की नीची जातियाँ हिन्दू समाज में अहीर, जाट आदि नामों से कहलाई जाने लगा। राजपूत जातियों में मारवाड़ के सिसोदिया, प्रतिहार, चौहान, परमार और चालुक्य विशेष प्रतिष्ठित समझे जाते हैं।

कुछ राजपूत वंश उन जातियों की सन्तान हैं, जो लड़ाकू जातियां प्राचीन काल में ही क्षत्रिय वर्ण में सम्मिलित कर ली गई

थीं। दक्षिण के राष्ट्रकूट, मारवाड़ के राठौर, बुन्देलखण्ड के चन्देले और बुन्देले राजपूत सम्भवतः इसी श्रेणी के हैं।

श्रीयुत चिन्तमणि विनायक वैद्य तथा कतिपय अन्य ऐतिहासिकों का मत है कि सम्पूर्ण राजपूत विशुद्ध भारतीय आर्य वंशों के ही थे। इस संक्षिप्त पुस्तक में इस विषय के विवाद के विस्तार में जाना सम्भव नहीं है।

राजपूत चरित्र—यद्यपि इन विभिन्न वंशों के राजपूतों का प्रारम्भ अनेक जातियों से हुआ था, तथापि समान परिस्थितियों के प्रभाव से क्रमशः उन सब में एक ही प्रकार के जातीय गुणों का विकास होगया। वीरता राजपूतों का स्वभावसिद्ध गुण बन गया। अपने सम्पूर्ण इतिहास में जहां तक बन पड़ा, राजपूतों ने अपनी वीरता की ख्याति पर बट्टा नहीं लगने दिया। इन राजपूतों का प्रत्येक पुरुष स्वभावसिद्ध योद्धा होता था। अनेक अवसरों पर राजपूत स्त्रियों ने भी क्षत्रियोचित वीरता का अनुपम परिचय दिया। राजपूतों का पेशा ही युद्ध करना था। उन में यह प्रचलित था कि कि जिस राजपूत की मौत घर में हुई, उस का राजपूत जन्म ही व्यर्थ गया। चारण और भाटों ने अपने स्फूर्तिप्रद गीतों के बल पर राजपूतों में इस अदम्य वीरता की भावना को निरन्तर जागृत रक्खा। राजपूतों के दो गुण सर्वविदित थे। एक तो यह कि वे स्त्रियों का बड़ा सम्मान करते थे और दूसरा यह कि वे कभी झूठ नहीं बोलते थे।

पूर्व मध्यकालीन युग में उत्तरीय भारत में जिन राज्यों का निर्माण हुआ, उन में मुख्य राज्य निम्नलिखित हैं—

नैपाल—पहाड़ी प्रदेश नैपाल की सुन्दर घाटी भारतवर्ष

और तिब्बत को मिलाने का कार्य करती रही है। प्रारम्भ ही से नैपाल पर प्रायः पृथक् राजा ही शासन करते रहे। ये राजा प्रायः पूर्णतया स्वाधीन रहे। कभी-कभी उन्होंने अशोक, समुद्रगुप्त, हर्षवर्धन जैसे शक्तिशाली सम्राटों की अधीनता भी स्वीकार कर ली। हर्ष वर्धन के बाद, करीब ५० वर्षों तक, नैपाल पर तिब्बत का आधिपत्य रहा। काफ़ी लम्बे काल तक नैपाल पर लिच्छवी आदि वंश राज्य करते रहे। आज कल वहां गोरखों का शासन है। वर्तमान नैपाली राजवंश अपनी गणना राजपूतों में करते हैं। अठारवीं सदी में मेवाड़ के इस राजवंश ने नैपाल का विजय किया था। नैपाल के इतिहास से यह बात स्पष्टरूप से समझ आजाती है कि हिन्दूधर्म ने किस प्रकार बौद्ध धर्म को धीरे-धीरे अपने अन्दर जज़्ब कर लिया। नैपाल में भारतीय साहित्य की अनेक बहुमूल्य कृतियां उपलब्ध हुई हैं। नैपाल की कला तिब्बत की कला से मिलती है।

कामरूप—कामरूप का राज्य वर्तमान आसाम की जगह अवस्थित था। उसके चारों ओर की परिस्थितियों ने उसे शेष सम्पूर्ण भारतवर्ष से इतना पृथक् कर रक्खा था कि भारतीय राजनीति का कामरूप राज्य पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। सम्भवतः कामरूप ने मौर्य साम्राज्य की अधीनता भी स्वीकार नहीं की थी। परन्तु समुद्रगुप्त की शक्ति का सिक्का कामरूप को भी स्वीकार करना पड़ा था। कामरूप में बौद्ध धर्म का प्रचार कभी नहीं हुआ, यद्यपि इस देश के राजा ने ह्यूनसांग का स्वागत बड़े उत्साह के साथ किया था। महाराज हर्ष ने कामरूप को अपने अधीन कर लिया। तब कामरूप के राजा कन्नौज और प्रयाग की महा-

सभाओं में भी सम्मिलित हुए थे। हर्ष के देहान्त के बाद कामरूप का राज्य स्वतन्त्र हो गया और उस ने बंगाल की ओर अपनी शक्ति का विस्तार किया। इस के बाद शालस्तम्भ नाम के एक विदेशी राजवंश ने कामरूप पर अधिकार कर लिया। इस वंश को तब म्लेच्छ कहा जाता था। शालस्तम्भ वंश ने कामरूप पर करीब ३०० वर्षों तक राज्य किया। मुस्लिम काल में बहुत समय तक मुसलमान आक्रान्ता कामरूप पर असफल आक्रमण करते रहे। कामरूप मंगोल और भारतीय आदर्शों के मेल का स्थान था। हिन्दू धर्म के शाक्त सम्प्रदाय का विकास कामरूप में ही हुआ। कामरूप का कामाख्या का मन्दिर शाक्त मन्दिरों में सब से अधिक महत्वपूर्ण है। जिन प्रक्रियाओं से जंगली जातियों के असभ्य निवासी कट्टर और विश्वासी हिन्दू बन जाते हैं और असभ्य जातियो के देवता हिन्दु देवताओं के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, वे प्रक्रियाएँ यहाँ के इतिहास में स्पष्ट दिखलाई देती हैं। तेरहवीं सदी में उत्तर-बरमा की जातियों ने आसाम पर अधिकार कर लिया, परन्तु कालान्तर में वे जातियां भी हिन्दू समाज में सम्मिलित हो गईं।

कन्नौज का यशोवर्मन—आठवीं सदी ईसवीं में राजा यशोवर्मन के शासन काल में कान्यकुब्ज (कन्नौज) का प्राचीन नगर एक शक्तिशाली राज्य का केन्द्र बन गया। यशोवर्मन के जन्म, कुल आदि के सम्बन्ध में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। वह एक सफल विजेता था। उस ने चीन देश में भी अपनी एक दूतमण्डली भेजी थी। यशोवर्मन ने बंगाल के गौड़ राजा को हराया था। पश्चिम में उस ने सम्पूर्ण राजपूताने को विजय कर लिया और

पश्चिमी घाट तक जा पहुँचा। काश्मीर नरेश के साथ मित्रता स्थापित करके उसकी सहायता से यशोवर्मन ने तिब्बत पर चढ़ाई कर दी। परन्तु बाद में काश्मीर का राजा ललितादित्य उसका शत्रु बन गया। ललितादित्य ने यशोवर्मन को हरा दिया और सन् ७४० में यशोवर्मन का देहान्त होगया।

साहित्य का संरक्षक—यशोवर्मन को साहित्य से बड़ा प्रेम था। संस्कृत का सुप्रसिद्ध नाटककार भवभूति, जिसका 'उत्तररामचरितम्' संस्कृत नाटक की दो तीन सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में गिना जाता है, यशोवर्मन के दरबार का रत्न था। वाक्पति भी यशोवर्मन के दरबार में था। वाक्पति ने 'गौड़वह' नामक प्राकृत ग्रन्थ में यशोवर्मन की विजय-यात्राओं का वर्णन किया है।

काश्मीर—सौभाग्य से कल्हन की राजतरंगिणी में काश्मीर के इतिहास का काफ़ी भाग सुरक्षित है। काश्मीर का प्रदेश मौर्य साम्राज्य तथा कुशान साम्राज्य में अन्तर्गत था। परन्तु सम्भवतः गुप्त सम्राट् उस पर अपना शासन कायम नहीं कर सके थे। आठवीं सदी ईसवी में काश्मीर पर चन्द्रापीड़ नाम का एक शासक राज्य कर रहा था। कल्हन ने इस राजा के सम्बन्ध में एक मनोरंजक कहानी लिखी है। चन्द्रापीड़ ने एक विशाल मन्दिर बनवाने का संकल्प किया। मन्दिर बनना शुरु भी हो गया। उस के लिए जो जगह निर्धारित की गई थी, उस में एक चमार की झोंपड़ी भी पड़ती थी। उस चमार ने किसी भी कीमत पर अपनी झोंपड़ी देने से इन्कार कर दिया। तब चन्द्रपीड़ ने आदेश दिया कि चमार पर ज़बरदस्ती न करके मन्दिर का काम रोक दिया जाय

और उसके लिए कोई अन्य स्थान तालाश किया जाय। परन्तु इसके बाद वह चमार स्वयं चन्द्रापीड़ के पास गया और बोला—"महाराज, मेरे जन्म से यह कुटिया मेरी माता के समान रहीं है। इसने मेरे अच्छे और बुरे दिन देखे हैं। मैं यह बरदाश्त नहीं कर सकता कि इसे गिरा दिया जाय। परन्तु यदि आप स्वयं मेरे घर आकर मुझ से इसे खरीद लेना चाहेंगे तो मैं इन्कार न कर सकूँगा।" राजा चन्द्रापीड़ ने ऐसा ही किया। उस चमार के घर जा कर उन्होंने उसकी झोंपड़ी खरीद ली।

ललितादित्य (सन् ७२४–७६०)—राजा ललितादित्य काश्मीर का बड़ा शक्तिशाली राजा था। हम देख ही चुके है कि पहले उसने तिब्बत की चढ़ाई में यशोवर्मन का साथ दिया था, परन्तु बाद में स्वयं ही यशोवर्मन पर चढ़ाई कर दी थी। यशो-वर्मन को जीत कर वह कन्नौज, मगध कामरूप और कलिंग का अधिपति वन गया। कहा जाता है कि उसने मालवा, गुजरात और सिन्ध के अरबों को भी जीता। ललितादित्य के शासन काल में काश्मीर राज्य उत्तरीय भारत की सब से बड़ी राजनीतिक शक्ति बन गया। चीन में उसने एक दूतमण्डली भेजी और तिब्बत तथा उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त की कतिपय अन्य जातियों को भी जीता। कहा जाता है कि उसने काश्मीर में अनेक भव्य इमारतों तथा मन्दिरों का निर्माण कराया। इन में मार्तण्ड का मन्दिर सब से अधिक प्रसिद्ध है। यह मन्दिर सूर्य भगवान के नाम पर समर्पित किया गया है। मार्तण्ड के मन्दिर के अवशेष प्राचीन काश्मीरी वास्तु-विद्या के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं।

ललितादित्य के उत्तराधिकारी कमज़ोर थे। वे उसके साम्राज्य को अपने अधिकार में नहीं रख सके। तथापि उसके वंशज नवीं सदी के मध्य तक काश्मीर पर शासन करते रहे।

पूर्व-मध्य-कालीन युग में काश्मीर की स्वर्ग-सदृश घाटी संस्कृत साहित्य का केन्द्र बनी रही। काश्मीर के मार्ग ही से भारतीय सभ्यता खोतन, चीनी तुर्किस्तान तथा सुदूर पूर्व के देशों तक पहुँची।

तिब्बत—सातवीं और आठवीं सदी में तिब्बत का राज्य भी एक शक्तिशाली राज्य था। एक ओर उसका भारतवर्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध था और दूसरी ओर चीन से। हर्ष के देहान्त के बाद तिब्बत के अधिपति गांपो ने नैपाल पर आक्रमण करके हर्ष के राज्य का अपहरण करने वाले नैपाल नरेश को पराजित कर दिया। गांपो ने दो विवाह किए थे, एक नैपाली राजकुमारी से और दूसरा चीनी राजकुमारी से। गांपो तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ और कालान्तर में प्रायः सम्पूर्ण तिब्बत निवासी बौद्ध बन गए। गांपो ने ही लासा नगर की नींव डाली।

गुर्जर—पूर्व-मध्यकाल में उत्तर-भारत के सीमाप्रान्त पर जो प्रमुख राज्य थे, उनका संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया जा चुका है। वास्तविक उत्तरापथ में जिन दो शक्तियों का विकास हो रहा था, उनका नाम था गुर्जर और पाल। सम्भवतः गुर्जर वंश का हूण लोगों के साथ सम्बन्ध था और वे पंजाब से जोधपुर होते हुए दक्षिणी राजपूताने की ओर चले गए थे। हर्ष के पिता ने गुर्जरों के खिलाफ़ अनेक युद्ध किए थे। हर्ष के शासनकाल में गुर्जरों

का राज्य और भी अधिक विस्तृत हो गया। गुर्जरों का राजवंश प्रतिहार जाति में से था। वे गुर्जर-प्रतिहार नाम से प्रसिद्ध थे। नवम और दशम सदियों में वे भारतवर्ष की प्रमुख शक्तियों में गिने जाते थे। कहा जाता है कि बंगाल के पाल तथा दक्कन के राष्ट्रकूट भी गुर्जर राजाओं को कर दिया करते थे।

इन दिनों तक अरब लोगों ने सिन्ध पर अधिकार कर लिया था और वे अपने राज्य का विस्तार करने का प्रयत्न कर रहे थ। गुर्जर प्रतिहारों ने उन्हें आगे बढ़ने से सफलतापूर्वक रोके रक्खा। जिस तरह चालुक्यों ने दक्षिण में अरबों का प्रवेश न होने दिया था, उसी तरह उत्तर भारत में गुर्जरों ने अरबों को आगे बढ़ने न दिया। आबू पर्वत के उत्तर-पश्चिम में भिनमाल नामक स्थान पर दक्षिणी राजपूताने के इस राज्य की राजधानी थी। सातवीं सदी में भी, जब ह्यूनसांग इस प्रदेश में गया था, गुर्जरों को क्षत्रिय जाति में गिना जाता था।

वत्सराज—आठवीं सदी में राजा वत्सराज ने अपने गुर्जर प्रतिहार वंश को शक्तिसम्पन्न बना दिया। उसने अपने गुर्जर-राज्य का खूब विस्तार किया। गंगा और यमुना के बीच के प्रदेश में वत्सराज का पाल शक्ति से साम्मुख्य भी हुआ। इस युद्ध में पाल लोग हार गए।

तीन तरफ संघर्ष—इस प्रकार उत्तरीय भारतवर्ष में शक्ति संचय के लिए पूर्व मध्यकालीन भारत के तीन प्रमुख राज्यों में गहरे संघर्ष का सूत्रपात हुआ। इस संघर्ष को समझने के लिए हम यहां इन तीनों राजवंशों के राजाओं का नाम तथा उनकी तिथियां दे रहे हैं—

गुर्जर	राष्ट्रकूट
वत्सराज (७८३ ईसवी)	ध्रुव (७७६—७९४)
|	|
नागभट्ट (८१५ ,,)	गोविन्द तृतीय (७९४—८१४)
|	|
रामभट्ट	अमोघवर्ष (८१४—८७७)
|	|
भोज ८४३ – ८९०)	कृष्णा द्वितीय (९०२)
|	|
महेन्द्रपाल (८९० से ९१०)	

पाल

धर्मपाल (७८०—८१५ ईसवी)
|
देवपाल (८१५—८५० ,,)
|
विग्रहपाल (८५०—८६० ,,)
|
नारायणपाल (८६० से ९१५ ,,)

नागभट्ट—ईसा की नवम शताब्दी में गुर्जर प्रतिहार शासक नागभट्ट ने तत्कालीन उत्तरीय भारत के सब से अधिक महत्त्वपूर्ण नगर कन्नौज का विजय कर लिया। उसने सिन्ध, आन्ध्र और कलिंग से भी अपनी अधीनता स्वीकार करवा ली । कन्नौज पर नागभट्ट का अधिकार हो जाने पर उसका पालों से संघर्ष होना आवश्यक था। ऐसा ही हुआ भी। मुंगेर के निकट नागभट्ट का पाल सेना से भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में पाल लोग हार गए। सम्भवत: नागभट्ट ने ही भिनमाल की बजाय कन्नौज को गुर्जर राज्य की राजधानी बना दिया। कन्नौज में उसके उत्तरा-

धिकारी अनेक पीढ़ियों तक राज्य करते रहे। उधर पराजित पाल राजाओं ने दक्षिण के राष्ट्रकूटों से सहायता मांगी और पाल तथा राष्ट्रकूटों की सम्मिलित सेना ने नागभट्ट को हरा दिया।

भोज—नागभट्ट की पराजय से कुछ समय के लिए गुर्जर-प्रतिहारों की बढ़ती शक्ति को ग्रहण-सा लग गया। परन्तु नवीं सदी के मध्य में राजा भोज ने गुर्जर प्रतिहारों की शक्ति को फिर से चमका दिया। राजा भोज ने चेदीराज तथा सम्भवतः शिशोदियाराज की भी सहायता लेकर पाल लोगों को पूरी तरह से पराजित कर दिया। पाल लोगों को हराकर भोज काश्मीर, सिन्ध, मगध, बंगाल और चेदी के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण उत्तरीय भारत का शासक बन गया। उस ने करीब ४७ वर्षों तक राज्य किया। भोज एक लोकप्रिय शासक था। उसने प्रजा की उन्नति के लिए अनथक प्रयत्न किए। उस के उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल ने मगध राज्य का भी एक भाग अपनी सीमा में मिला लिया।

दसवीं सदी के प्रारम्भ में राजशेखर नाम का कवि इसी गुर्जर प्रतिहार वंश के राजा के दरबार में रहता था। उस ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उन में प्राकृत भाषा की कर्पूरमंजरी विशेष प्रसिद्ध है।

इस गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य का वर्णन अल मंसूरी नाम के एक मुसलमान यात्री ने किया है। उस से प्रतीत होता है कि गुर्जर राजाओं के पास एक बहुत बड़ी स्थिर सेना थी। उस ने लिखा है कि राजा भोज के शासन काल में सेना को एक स्थान से बहुत शीघ्र दूसरे स्थान पर भेजने का अत्युत्तम प्रबन्ध था।

भोज ने ऊंटों की सेना भी रक्खी हुई थी। राजा के कोष में असंख्य धन था और देश में चोरी-चकारी नहीं होती थी।

दक्षिण के राष्ट्रकूटों के राजा इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर चढाई कर दी और प्रतिहार राजा महीपाल को पराजित कर के कन्नौज पर अपना अधिकार कायम कर लिया। उस के बाद महीपाल ने अपने राज्य को शक्तिशाली बनाए रखने का भरसक प्रयत्न किया। परन्तु गुर्जर प्रतिहार राज्य उस दिन के बाद से क्रमशः अधिक-अधिक कमज़ोर ही होता चला गया।

पाल राजवंश—हर्षवर्धन के बाद बंगाल और बिहार का इतिहास कुछ अस्पष्ट-सा हो जाता है। कुछ समय तक मगध के छोटे-छोटे गुप्त वंशीय राजा दक्षिणी बिहार पर राज्य करते रहे। बंगाल के इतिवृत्त में राजा अतिसार का नाम सुरक्षित है। वह लक्ष्मणावती नगरी में राज्य करता था और उस ने हिन्दू धर्म की शक्ति को पुनरुज्जीवित करने का भारी प्रयत्न किया। उस के बाद काफ़ी लम्बे अरसे के लिए बंगाल भर में विशृंखलता का राज्य बना रहा। तदनन्तर बंगाल के छोटे-छोटे राजाओं ने स्वयं ही, गोपाल नाम के एक राजा को अपना मुखिया चुन लिया। इसी गोपाल ने पाल वंश की नींव डाली। पूर्वीय भारत में यह पाल वंश करीब ४०० वर्षों तक शक्तिशाली बन कर रहा।

धर्मपाल—गोपाल के पुत्र धर्मपाल ने अपने शासन काल में पालराज्य का खूब विस्तार किया। कन्नौज के राजा को हरा कर धर्मपाल ने वहां एक बड़ी सभा बुलाई। इस सभा में उत्तरी भारत के अनेक राजा बुलाए गए और उन सब ने धर्मपाल की अधीनता स्वीकार कर ली। इन में भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन,

अवन्ति, गान्धार और कीर के नाम भी सम्मिलित हैं। इस तरह धर्मपाल ने उत्तरीय भारत के अधिकांश भाग को हस्तगत कर लिया। धर्मपाल बौद्ध धर्म का संरक्षक था। उसने विक्रमशिला में एक बड़े बौद्ध मठ तथा एक महान् विश्वविद्यालय की स्थापना की थी।

देवपाल—धर्मपाल का पुत्र देवपाल भी बड़ा सफल शासक सिद्ध हुआ। उसने अपने राज्य का और भी अधिक विस्तार कर लिया। यह कहा जा सकता है कि पालवंश में देवपाल ही सब से अधिक शक्तिशाली हुआ है। उस का राज्य सुदूर उत्तर भारत तक व्याप्त हो गया। कहा जाता है कि उसने द्राविड़, गुर्जर, हूण, उत्कल और कामरूप का भी विजय किया। देवपाल के शासन काल में भारतीय उपनिवेश सुमात्रा के बौद्ध राजा ने भारत में एक बौद्ध मठ की स्थापना की। देवपाल के शासनकाल की कोई इमारत तो आज उपलब्ध नहीं होती, परन्तु उसके बनाए तालाब आज भी मौजूद हैं। इन से सिंचाई का काम लिया जाता था। देवपाल के समय के दो शिल्पियों के नाम उत्कीर्ण मिलते हैं। प्रतीत होता है कि देवपाल के युग में पत्थर और धातु उन दोनों से बड़ी उत्कृष्ट मूर्तिकला का निर्माण किया जाता था।

देवपाल के साथ पालवंश के सौभाग्य का काल समाप्त हो गया। उसके उत्तराधिकारी कमज़ोर थे।

महीपाल—पालवंश के नवम राजा महीपाल ने सन ९८८ से १०३२ तक राज्य किया। उसकी शक्ति भी पर्याप्त उन्नत थी। उसके उत्तराधिकारी ने तिब्बत में एक प्रचारक मण्डल भेजा था।

ग्यारहवीं सदी में बंगाल के एक भाग पर सेन वंश के राजा राज्य करने लगे। सेन लोग दक्षिण से आए हुए ब्राह्मण वंश के

थे और सम्भवतः उत्तर में चोल आक्रमणों के कारण ही सेन राजाओं का अभ्युत्थान हुआ था।

दक्षिण के राज्य

तामिल राज्यों का संक्षिप्त इतिहास यथास्थान दिया जा चुका है। दक्कन तथा सुदूर दक्षिण के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कम तथ्य ज्ञात हैं। परन्तु सन ६०० ईसवी के बाद से दक्षिण का इतिहास पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाता है। उस युग के शिलालेख प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुए हैं और उनकी सहायता से तत्कालीन दक्षिण का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास लिखना सुगम हो गया है। यहाँ हम दक्षिण के इन ७०० वर्षों के इतिहास में से कुछ प्रमुख राजवंशों तथा उनके समय की महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेखमात्र ही कर सकते हैं।

वाकाटक—चौथी सदी ईसवी के प्रारम्भ में वाकाटक वंश एक शक्तिशाली राजवंश के रूप में प्रकट हुआ। वाकाटक लोग करीब २०० वर्षों तक मध्य भारत के अधिकांश भाग के अधिपति बने रहे। शिलालेखों में वाकाटक वंश के ८ राजाओं के नाम उपलब्ध होते हैं। वाकाटक वंश के संस्थापक महाराज प्रवरसेन अपने को सम्राट कहते थे। प्रवरसेन ने राजसूय यज्ञ भी किया था। इस वंश के एक राजा रुद्रसेन द्वितीय का विवाह गुप्तवंशीय सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की कन्या के साथ हुआ था। इस से यह सिद्ध होता है कि पांचवीं सदी में वाकाटक का राजवंश निश्चय ही महत्वपूर्ण गिना जाता होगा। यह ख्याल किया जाता है कि गुप्त सम्राट ने रुद्रसेन के साथ अपनी कन्या का विवाह इस उद्देश्य से किया होगा कि उज्जैन के शक क्षत्रपों का सामना करने के लिए उसको

शक्ति और भी अधिक बढ़ जाय। वाकाटक वंश का अन्तिम महत्वपूर्ण शासक हरिसेन था। हरिसेन की एक प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने अवन्ति, कलिंग, कोशल, लाट और आन्ध्र तक के प्रदेशों में विजययात्रा की थी। ये वाकाटक राजा कला के बड़े प्रेमी थे। उन्हों ने अपने शासनकाल में मध्यभारत में अनेक कलापूर्ण स्मारकों का निर्माण करवाया। इन में अजन्ता की गुफाएँ सब से अधिक प्रसिद्ध हैं।

कदम्ब—पश्चिमी मैसूर, उत्तरी कनारा और दक्षिणी कनारा के जिलों में तीसरी सदी ईसवी से छटी सदी तक कदम्बों का एकच्छत्र शासन रहा। यद्यपि वास्तव में कदम्ब वंश एक ब्राह्मण वंश था, तथापि इन कदम्ब राजाओं ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया। उनकी राजधानी का नाम वनवासी था, उसे वैजयन्ती भी कहते थे। अपने पड़ोसी पालों तथा गंगों से कदम्ब राजाओं की निरन्तर लड़ाई रही। छटी सदी में चालुक्यों ने कदम्ब राज्य का उत्तरी भाग उनसे छीन लिया और करीब-करीब इन्हीं दिनों कदम्ब राज्य के दक्षिण भाग पर गंग राजाओं का अधिकार होगया।

गंग—मैसूर के अधिकांश भाग पर करीब ९०० वर्षों तक (दूसरी सदी ईसवी से ग्यारहवीं सदी तक) गंग वंश के राजा राज्य करते रहे। बाद के गंग वंशीय राजाओं ने जैनधर्म स्वीकार कर लिया। इसी गंग वंश के एक राजा के मन्त्री ने श्रवण-बेलगोल पहाड़ी पर एक ५६ फीट ऊँची विशाल मूर्त्ति का निर्माण करवाया था। यह मूर्त्ति एक भारी शिला को घड़ कर बनाई गई है। अपने आकार तथा विशालता की दृष्टि से यह

श्रवण बेलगोल की मूर्त्ति भारतवर्ष भर में निराली है। गंग वंश की एक शाखा ने उड़ीसा में करीब १००० वर्षों तक (छठी सदी से सोलहवीं सदी) राज्य किया।

चालुक्य—ईसा की छठी शताब्दी में दक्षिण में एक नई शक्ति का उदय हुआ। चालुक्य वंश के जो लोग सम्भवतः उत्तर से आकर इस देश आबाद हुए थे, उनमें से पुलकेशिन प्रथम नाम के एक शक्तिशाली पुरुष ने वर्तमान बीजापुर ज़िले के वातापी या वादापी नाम के एक नगर को अपनी राजधानी बना कर एक प्रतापी राजवंश की स्थापना कर दी। पुलकेशिन प्रथम के दो उत्तर-धिकारियों ने उसके राज्य की शक्ति और क्षेत्र का खूब विस्तार कर दिया और तब गुजरात और सिन्ध को छोड़ कर वर्तमान बम्बई प्रान्त का अधिकांश भाग उसकी अधीनता में आ गया।

पुलकेशिन द्वितीय—चालुक्य वंश का सब से अधिक शक्ति-शाली राजा पुलकेशिन द्वितीय (सन् ६०८ से ६४२ तक) हुआ है। उसने अपने शासन काल में बड़े-बड़े कार्य किए। पुलकेशिन द्वितीय का सम्पूर्ण जीवन युद्धों में ही व्यतीत हुआ। अपने पिता की मृत्यु के बाद, एक मामूली-से गृहयुद्ध में सफलता पाकर, वह राजगद्दी पर बैठा और तब उसकी विजय यात्राएं प्रारम्भ हुई। वह महाराजा हर्ष का समकालीन था। उसने हर्ष की विजयी सेनाओं को दक्षिण में नर्मदा से आगे नहीं बढ़ने दिया। पुलकेशिन द्वितीय की प्रशस्ति में लिखा है कि उसने लाट, उत्तर-पश्चिम के गुर्जरों और दक्षिण कोशलों के अतिरिक्त उत्तरमें कलिंग, दक्षिण में पल्लव और चोल लोगों को जीता। इस तरह विन्ध्याचल तक के दक्षिण भारत का अधीश्वर होने के अतिरिक्त वह उत्तरीय भारत के अनेक

प्रदेशों से अपनी अधीनता स्वीकार करवाने में सफलता प्राप्त कर सका। ख्याल किया जाता है कि फारस के तत्कालीन राजा खुसरू द्वितीय से उसकी घनिष्ठ मित्रता थी।

सन ६४२ में पुलकेशिन द्वितीय का काँची के पल्लव राजा नरसिंह वर्मन से युद्ध हुआ। इस युद्ध में पुलकेशिन संग्राम भूमि में मारा गया। इस विजय के बाद पल्लवों ने चालुक्यों की राजधानी में लूटमार भी की और इस से कुछ वर्षों के लिए चालुक्य शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचा।

सन ६४१ में चीनी यात्री ह्यूनसांग राजा पुलकेशिन द्वितीय के दरबार में गया था। ह्यूनसांग ने चालुक्य राज्य का विस्तृत वर्णन किया है। उसने महाराष्ट्र के लोगों के पराक्रम की बड़ी प्रशंसा की है। उसने लिखा है—"यदि कोई महाराष्ट्र सेनापति युद्ध में हार जाता है, तो वे लोग उसे कोई अन्य दण्ड देने की बजाय उसे स्त्रियों की पोशाक पहना देते हैं। इस कारण प्रायः सेनापति हारने की बजाय युद्ध में मर जाना ही अधिक पसन्द करते हैं।" इन सैनिक प्रवृत्ति के लोगों में युद्ध के हाथियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। ह्यूनसांग का कथन है—"पुलकेशिन अपने पड़ोसियों के साथ घृणा का व्यवहार करता है। उसकी स्कीमें और उसके कार्य बहुव्यापी होते हैं। उसके लोकोपकारी कार्यों का अनुभव दूर-दूर तक के लोगों को होता है और प्रजा पूर्णरूप से पुलकेशिन की आज्ञाकारिणी है।"

वेंगी के चालुक्य—कृष्णा और गोदावरी के बीच वेंगी प्रदेश को पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लवों से जीता था। उसने अपने छोटे भाई को वेंगी का शासक नियुक्त कर दिया जिसने यहाँ अपना

एक स्वतन्त्र राजवंश स्थापित कर दिया। वेंगी का यह चालुक्य वंश करीब ६०० वर्षों तक कायम रहा।

चालुक्य शक्ति का ह्रास—पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के बाद चालुक्य शक्ति का पुनरुद्धार करने के लिए उसके पुत्र को भारी प्रयत्न करना पड़ा। परन्तु तब भी चालुक्यों की पुरानी स्थिति बन नहीं सकी। उसके बाद उसके दो वंशज भी अच्छे शक्तिशाली सिद्ध हुए। उन्होंने उत्तर विजय का प्रयत्न भी किया। उधर अरब लोग सिन्ध और गुजरात का विजय करके दक्षिण की ओर बढ़ना चाहते थे। इन चलुक्य राजाओं का उनसे भी संघर्ष हुआ। चालुक्यों ने अरबों को आगे बढ़ने से रोक दिया। इस तरह दक्षिण भारत इस्लाम के प्रथम आक्रमण से बच गया। सन् ७५३ में राष्ट्रकूटों ने इस चालुक्य राज्य का पूर्णरूप से विनाश कर दिया।

चालुक्य वंश के राजाओं ने अपने को अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं की सन्तान लिखा है। परन्तु अनेक ऐतिहासकों का विश्वास है कि उनका उद्गम हूण-गुर्जरों में से हुआ होगा।

ये चालुक्य राजा हिन्दू थे। अन्य धर्मों से वे पूर्ण सहिष्णुता का व्यवहार करते थे। उन्हों ने अनेक सुन्दर मन्दिरों का निर्माण कराया। उनकी बनवाई गुफाएँ अपनी भव्यता और सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध हैं।

राष्ट्रकूट—राजा दन्तिदुर्ग की अध्यक्षता में अब राष्ट्रकूट लोग दक्षिण के अधीश्वर बन गए। सन ७६० में दन्तिधुर्ग का उत्तराधिकारी कृष्ण प्रथम इस राष्ट्रकूट राज्य का शासक बना। उसने अपने राज्य की सीमा और भी अधिक बढ़ा ली। एलोरा के

संसार-प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर का निर्माण कृष्ण प्रथम ने ही करवाया था। एक बड़ी शिला को काट कर यह विशाल मन्दिर बनवाया गया है। इस की सजावट और चित्रकारी भी बहुत भव्य है। एक पहाड़ी के पार्श्व में यह कैलाश मन्दिर बना है।

उत्तर-विजय के प्रयत्न—राष्ट्रकूटों ने अब उत्तर में भी अपना अधिकार स्थापित करने का प्रयत्न शुरू किया। हम पहले ही कह चुके हैं कि ईसा की आठवीं सदी के अन्त में भारतवर्ष की प्रमुख राजनीतिक शक्ति करीब २०० वर्षों तक पाल, गुर्जर प्रतिहार और राष्ट्रकूट वंशों में बंटी रही। इन राष्ट्रों में परस्पर निरन्तर संघर्ष जारी रहे। राष्ट्रकूट राजा ध्रुव (सन् ७७९ से ७९४) ने विन्ध्याचल को पार करके पाल और गुर्जर लोगों को हरा दिया और उत्तरीय भारत के काफी बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। परन्तु उसके देहान्त के बाद राष्ट्रकूटों की शक्ति फिर से क्षीण पड़ गई। उस के बाद नवम शताब्दी के प्रारम्भ में गोविन्द तृतीय ने विन्ध्याचल की सीमा पार की। पाल राजा ने उस से गुर्जर राजा नागभट्ट के खिलाफ सहायता मांगी थी। नागभट्ट की शक्ति इन दिनों बड़ी शीघ्रता से बढ़ रही थी। गोविन्द तृतीय ने नागभट्ट को हरा दिया और तब सम्पूर्ण उत्तरीय भारत पर उस की धाक जम गई। उत्तर पेशवाओं की तरह वह भी कह सकता था कि उस का घोड़ा अब हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक निर्बाध होकर दौड़ सकता है।

अमोघवर्ष—आन्तरिक झगड़ों ने राष्ट्रकूट शक्ति को पुनः कमज़ोर कर दिया। इसी वंश के एक प्रबल राजा अमोघवर्ष (८१५ से ८७७ तक) ने ६२ वर्षों तक राज्य किया। उस के शासनकाल में

अरब व्यापारी सुलेमान ने पश्चिमी भारत की यात्रा की थी। सुलेमान ने लिखा है कि अमोघवर्ष अपने समय में भारतवर्ष का सब से बड़ा राजा था। संसार के सम्राटों में उस का स्थान चौथा था। तात्कालीन संसार के केवल तीन सम्राट उस से बड़े थे—बगदाद का खलीफा, चीन का सम्राट और कौन्स्टेण्टिनोपल का सम्राट। सिन्ध के अरब लोगों से उस का मित्रता का सम्बन्ध रहा। अमोघवर्ष के कोष में असंख्य धन था। उसकी स्थिर सेना बहुत बड़ी, सुव्यवस्थित और शक्तिशाली थी। अमोघवर्ष जैनधर्म का संरक्षक था और उसके शासनकाल में जैन सम्प्रदाय दक्षिण में बहुत लोकप्रिय हो रहा था।

उस के बाद राष्ट्रकूट वंश की शक्ति क्षीण होने लगी और सन् ९७३ में, करीब २०० वर्षों के शानदार जीवन के बाद, उस का नाश हो गया।

कल्याण के चालुक्य—राष्ट्रकूट वंश का विनाश तैल नाम के एक चालुक्य राजा ने किया होगा। सम्भवत: तैल प्राचीन चालुक्यों का ही वंशधर था। उस ने मालवा और चेदी तक का प्रदेश जीता और परमार राजा मुंजको भी हरा दिया। कल्याण के इस चालुक्य वंश में सोमेश्वर भी महत्वपूर्ण है। उस ने दक्षिण में कांची तक और उत्तर-पश्चिम में धार तक का प्रदेश जीता। कृष्णा नदी के तट पर कोप्पम में उस का चोल लोगों से घनघोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में चोल लोग बुरी तरह से पराजित हुए और सोमेश्वर ने राजराजा के अत्याचारों का बदला ले लिया।

विक्रमादित्य छठा—इस राजवंश का सब से बड़ा राजा छठा विक्रमादित्य (१०७६ से ११२६ तक) हुआ। उस ने बड़ी

वीरता पूर्वक चोल और होयसाल (Hoyasala) लोगों को हराया। सम्भवतः उसने कलिंग, बंग, मरु, गुर्जर, मालवा और चेर को भी जीता। छटे विक्रमादित्य ने एक सम्वत् का प्रारम्भ भी किया, परन्तु यह संवत् कहीं प्रयोग में नहीं आया। उस के दरबार के कवि बिल्हण ने उस के राज्य का कविता में वर्णन लिखा है। बिल्हण के ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि इस विक्रमादित्य की एक रानी ने अपने स्वयंवर में उस का वरण किया था। प्रसिद्ध विद्वान् विज्ञानेश्वर भी विक्रमादित्य के दरबार का रत्न था। वर्तमान हिन्दू कानून का प्रामाणिक ग्रन्थ मिताक्षरा इसी विज्ञानेश्वर का लिखा हुआ है।

छटे विक्रमादित्य के उत्तराधिकारी, उस के पुत्र का दावा है कि उस ने मगध तथा नैपाल को भी विजय किया। उस के बाद इस चालुक्य वंश का भाग्य सूर्य अस्त हो गया। उस को राजगद्दी पर कालचूरी वंश के बिज्जल नामक व्यक्ति ने अपना अधिकार कर लिया। वह बारहवीं सदी के मध्यकाल में, कुछ वर्षों तक राज्य करता रहा। इस समय देवगिरि के यादव और द्वारसमुद्र के होयसाल दक्षिण की प्रमुख शक्ति बन गए।

लिंगायत सम्प्रदाय—बिज्जल के अल्पकालीन शासन में उस के ब्राह्मण मन्त्री वासव ने शैव मत के लिंगायत सम्प्रदाय का आरम्भ किया। कनारी प्रान्त में लिंगायत सम्प्रदाय अभी तक लोकप्रिय है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी शिवलिंग की पूजा करते हैं। वे वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते और विधवा विवाह को अनुचित नहीं मानते। लिंगायत सम्प्रदाय के अनुयायी जैनों तथा ब्राह्मणों के अत्यधिक विरोधी हैं।

यादव—इस्लाम के आक्रमण से पूर्व दक्षिण के अन्तिम शक्तिशाली शासक यादव तथा होयसाल लोग हुए। ये परस्पर रिश्तेदार थे। यादव लोगों का राज्य देवगिरि (वर्तमान दौलताबाद) में था और होयसालों का मैसूर के द्वारसमुद्र में। उन का कथन था कि वे महाभारत के यादवों की सन्तान हैं। राष्ट्रकूटों तथा कल्याण के चालुक्यों की अधीनता में बहुत समय तक वे करद भूपतियों के रूप में रहे थे।

इस के बाद यादवों और होयसालों में पारस्परिक संघर्ष शुरू हुआ। वीर-बल्लाल द्वितीय की अध्यक्षता में होयसाल अधिक शक्तिशाली बन गए। कुछ समय के बाद सिंघण की अध्यक्षता में यादवों ने होयसालों को हरा दिया। तब उसने गुजरात, मालवा, काशी और मथुरा तक के प्रदेश को जीता। उस ने दक्षिण के कदम्ब और पाण्डयों के अतिरिक्त मुसलमानों को भी जीता। सिंघण के शासनकाल (१२१० से १२४७ तक) में यादव शक्ति का अधिकार क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया। दक्षिण के अधिकांश भाग के अतिरिक्त विन्ध्याचल के पार, उत्तर के तथा सुदूर दक्षिण के अनेक प्रदेश उसके अधिकार के अन्तर्गत थे। अलाउद्दीन के शासनकाल तक यादव वंश की शक्ति अक्षुण्ण बनी रही।

विष्णुवर्धन—इस वंश के एक ही राजा ने विशेष महत्ता प्राप्त की। उस का नाम विट्टिग अथवा विष्णुवर्धन था। वह १२ वीं सदी के मध्यकाल में हुआ। भारतीय कला के इतिहास में विष्णुवर्धन का महत्वपूर्ण स्थान है। वह पहले तो कट्टर जैन था परन्तु बाद में वह मध्यकालीन भारत के सुप्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रामानुज का अनुयायी बन गया। तभी उस ने अपना

नाम बिट्टिग से विष्णुवर्धन कर लिया। उसने अपने शासन काल में बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण करवाथा। उस के सम्बन्ध में कहा जाता है कि बाद में वह जैन धर्म का इतना विरोधी हो गया था कि उसने अनेक जैन आचार्यों को कोल्हू तथा चक्कियों में पिसवा दिया। इस किंवदन्ती का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। ऐतिहासिक साक्षियों से तो यह सिद्ध होता है कि विष्णु-वर्धन अत्यन्त उदार विचारों का था, यहां तक कि उस की एक रानी और एक पुत्री जैन धर्म को मानने वाली थीं।

मलिक काफूर नामक मुसलमान विजेता ने देवगिरि के यादवों को हराया और होयसालों को भी अपने अधीन कर लिया। द्वारसमुद्र को उस ने तहस-नहस कर दिया और इस तरह ये दोनों वंश समाप्त हो गए।

होयसाल कला—विष्णुवर्धन और उस के उत्तराधिकारी कला के बड़े प्रेमी थे। उन के २०० वर्षों के राज्यकाल में, उन के देश में एक विशेष प्रकार की कला का खूब विकास हुआ। इस कला को 'होयसाल कला' कहा जाता है। इस कला पर बने मन्दिरों का आधार खूब चित्रित और भूषित होता है। उस पर तारा के आकार के खम्बे छत को थामे रहते हैं। ऊपर प्रायः बरतन के आकार का आवरण रहता है। इन मन्दिरों की कला तथा निर्माण में विविधता और प्रचुरता है, सादगी नहीं। इस कला के मन्दिरों में द्वारसमुद्र का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है। इस की निर्माण कला बड़े ऊँचे दर्जे की है।

रामानुज – वैष्णव आचार्य रामानुज विष्णुवर्धन के सम-कालीन थे। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में वह कांची में रहे

परन्तु इस के बाद वह त्रिचनापली के पास श्रीरंगम में चले गये। वहीं पर रामानुज ने अपने जीवन का अधिकांश भाग बिताया। मध्यभारत के धर्माचार्यों तथा दार्शनिकों में रामानुज का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। रामानुज ने तीन प्रस्थानों की विस्तृत व्याख्याएं लिखीं-उपनिषद्, गीता और वेदान्त सूत्र। वह शंकर के दार्शनिक सिद्धान्तों का जबरदस्त विरोधी था। रामानुज का देहान्त सम्भवतः बारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ।

सुदूर दक्षिण के राज्य

पल्लव—सन् ३०० तक के सुदूर दक्षिण के इतिहास का वर्णन यथास्थान किया जा चुका है। तब से मुसल्मानों के आक्रमण से भी पीछे तक इस प्रदेश में पूर्वोक्त तीनों तामिल राज्यों का प्रभाव ही कायम रहा। तीसरी सदी ईसवी में सुदूर दक्षिण में एक नई शक्ति का विकास हुआ। यह शक्ति पल्लव लोगों की थी। पल्लव राजाओं ने कांची को अपनी राजधानी बनाया और उस के बाद उन्होंने तामिल राज्यों से लोहा लेकर अनेक सदियों के लिए सुदूर दक्षिण में अपना राज्य स्थापित कर लिया।

पल्लवों का उद्गम शुरू-शुरू में कुछ लोगों ने सिर्फ नाम-साम्य के आधार पर यह कल्पना की थी कि ये पल्लव लोग पह्लव या पार्थियन जाति के होंगे। परन्तु यह कल्पना लोकप्रिय न हो सकी। श्रीनिवास ऐयंगर के मतानुसार पल्लव लोग प्राचीन नाग जाति के वंशज थे। उन का मूलस्थान कहीं मद्रास के आस-पास था और योद्धाओं की प्राचीन जाति कुरुम्ब या पल्ली से

उनका साम्य अथवा सम्बन्ध था। पल्लव राजाओं का तामिल राजाओं से जन्म का वैर था। वे उन्हें अपने देश के लुटेरे समझते थे। सम्भवत: इसी बात से तामिल भाषा में पल्लव का अर्थ लुटेरा पड़ा। जो पल्लव चोल और पांड्य राज्य में जाकर आबाद हुए, उन्हें 'कल्लर' अर्थात् चोर पुकारा जाने लगा।

पल्लव इतिहास की खोज—पल्लव वंश के इतिहास की खोज को वर्तमान अन्वेषकों की एक बड़ी विजय कहा जा सकता है। भाषा सम्बन्धी सामग्री के आधार पर की गई खोजों से पूर्व इस महत्वपूर्ण राजवंश के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों को कुछ भी ज्ञात नहीं था।

पल्लव शक्ति की अभिवृद्धि—समुद्रगुप्त की अलाहाबाद वाली प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उस ने कांची के राजा विष्णुगोप को पराजित किया था। तभी से सुदूर दक्षिण में पल्लव राजवंश की अवस्थिति प्रतीत होती है। छटी सदी में पल्लव वंश बहुत शक्तिशाली हो गया। आठवीं सदी के मध्य तक उस की ताकत कायम रही। छटी सदी के अन्त में पल्लव वंश के राजा सिंहविष्णु ने तामिल राजाओं तथा लंका राज्य को जीता। सातवीं सदी के प्रारम्भ में पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लवों को हरा कर उन से वेंगी का प्रदेश छीन लिया। इस एक पराजय को छोड़ कर सातवीं सदी में पल्लव राजा सदैव शक्ति सम्पन्न बने रहे। उनकी अध्यक्षता में निर्माण के उत्तमोत्तम कार्य हुए। नवम शताब्दी के अन्त में चोलों ने पल्लवों की शक्ति को हथिया लिया।

पल्लव वंश के प्रमुख राजा महेन्द्र वर्मन प्रथम ने ६००

ईसवी से लेकर ६२५ तक राज्य किया। उस की बनवाई हुई गुफाएँ तथा मन्दिर बड़े प्रसिद्ध हैं। राजा विष्णु वर्मन (६२५ से ६४५) इस वंश का सब से अधिक योग्य शासक था। उस ने पुलकेशिन द्वितीय को हरा कर न केवल पल्लवों की पहली पराजय का बदला ही चुका लिया अपितु शत्रु की राजधानी वातापी पर भी अधिकार कर लिया। विष्णु वर्मन के समय पल्लव सम्पूर्ण दक्षिण भारत में सब से अधिक शक्तिशाली बन गए।

नरसिंह वर्मन के राज्य काल में ह्यूनसांग ने पल्लव राज्य की यात्रा की। उस ने लिखा है कि पल्लव राज्य के लोग बड़े समृद्ध, उत्साहशील, विश्वासपात्र और स्वाध्यायप्रेमी हैं।

पल्लव कला—राजा नरसिंह वर्मन ने ममल्लपुरम की नीव डाली। दक्षिण के सुप्रसिद्ध रथ अथवा सात पैगोड़े भी उसी के शासन काल में बनाए गए। ये रथ एक बड़ी शिला काट कर बनाए गए हैं। इन शिलाओं के ऊपर मूर्ति अंकन का कार्य पल्लव राजाओं के शासनकाल में किया गया। प्रस्तर-चित्रों में "अर्जुन का प्रायश्चित्त" नामक चित्र बहुत प्रसिद्ध है। आठवीं सदी में कांची में अनेक मन्दिरों का निर्माण भी किया गया। स्मिथ ने लिखा है कि 'भारतीय कला पद्धतियों में पल्लव कला पद्धति तथा मूर्त्ति निर्माण कला का विशेष महत्वपूर्ण तथा निराला स्थान है।' वास्तव में दक्षिण में भारतीय कला का इतिहास इन्हीं पल्लवों के राज्य काल से प्रारम्भ होता है।

पल्लवों का ह्रास—चालुक्यों के साथ पल्लवों का निरन्तर संघर्ष चला आ रहा था। सन् ७४० में चालुक्यों ने पल्लवों को बुरी तरह से हरा दिया और तब से पल्लव शक्ति का ह्रास शुरु

हो गया। मैसूर के पश्चिमी राजाओं से भी पल्लवों का पुराना वैमनस्य था। नवम शताब्दी के अन्त में चोल और पाण्ड्य राजाओं ने मिल कर पल्लव राज्य को पूरी तरह से छिन्न-भिन्न कर दिया। पल्लव शक्ति का तब पूर्ण ह्रास हो गया। तथापि तेरहवीं सदी तक अनेक छोटे-छोटे पल्लव राज्य कायम रहे।

पल्लवों के धार्मिक कार्य—अधिकांश पल्लव राजा हिन्दू धर्म के संरक्षक थे। उनमें से कुछ शैव थे और कुछ वैष्णव। महेन्द्र-वर्मन ने पहले तो जैन धर्म स्वीकार कर लिया था परन्तु बाद में एक तामिल सन्त ने उसे शैव सम्प्रदाय में दीक्षित कर लिया। कहा जाता है कि शैव होकर उसने दक्षिणी अर्काट के एक प्रसिद्ध जैन मठ का ध्वंस करवा दिया था। उसके शासनकाल में शैव सम्प्रदाय शक्तिशाली बना।

चोल—पल्लवों के पतन के बाद चोल लोग सुदूर दक्षिण की सब से बड़ी शक्ति बन गए। शिलालेखों में अनेक प्रमुख चोल राजाओं का नाम उपलब्ध होता है। इन में परान्तिक प्रथम (९०७ से ९४७ ईसवी) एक बड़ा विजेता था। उसने पाण्ड्य लोगों को हरा कर उनकी राजधानी मदुरा पर अधिकार कर लिया। परान्तिक ने लङ्का पर भी आक्रमण किया। उसने सम्पूर्ण दक्षिण तामिल में चोल शक्ति का विस्तार कर दिया। परान्तिक की मृत्यु के बाद शीघ्र ही राष्ट्रकूटों ने चोलों को हरा दिया और कांची तथा तंजौर पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

महान् राजराजा—चोल वंश का दूसरा महत्वपूर्ण शासक राजराजा 'महान्' (९८५–१०१२ ईसवी) था। उसने पाण्ड्यों,

चेरों, वेंगी के चालुक्यों, कुर्ग, मालावार तट, कलिंग तथा लंका को जीता। उसके पास एक शक्तिशाली जल सेना भी थी। इस नौसेना की सहायता से उसने लक्कदिव (Laccadives) और मालदिव (Maldives) आदि द्वीपों को भी जीता। इस तरह राजराजा सम्पूर्ण दक्षिण का एकच्छत्र शासक बन कर 'महान्' राजराजा कहलाने लगा। तंजौर का सुन्दर और विशाल मन्दिर उसके महत्वपूर्ण कलासम्बन्धी कार्यों की स्थिर यादगार है।

राजेन्द्र चोल प्रथम—राजराजा के बाद उसका सुयोग्य पुत्र राजेन्द्र (१०१२-१०३५) चोल साम्राज्य का अधिपति बना। इस राजेन्द्र के राज्य में चोल-साम्राज्य का अधिकतम विस्तार हो सका। उसकी जल सेना ने बंगाल की खाड़ी को पार कर पेगूराज्य, निकोबार द्वीप तथा अण्डेमान द्वीप समूह का विजय कर लिया। उत्तर में उसने बंगाल और बिहार के पालवंशीय राजा महीपाल को हरा कर बंगाल, उड़ीसा तथा दक्षिण कोशल तक अपने चोल साम्राज्य का विस्तार कर लिया। गंगा की घाटी की अपनी इस महान विजय की खुशी में उसने अपने नाम के पीछे 'गंगेकोण्ड' का खिताब लगाना शुरु किया। इसी उपलक्ष में उसने अपनी नई राजधानी का नाम 'गंगेकोण्डचोलपुरम' रक्खा। इस राजधानी में उसने एक विशाल राजमहल, एक अत्युच्च मन्दिर तथा १६ मील लम्बी एक नकली झील बनवाई। यह नगर अब उजड़ गया है और वे प्राचीन मकान खंडरात हो रहे हैं।

चालुक्यों से संघर्ष—राजेन्द्र के देहान्त के बाद चोलों तथा चालुक्यों में परस्पर भयंकर संघर्ष शुरू हुआ। करीब १०५२ में

कोप्पन नामक स्थान पर एक भारी युद्ध हुआ, जिस में चोल राजा मारा गया। उस के १० वर्ष बाद एक और युद्ध में चोलों ने चालुक्यों को हरा दिया। दोनों राज्यों का यह विरोध कई पीढ़ियों तक निरन्तर कायम रहा। वीर राजेन्द्र नाम के एक चोल राजा ने कृष्णा और तुंगभद्रा नदी के संगम पर हुए तीन युद्धों में चालुक्यों को निरन्तर पराजित किया।

कुलोत्तुंग—कुलोत्तुङ्ग नाम के एक व्यक्ति के साथ एक चोल राजकुमारी का विवाह हुआ था। इस व्यक्ति ने चोल राज्य पर अधिकार कर लिया। कुलोत्तुङ्ग ने सन १०७४ से ११८८ तक, कुल ४४ वर्ष राज्य किया। उसने अपने शासनकालमें चालुक्य आक्रमणों को सफलतापूर्वक विफल किया तथा मालाबार और कलिंग को भी जीता। सन् १०८६ में उस ने भूमिकर के लिए अपने राज्य की सम्पूर्ण कृषियोग्य भूमि की पूर्णतः देखभाल करके लगान सम्बन्धी प्रथाओं में परिवर्तन किया। कुलोत्तुङ्ग के वंशधर चोल राज्य पर करीब एक सदी तक शासन करते रहे। लंका से इन का निरन्तर संघर्ष रहा। कलिंग में पूर्वीय गंगों तथा मैसूर में होयसालों के उत्थान के साथ ही साथ चोल राज्य की शक्ति का ह्रास हो गया। तेरहवीं सदी के अन्त तक चोलराज्य पूर्णतः नष्ट होगया।

चोल शासन व्यवस्था—अनेक शिलालेखों से चोल राजाओं की शासन-व्यवस्था पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यह स्पष्ट है कि चोल शासन व्यवस्था बहुत ही व्यवस्थित तथा सुसंगठित थी। अनेक छोटे-छोटे गावों को मिला कर उन्हें राज्य की सब से छोटी इकाई माना जाता था। इन ग्राम मण्डलों के आन्तरिक प्रबन्ध का काम एक निर्वाचित सभा के ज़िम्मे होता था। इन सभाओं के

सदस्यों का चुनाव प्रतिवर्ष हुआ करता था। इन सभाओं के अधिकार बड़े विस्तृत थे। सम्भवतः ग्रामों के राजकर्मचारियों पर भी इसी सभा का नियन्त्रण रहता था। प्रत्येक ग्राम मण्डल का अपना-अपना राजकोश होता था। अपने ग्रामों की ज़मीनों पर इस मण्डल का पूरा अधिकार था। सिंचाई, उद्यान, न्याय आदि की व्यवस्था करने के लिए प्रत्येक मण्डल में अनेक उपसमितियां बनाई जाती थीं। ऐसे अनेक ग्राम मण्डल मिल कर एक ज़िला बनाते थे और अनेक ज़िले मिल कर एक विभाग। प्रत्येक प्रान्त में ऐसे अनेक विभाग थे। चोल साम्राज्य कुल मिला कर ६ प्रान्तों में विभक्त था।

भूमि की सम्पूर्ण उपज का छटा भाग भूमिकर के रूप में लिया जाता था। यह कर उपज और सुवर्ण—इन दोनों रूपों में स्वीकार किया जाता था। सम्पूर्ण भूमि का ठीक-ठीक माप किया गया था और पैमानों के परिमाण निश्चित कर दिये गये थे। भूमि की सिंचाई के लिए चोल राजाओं ने अनेक बड़े-बड़े सिंचाई के साधन बनवाए। नदियों पर बांध बाँधे गए। इन राजाओं के शासन-काल में राज्य की ओर से बड़े-बड़े निर्माण कार्य करवाए गए। राजेन्द्र प्रथम की १६ मील लम्बी झील का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। राज्य भर में सड़कें बनवाई गईं और उन की सुरक्षा का प्रबन्ध किया गया। चोल राजाओं की जलशक्ति भी बड़ी प्रबल और सुव्यवस्थित थी।

यह स्पष्ट है कि चोल राजाओं की शासन व्यवस्था बहुत उत्तम थी। उस में प्रजा का सहयोग भी था। अभाग्य से चोल वंश के विनाश के साथ-साथ यह श्रेष्ठ शासन व्यवस्था भी नष्ट होगई।

चोल कला—हम पहले ही कह चुके हैं कि दक्षिण में कला के इतिहास का प्रारम्भ ही पल्लवों के साथ होता है। परन्तु इस में भी सन्देह नहीं कि पल्लवों ने इस कला का निर्माण प्राचीन परम्पराओं के आधार पर ही किया था। चोल राजाओं ने इस कला को और भी अधिक उन्नत किया। चोल वंश की सर्वश्रेष्ठ कलापूर्ण कृतियां तंजौर तथा गांगेकोएड चोलपुरम के विशाल मन्दिर और इमारतें हैं। "उनका स्वरूप आंखों को प्रिय लगता है, क्योंकि उन के ऊपर का सुन्दर गुम्बद उन के सम्पूर्ण स्वरूप को ढके हुए हैं।" तंजौर के विशाल मन्दिर का सुन्दर गुम्बद एक ही चट्टान काट कर बनाया गया है। इस चट्टान का भार करीब २१६० मन है। यह मन्दिर भारतवर्ष के प्राचीन शिल्पियों की अमर प्रतिभा का आश्चर्यजनक नमूना है। बाद के चोल मन्दिरों में केन्द्र भाग की महत्ता इस लिए बहुत कम रह गई, क्योंकि उन के द्वार (गोपुरम) बनाने में अनन्त मानवीय शक्ति व्यय कर दी गई। इस पद्धति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण चिदम्बरम का मन्दिर है। इस मन्दिर को देख कर जावा की सर्वश्रेष्ठ भवन निर्माण कला की याद आ जाती है। प्रतीत होता है कि इस युग में लंका में भी दक्षिण भारत की कला का प्रसार हुआ था।

शैवमत का प्रसार—लगभग सभी चोल राजा शैवमत के संरक्षक थे। कुछ अपवादों को छोड़ कर वे प्रायः अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु थे। कहा जाता है कि एक चोल राजा ने होयसाल राज्य के एक जैन मन्दिर को नष्ट कर दिया। एक अन्य चोल राजा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह प्रसिद्ध विद्वान रामानुज के प्रति

इतना असहिष्णु था कि रामानुज को चोल राज्य से श्रीरंगम चला जाना पड़ा।

मुस्लिम विजयों से पूर्व का भारत

जीवन शक्ति का सर्वतोमुखी ह्रास—भारतवर्ष के इतिहास में यह मध्यकाल के प्रारम्भ का युग पतन का युग था। देश में इन दिनों कोई इतनी महान् राजनीतिक शक्ति नहीं थी, जिस की धाक सम्पूर्ण भारतवर्ष पर हो। हिन्दू धर्म में भी धीरे-धीरे व्यवहारिक संकीर्णता का प्रवेश होने लगा था और उस के कारण उसकी नसों की शक्ति क्षीण पड़ रही थी। धर्म का स्थान रीति रिवाजों ने ले लिया। वर्णव्यवस्था के अपरिवर्तनशील बन्धनों ने हिन्दू समाज के एक काफी बड़े भाग को पददलित बना दिया था। साहित्य में भी प्रयत्नसाध्य-पाण्डित्य से पूर्ण बनावटी शैली का प्राधान्य हो गया; प्राचीन स्वाभाविकता जाती रही। कला में से भी मौलिकता नष्ट हो गई, यद्यपि अब भी वह सुन्दर अवश्य थी। क्रमशः मन्दिरों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई। इन मन्दिरों के अधिकांश पुजारी अशिक्षित और संकुचित दृष्टिकोण के थे। परिणाम यह हुआ कि उन की अध्यक्षता में हिन्दु समाज की जीवनशक्ति का सर्वतोमुखी ह्रास बड़ी तेज रफ्तार से होने लगा।

संकुचित राजनीतिक दृष्टिकोण—इस युग में राजपूत ही देश की सब से बड़ी राजनीतिक शक्ति रह गए थे। सारा भारतवर्ष छोटे २ स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया था। इन में अजमेर और दिल्ली के चौहान, कन्नौज के गहरवार, मारवाड़ के शिशोदिया और बुन्देलखण्ड के चन्देले प्रमुख थे।

इस युग के हिन्दु राजाओं का दृष्टिकोण बड़ा संकुचित था।

उन के पड़ोसी राज्यों और देशों में जो बड़े-बड़े राजनीतिक आन्दोलन तथा परिवर्तन हो रहे थे, उन के सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था। भारतवर्ष के किसी राज्य में इतनी शक्ति नहीं थी कि वह अन्य राज्यों पर अपना दबाव डाल सके। देश बीसों विभिन्न फ़िरकों तथा वंशों में बंटा हुआ था। ये सब एक दूसरे से ईर्ष्या करते थे। इन में परस्पर निरन्तर लड़ाई-झगड़ा बना रहता था। आपस के इन सदियों के झगड़ों ने इन्हें इतना कमज़ोर बना दिया था कि जब मुसल्मानों ने इस देश पर आक्रमण कर दिया, तो उन का सामना करने को शक्ति भारतवर्ष के किसी भी राज्य में बाकी नहीं बची थी।

युद्ध के उपकरणों में त्रुटियां—राजपूत लोग स्वभाव ही से वीर थे। बहादुरी, हिम्मत और मृत्यु को तुच्छ समझने की भावना की दृष्टि से तत्कालीन राजपूतों का सानी मिलना कठिन था। परन्तु उन के राजनीतिक कटाव ने उन की युद्ध कला को बहुत अवनत कर दिया था। उन के पश्चिम में रहने वाली जातियों ने युद्ध विद्या के जिन नए-नए उपकरणों का विकास कर लिया था, उन से राजपूत लोग पूरी तरह अपरिचित थे। अन्य देशों के चुस्त घुड़सवारों की भयंकर तीर वर्षा के सन्मुख राजपूतों के हाथी अधिक देर तक नहीं टिक सकते थे। परिणाम यह होता था कि हाथियों की भगदड़ के कारण राजपूत सेना को ही अधिक नुक्सान होने लगता था। राजपूतों में जब कभी कुछ समय के लिए परस्पर मित्रता भी कायम हुई, वह अधिक देर तक स्थिर न रह सकी।

मुसल्मानी आक्रमणों से पूर्व उत्तरीय भारत में जो महत्वपूर्ण

राज्य थे, उन का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. कन्नौज के गहरवार—ग्यारहवीं सदी ईसवी में गहरवार वंश ने कन्नौज के प्रतिहार वंश को हरा कर उस की जगह अपना शासन कायम कर लिया। गहरवार वंश का अन्तिम राजा जयचन्द्र था, जिसे सन् ११९४ में मुहम्मद गौरी ने मार डाला था। इस वंश का एक शक्तिशाली राजा गोविन्दचन्द्र (११००-११६०) था। कन्नौज का राज्य उन दिनों समृद्ध दशा में था, उस में काशी भी सम्मिलित था। मुसल्मान आक्रान्ताओं की दृष्टि में जयचन्द्र तत्कालीन भारतवर्ष का सब से बड़ा राजा था।

२. चन्देल वंश—बुन्देलखण्ड के चन्देल वंश ने भी उत्तरीय-भारतवर्ष के इतिहास में करीब ३ सदियों तक बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया। ख्याल है कि ये चन्देले राजा वास्तव में द्रविड़ जाति के थे। कालंजर में उन का एक बड़ा सुदृढ़ दुर्ग था। खजूराहो तथा महोवा भी इस राज्य के महत्वपूर्ण नगर थे। इस वंश का सब से अधिक शक्तिशाली राजा धांगा था। मुसल्मानों की भारत विजय के बाद भी प्रतापी धांगा बुन्देलखण्ड के जंगलों में शासक बन कर रहा। इसी वंश की रानी दुर्गावती ने सम्राट अकबर की विशाल सेनाओं का बड़ी वीरता से मुकाबला किया था।

चन्देल कला—चन्देले लोग कला के महान संरक्षक थे। बुन्देलखण्ड की छोटी-छोटी पहाड़ियों की घाटी में बड़े-बड़े बांध बना कर उन्हों ने अनेक सुन्दर नगरों की स्थापना की। चन्देलों की संरक्षकता में जो अनेक बड़े-बड़े मन्दिर बनाए गए, उन में खजूराहो का मन्दिर विशेष प्रसिद्ध है। ग्यारहवीं और बारहवीं सदी में बुन्देलखण्ड के इन चन्देलों में सम्भवतः जैनधर्म बहुत

लोकप्रिय हो रहा था। उस समय के बनाए हुए अनेक जैन मन्दिर आज भी विद्यमान हैं।

३. मालवा के प्रमार—मालवा में प्रमारों का शासन था। इस वंश का सब से बड़ा राजा भोज ग्यारहवीं सदी में हुआ। वह कला, साहित्य और विद्या का महान संरक्षक था। उसकी राजधानी धार में थी।

भोज—इतिवृत्त के अनुसार भोज एक आदर्श हिन्दू राजा था। उसने बेतवा नदी तथा एक अन्य छोटी-सी नदी को बांध कर भोजपुर झील नाम से एक बड़ी झील बनवाई। इस झील का क्षेत्रफल २५० वर्गमील है। पन्द्रहवीं सदी में मालवा के एक मुसलमान राजा ने बांध काट कर इस झील को तोड़ दिया।

४. दिल्ली के तोमर—ग्यारहवीं सदी में दिल्ली पर तोमर वंश का शासन था। तोमर राजाओं ने अनेक मन्दिरों का निर्माण करवाया। बारहवीं सदी में चौहानों ने दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया।

५. अजमेर के चौहान—तत्कालीन भारतवर्ष के राजपूतों में चौहानों की महत्ता अत्यधिक है। राजपूत तथा मुसलमान काल के भारतीय इतिहास में चौहानों का बड़ा प्रमुख स्थान है। पहले पहल अजमेर उनकी राजधानी थी। चौहान वंश का राजा विग्रहराज संस्कृत का बड़ा प्रेमी था। कहा जाता है कि उसने एक नाटक भी लिखा था। इस नाटक के कुछ भाग अजमेर में पत्थरों पर खुदे हुए हैं।

पृथ्वीराज—चौहान वंश का सब से अधिक महत्वपूर्ण राजा पृथ्वीराज हुआ है। पृथ्वीराज के नाना ने उसे दिल्ली का नगर

अपनी ओर से उत्तराधिकार में दे दिया था। भारतवर्ष के प्रचलित ग्राम साहित्य में पृथ्वीराज के संयोगिता हरण की घटना बड़ी महत्वपूर्ण है। पृथवीराज ने बुन्देलखण्ड के चन्देलों को भी हराया। सन् ११६१ में पृथवीराज ने मुहम्मद गौरी को हरा दिया। परन्तु उसके बाद एक और आक्रमण में मुहम्मद गौरी ने पृथवीराज को हरा कर उसका वध कर दिया। वीरता और साहस की दृष्टि से पृथवीराज का नाम सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रसिद्ध है।

चन्दबरदाई का पृथवीराज रासो—पृथवीराज की वीरतापूर्ण कथाओं को उसके राजकवि चन्दबरदाई ने पद्यबद्ध किया था। उसकी इस रचना क नाम पृथवीराज रासो है। कवि चन्द की इस रचना का आकार, उसके देहान्त के बाद, और भी अधिक बढ़ा दिया गया। एक अन्य कवि ने भी पृथवीराज का जीवन वृत्तान्त लिखा है।

६. मेवाड़ के सिसोदिया—मेवाड़ के वर्तमान सिसोदिया महाराणा के पूर्वजों का प्रारम्भ वल्लभी वंश से माना जाता है। इस वंश का प्रथम राजा वीर बाप्पारावल था। भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास का काफी भाग इसी वंश की वीरगाथाओं से भरा पड़ा है। अनेक सदियों से आज तक सिसोदिया वंश का सम्मान अन्य हिन्दू राजाओं से अधिक माना जाता है। ये लोग 'हिन्दू सूर्य' कहलाते हैं।

७. गुजरात के चालुक्य—दसवीं सदी में मूलराज ने जिस चालुक्य राजवंश की स्थापना की थी, मुसलमानी आक्रमण के दिनों में वह वंश गुजरात पर शासन कर रहा था। एक परम्परा के अनुसार मूलराज कन्नौज ही के किसी राजा का पुत्र था।

८ पंजाब का शाही वंश—ईसा की सातवीं सदी से लेकर दसवीं सदी तक के पंजाब का इतिहास सर्वथा अन्धकारमय है। परन्तु पंजाब पर मुसल्मानी आक्रमणों से कुछ ही समय पूर्व यहां शाही नाम के एक शक्तिशाली वंश का राज्य कायम होगया था। इस वंश का राज्य सिन्धु नदी पार के पर्वतों से लेकर पश्चिमी पंजाब तक व्याप्त था। सम्भवतः सिन्धु नदी का उत्तर-प्रदेश भी इसी राज्य में सम्मिलित था। इस राज्य की राजधानी भटिण्डा थी। शाही वंश के राजा जयपाल और उस का पुत्र अनंगपाल क्रमशः सुबुक्तगीन तथा महमूद के समकालीन थे।

तेरहवां अध्याय

पूर्व-मध्यकालीन भारत

सांस्कृतिक इतिहास

पश्चिम में भारतीय-आर्य संस्कृति—हम देखते हैं कि इस युग में उत्तरीय भारतवर्ष में आर्य संस्कृति का ह्रास शुरू हो गया था। परन्तु दक्षिण की भारती-आर्य संस्कृति में अभी तक यथेष्ट जीवन था और कला तथा साहित्य की दिशा में वह यथेष्ट रूप से उन्नत हो रही थी। विदेशी आक्रमणों तथा आन्तरिक लड़ाइयों ने उत्तरीय भारत के जीवन को खोखला कर दिया था। उधर सोलहवीं सदी में, विजयनगर के पतन तक, दक्षिण भारत विदेशी आक्रमणों से बचा रहा। दक्षिण की शान्त परिस्थितियों में आर्य संस्कृति उन दिनों भी विकसित होती चली जा रही थी।

हिन्दू धर्म की प्रधानता—धर्म के क्षेत्र में दक्षिण भारत में हिन्दू धर्म पुनः वहां का प्रधान धर्म बन गया। अपरिवर्तनशील हिन्दू धर्म के मीमांसा मत के महान पोषक कुमारिल तथा

वेदान्त केसरी, सुप्रसिद्ध शैव गुरु शंकराचार्य ने इस युग में हिन्दू धर्म को एक बड़ा व्यापक, प्रभावशाली और सुदृढ़ धर्म बना दिया। हिन्दू धर्म की लुप्त सी महिमा का उद्धार होगया और वह बौद्ध तथा जैन धर्मों से बहुत अधिक लोकप्रिय तथा शक्तिशाली बन गया।

शैवमत—पूर्व मध्यकालीन भारत के धार्मिक इतिहास में शैवमत का प्रसार सब से बड़ी घटना है। शैवमत ब्राह्मणों के प्राचीन त्यागवाद का प्रतिनिधि था। वैष्णव आदर्शों के खिलाफ़ उसका दृष्टिकोण निराशापूर्ण था। शैवमत के इतिहास का प्रारम्भ सातवीं सदी से ही नहीं होता। उससे भी अनेक सदियां पूर्व ही से धीरे-धीरे शैव सम्प्रदाय का विकास हो रहा था। शैव मत के प्रारम्भिक आचार्यों में एक पाण्ड्य राजा का मन्त्री मानिकवाचागार भी था। अपनी प्रतिभा के बल पर वह बौद्ध धर्म का इतना अकाट्य खंडन करता था कि उसका नाम 'बौद्ध धर्म का कुल्हाड़ा' पड़ गया। उस युग के दार्शनिक वादविवादों का लोकप्रिय विषय प्राय: 'वेदों की अपौरुषेयता' ही रहा करता था। उसके बाद, सातवीं और आठवीं सदी में, अनेक शैव कवि तथा सन्त शैव मत को लोकप्रिय बनाने का भरसक प्रयत्न करते रहे। परिणाम यह हुआ कि दक्षिण की कला और विचारों में क्रमश: शैवमत का प्राधान्य आने लगा। चालुक्यों की राजधानी वातापी में अनेक सुन्दर शैव मन्दिरों का निर्माण किया गया। इनमें आठवीं सदी में बनाया गया विरूपाक्ष का मन्दिर अपनी कला तथा भव्यता के लिए सुप्रसिद्ध है। कृष्ण प्रथम ने एल्लोरा में जिस सुन्दर कैलाश मन्दिर का निर्माण किया था, वह भी शैवमत की लोकप्रियता

का एक जाज्वल्यमान उदाहरण है।

शंकराचार्य—नवम शताब्दी में शैवमत के महान् प्रचारक शंकराचार्य ने उसे भारतवर्ष का सब से अधिक शक्तिशाली धर्म बना दिया। दार्शनिक विद्वत्ता तथा तर्क की प्रतिभा की दृष्टि से शंकराचार्य की गणना संसार के सर्वोच्च कोटि के विद्वानों में की जाती है। इसी शंकर ने जब घूम-घूम कर अन्य धर्मों का अकाट्य खण्डन शुरू किया तो बौद्ध तथा जैन धर्मों के मुकाबले में हिन्दू-धर्म बहुत लोकप्रिय होगया। सम्पूर्ण भारतवर्ष में शंकराचार्य की धूम मच गई।

शंकराचार्य का जन्म नम्बूदरी ब्राह्मणों के वंश में हुआ था। कुछ लोगों का कथन है कि उनका जन्म मालाबार ज़िले में हुआ था। कतिपय विद्वानों की राय में चिदम्बरम उनका जन्म-स्थान था। दक्षिण भारत के एक प्रसिद्ध आचार्य गोविन्द ने शंकर को शिक्षा दी। वहां से शंकराचार्य हिन्दू साहित्य के महान केन्द्र काशी में गए। काशी में रह कर उन्होंने ३ प्रस्थानों के सुप्रसिद्ध भाष्य लिखे। ये प्रस्थान हैं—११ उपनिषदें, भगवद् गीता और वेदान्त सूत्र। शंकराचार्य की इन महान कृतियों ने उन्हें न केवल भारतीय साहित्य के इतिहास में ही अमर कर दिया, अपितु संसार के विद्वानों में उन्हें बहुत ऊँचा स्थान दे दिया। शंकराचार्य एक महान विचारक तथा अदम्य तार्किक थे। पिछले ११०० सालों से हिन्दू दार्शनिक विचारों पर शंकराचार्य की गहरी छाप है।

शंकराचार्य की दिग्विजय—सम्पूर्ण काशी को अपनी प्रतिभा का कायल करके शंकराचार्य बौद्धिक दिग्विजय के लिए निकल

खड़े हुए। उन्हों ने देश भर के बौद्धों को शास्त्रार्थ तथा वाद-विवाद के लिए खुला चैलेञ्ज देदिया। वह जहां भी गए वहीं उनकी विजय हुई और बहुत शीघ्र वह तत्कालीन हिन्दू धर्म के सब से महान नेता बन गए। शंकर को इस दिग्विजय में जो सफलता प्राप्त हुई, उस से अधिक सफलता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जहां भी वह जाते, सैकड़ों लोग उन का शिष्यत्व स्वीकार करते थे। इस महान तार्किक के सामने खड़ा होने की हिम्मत किसी में नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि इस करारी चोट से बौद्ध धर्म का सन्मान बहुत कम हो गया। शंकराचार्य ने भारतवर्ष में बौद्ध धर्म को बहुत कमज़ोर बना दिया। उनके बाद बंगाल के पाल राजाओं में ही बौद्ध धर्म शक्तिशाली रह गया।

बौद्ध भिक्षु संघ के ढंग पर शंकराचार्य ने भी हिन्दू धर्म के प्रचार के लिए सन्यासी पंथ का संगठन किया। प्रत्येक जाति का व्यक्ति इस संघ का सदस्य बन सकता था। कहा जाता है कि इस के बाद बहुत छोटी आयु में ही, शंकराचार्य हिमालय पर चले गए और केदारनाथ में उन का देहान्त हो गया। कथा है कि मृत्युशैया पर पड़े हुए इस महान आचार्य ने इस बात के लिए खेद प्रकाशित किया कि उसने अपने जीवन में इतने मन्दिरों का निर्माण करवाया। सम्भवतः इसका यह अभिप्राय होगा कि परमात्मा का मन्दिर बनवाने का अर्थ परमात्मा की सर्वव्यापकता पर सन्देह करना है।

प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्म के इस पुनरुद्धार से बहुत समय पूर्व ही शिव की मूर्त्तिपूजा खूब लोकप्रिय होगई थी। हर्ष, शशांक, कालिदास, भवभूति, बाण आदि अनेक महापुरुष शिव के उपासक थे।

और इस युग में तो शैव मत और भी अधिक लोकप्रिय हो गया। भारतीय उपनिवेशों, चम्पा और कम्बोदिया में भी शैव मत का प्रचार होगया। ह्यूनसांग के यात्रा वृत्तान्तों से ज्ञात होता है कि उन दिनों बलोचिस्तान में भी शैवमत का प्रचार था। काशी शैव मत का सुदृढ़ केन्द्र था। क्रमशः सम्पूर्ण भारतवर्ष शैव मन्दिरों से व्याप्त हो गया।

शैवमत के अनेक फिरकों में से पाशुपत और कापालकों के सिद्धान्त तथा क्रियाएँ बहुत ही भयंकर और घृणोत्पादक हैं। शैव मत का एक सम्प्रदाय लिंगायतों का भी है।

बाद का हिन्दू धर्म—इस युग में हिन्दू धर्म के साहित्य में धार्मिक गाथाओं (mythology) का खूब विकास हुआ। दार्शनिक दृष्टि से शंकर का अद्वैतवाद तत्कालीन हिन्दू दर्शन का सब से बड़ा मत था। सन् ११०० के करीब रामानुज ने वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना की। इस सम्प्रदाय ने भागवत सम्प्रदाय के आधार पर अपने विश्वासों का विकास किया और मूर्त्तिमान ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली। रामानुज शंकर के दर्शन का प्रमुख विरोधी था। रामानुज के करीब एक सौ वर्षों के बाद दक्षिण में माधवाचार्य नाम का एक और हिन्दू सन्त पैदा हुआ। माधव ने एक द्वैध प्रणाली का प्रचार किया। उस का सम्प्रदाय अभी तक महत्वपूर्ण है। उस के कुछ समय बाद रामानन्द ने एक और हिन्दू सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया। यह सम्प्रदाय रामानुजी सम्प्रदाय की एक शाखा के समान था। रामानन्दी लोग ज्ञातपांत में विश्वास नहीं करते थे। इस सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों ने भारतीय साहित्य को बहुत धनी बनाया है।

बौद्ध धर्म का ह्रास—इस युग की एक महत्त्वपूर्ण घटना भारतवर्ष में बौद्धधर्म का क्रमिक ह्रास तथा अन्त में उसका पूर्ण नाश हो जाना है। बौद्ध धर्म का यह ह्रास प्रायः धीरे-धीरे हुआ परन्तु कुछ प्रदेशों में यह ह्रास आश्चर्यजनक शीघ्रता से भी हुआ। हिन्दूधर्म का पुनरुद्धार तथा नवजीवन, बौद्ध धर्म के ह्रास का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ और हिन्दू धर्म में नवजीवन का संचार करने का श्रेय आठवीं तथा नौवीं सदी के कुमारिल और शंकराचार्य को प्राप्त है।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय—हम पहले ही कह चुके हैं कि शंकराचार्य के बाद भारतवर्ष में केवल बंगाल के पाल राज्य में ही बौद्ध धर्म शक्तिशाली बच रहा। वहां भी बौद्ध धर्म के बचे रहने का श्रेय विक्रमशिला के महान विश्वविद्यालय को है। यह जगत्प्रसिद्ध विश्वविद्यालय उन दिनों बौद्ध तर्क, व्याकरण और तान्त्रिक विद्या का केन्द्र बना हुआ था। यह विश्वविद्यालय भारतवर्ष और तिब्बत के बीच में एक शृंखला का कार्य भी करता था।

नष्ट नहीं, जज़्ब हो गया—जब यह कहा जाता है कि भारतवर्ष में से बौद्ध धर्म का ह्रास होगया, तो इसका अभिप्राय बौद्ध धर्म के नष्ट होजाने से नहीं है। बात यह हुई कि हिन्दू धर्म ने अपनी प्रबल पाचनशक्ति की बदौलत धीरे-धीरे बौद्ध धर्म को भी अपने अन्दर जज़्ब कर लिया। सभी आधारभूत बौद्ध सिद्धान्त हिन्दूधर्म में भी सम्मिलित कर लिए गए। यह एक तरह से स्वाभाविक और क्रमिक प्रक्रिया थी। बौद्धों पर हिन्दुओं ने किसी तरह से शारीरिक अत्याचार किए हों, इस बात के प्रमाण नहीं मिलते। विशेषकर बौद्ध धर्म का महायान सम्प्रदाय उसे हिन्दू

धर्म के बहुत निकट ले आया और तब हिन्दू और बौद्ध आदर्शों में उससे अधिक अन्तर नहीं बच रहा, जितना अन्तर विभिन्न हिन्दू सम्प्रदायों में हो सकता है।

शिक्षा की व्यापकता—भारतीय जनता को शिक्षित बनाने का महत्वपूर्ण कार्य करीब १००० वर्षों तक बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में रहा था। परन्तु गुप्त वंश के शासनकाल में यह कार्य पुनः ब्राह्मण कथकों के हाथों में आगया। वे लोग पुराण, रामायण, महाभारत आदि की शिक्षा भारतीय जनता को दिया करते थे।

बौद्ध धर्म का शाक्तीकरण—अभाग्य से बौद्ध धर्म पर बहुत शीघ्र शाक्त सम्प्रदाय का गहरा प्रभाव पड़ गया। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध तान्त्रिकों की घृणोत्पादक तथा भयंकर प्रक्रियाओं से सर्वसाधारण जनता में उनके प्रति विरोध के भाव उत्पन्न हो गए। इस घटना से बौद्ध धर्म का आध्यात्मिक दर्जा भी गिर गया और पूर्वीय भारत के इसी विकृत बौद्ध धर्म से तिब्बत में लामा धर्म का प्रादुर्भाव हुआ।

हूण आक्रमण—उत्तर-पश्चिमी भारत में हूण आक्रमणों का प्रभाव बौद्धधर्म के लिए घातक सिद्ध हुआ था। हूणों ने वहाँ के सुन्दर-सुन्दर बौद्ध मठों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। अन्त में मुसल्मानों ने बिहार और बंगाल में से भी बौद्ध धर्म का पूर्ण नाश कर दिया।

बौद्ध मत का अवसान—विदेशी आक्रमणों, आध्यात्मिक अवनति, राज्य की सहायता का अभाव, हिन्दू धर्म का नवजीवन, हिन्दू दार्शनिकों का प्रादुर्भाव आदि बातों ने बौद्ध धर्म की जीवन शक्ति का पूर्णतः ह्रास कर दिया। जब मुसल्मानों ने बिहार और

बंगाल के बौद्ध मठों को भी तहसनहस कर दिया तब सम्पूर्ण भारतवर्ष में से बौद्ध मत का अवसान हो गया। मुसलमानी आक्रमणों से डर कर बौद्ध भिक्षु अपने मठों को छोड़ कर घने जंगलों में भाग गए। जो लोग नहीं भागे, उन्हें मुसलमानों ने कत्ल कर दिया। उस समय तक बौद्ध धर्म जनता की सम्पत्ति नहीं रह गया था, वह केवल बौद्ध मठों तक ही सीमित था। जब मुस्लिम आक्रान्ताओं ने इन मठों का तहसनहस कर दिया, तब बौद्ध मत स्वयं ही विनष्ट हो गया।

जैन धर्म—परन्तु अपने सीमित क्षेत्र तक जैन धर्म इन परिस्थितियों में भी जीवित रहा। चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं की संरक्षता में दक्षिण में जैन धर्म ने यथेष्ट उन्नति की। परन्तु बाद में दक्षिण भारत के शैव और वैष्णव हिन्दू सम्प्रदायों ने जैन धर्म की लोकप्रियता में बाधा पहुँचाई। बिज्जल एक उत्साही जैन था। होयसाल वंश के राजा भी जैन धर्म के संरक्षक थे। उधर चोल और पाड्य कट्टर शैव थे। उन में से कुछ राजाओं ने जैन साधुओं पर अत्याचार भी किए थे।

हेमचन्द्र—इस युग का सब से प्रसिद्ध जैन लेखक हेमचन्द्र हुआ। उसने बारहवीं सदी में गुजरात के राजा कुमारपाल को जैन धर्म में दीक्षित कर लिया। कुमारपाल जैन धर्म का एक उत्साही प्रचारक बन गया। अन्य जैन लेखकों में हरिभद्र (नौवीं सदी), जिनसेन (आठवीं सदी), सोमदेव (दसवीं सदी), उमास्वामी (सम्भवतः सातवीं सदी), और अमितगति (ग्यारहवीं सदी) विशेष प्रसिद्ध हैं। इन में उमास्वामी दिगम्बर जैनों का महान लेखक माना जाता है। जैन साहित्य में धार्मिक

गीतों की अधिकता है।

साहित्य—इस युग के नाटक लेखकों में भवभूति और राजशेखर प्रमुख हैं; उपन्यास तथा गद्य लेखकों में बाण, सुबन्धु और दण्डी सुप्रसिद्ध हैं; काव्यकारों में भारवि और माघ का दर्जा सब से ऊँचा है। ऐतिहासिक ढंग की कविता के लिए राजतरंगणी का लेखक कल्हण प्रसिद्ध है। राजनीति शास्त्र के ग्रन्थ कामन्दकीय नीति और शुक्रनीति, ज्योतिष में भास्कराचार्य के ग्रन्थ तथा चिकित्सा शास्त्र में वाग्भट्ट की कृतियां इस पूर्व-मध्यकालीन भारत के साहित्य की अमर कृतियां हैं।

शुक्रनीति—मध्यकालीन भारत की राजनीतिक दशा तथा नीतिशास्त्र के विचारों को जानने के लिए शुक्रनीति से बढ़ कर अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। शुक्रनीति की कुछ बातें तो बहुत ही प्राचीन काल का हैं। परन्तु जिस युग में शुक्रनीति का यह वर्तमान स्वरूप बना, उस युग में वर्ण व्यवस्था पूर्णतः अपरिवर्तनशील रूप धारण कर चुकी थी। शुक्रनीति में नगर निर्माण, ग्राम निर्माण, व्यापार-व्यवसाय, नगर समितियां, मन्त्रिमण्डल, राजसभाओं और राजा आदि के सम्बन्ध में खूब विस्तार के साथ लिखा है। नगर समितियां अपने अधिकारों की रक्षा किस तरह करें, इस सम्बन्ध में भी उपयोगी निर्देश दिए गए हैं।

कला—इस युग में उत्तरीय भारत में जो कला सम्बन्धी निर्माण कार्य किए गए होंगे, उन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि मुसलमान आक्रान्ताओं ने उत्तर के प्रायः सभी धार्मिक मन्दिरों को तोड़फोड़ डालने का भरपूर प्रयत्न किया था।

फिर भी कुछ न कुछ कलापूर्ण कृतियां अब तक बच रही हैं। काश्मीर के प्राचीन मन्दिरों के सुन्दर अवशेष, आन्ध्र के जैन मन्दिर, पुरी का विशाल मन्दिर तथा भुवनेश्वर और कोनार्क के मन्दिर इस युग की वास्तुकला के बहुत श्रेष्ठ उदाहरण हैं। महमूद गज़नवी के साथ अलउत्बी नाम का जो मुसलमान पर्यटक इस देश में आया था, उस ने मथुरा के मन्दिरों की सुन्दरता का विषद वर्णन किया है। अल-बरूनी ने लिखा है—"हम लोग जब इन शानदार इमारतों को देखते हैं, तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। ऐसी भव्य इमारतों को बना सकना तो एक ओर रहा, उनका वर्णन तक करना हमारे लिए कठिन है।"

दक्षिण भारतीय कला—दक्षिण भारत बहुत समय तक विदेशी आक्रमणों से सुरक्षित रहा, अतः वहां इस युग की भव्य इमारतों की कमी नहीं है। पल्लव और चोल वंशीय राजा कला के बड़े प्रेमी तथा महान निर्माता थे। दक्षिण में से कांसी की जो सुन्दर मूर्त्तियां उपलब्ध हुई हैं, उस से जहां यह प्रतीत होता है कि दक्षिण के सन्तों में अदम्य-धार्मिक भावना थी, वहां दक्षिणी मूर्त्ति-निर्माताओं के हाथ की सफाई और सूझ की यथेष्ट प्रशंसा करनी पड़ती है। "अप्परस्वामी दोनों हाथ जोड़ कर भगवान से प्रार्थना कर रहे हैं यह मूर्त्ति उस समय की है, जब वह मन्दिरों की प्रदक्षिणा के लिये चलने लगे थे। एक मूर्त्ति सुन्दरस्वामी नाम के दूल्हे की है। एक मूर्त्ति सम्बन्ध नाम के बच्चे की है। ये सभी मूर्त्तियां कला की दृष्टि से अत्यधिक श्रेष्ठ हैं। नटराज के रूप में शिव की विशालकाय कांसी-मूर्त्ति को देख कर आश्चर्य होता है।" दक्षिण के इन कलाकारों को अपने विचारों और

विश्वासों की पूरी-पूरी छाप इन मूर्त्तियों पर डालने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है और इन मूर्त्तियों में तंजौर के नटराज की मूर्त्ति सर्वश्रेष्ठ है।

ममल्लपुरम के सात पैगोड़े, तंजौर का विशाल मन्दिर, एल्लोरा में कैलाश का भव्य भवन, वातापी का मन्दिर आदि इस युग की इमारतें तत्कालीन दक्षिण भारत की उन्नत वास्तुविद्या का बहुत श्रेष्ठ उदाहरण हैं। इन से प्रतीत होता है कि उस युग में कितने बड़े-बड़े निर्माणकार्य हुए होंगे।

स्थानीय स्वराज्य—दक्षिण में प्राप्त शिलालेखों में से कुछ में तत्कालीन ग्राम संस्थाओं के कार्यों तथा अधिकारों के सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख मिले हैं। इन ग्राम सभाओं के अधिवेशन प्रायः अपने गांव के मन्दिर में हुआ करते थे। इनके निर्णयों की अच्छी कदर थी और सरकार के उच्च कर्मचारी इन सभाओं के निर्णयों को प्रायः स्वीकार कर लिया करते थे। स्थानीय शासन व्यवस्था का कार्य इन्हीं नगर समितियों की अनेक उपसमितियों के सपुर्द था। नगर समितियों का निर्वाचन होता था और ये उपसमितियां नियुक्त की जाती थीं। इन नगर समितियों का सदस्य बनने के लिए शिक्षा और आय के कुछ आवश्यक बन्धन भी निश्चित थे। इस सम्पूर्ण शासन व्यवस्था पर वैज्ञानिक ढंग का नियन्त्रण रहता था, जिस से उस में कोई विकार न आने पाए। इन समितियों की सदस्याओं के रूप में अनेक स्त्रियों का नाम भी उपलब्ध होता है। इन समितियों को न्याय तथा शासन सम्बन्धी पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। ग्राम की ज़मीन पर इन्हीं समितियों का अधिकार था। वे बेगार भी ले सकती थीं। ग्राम के बाजार इन्हीं

समितियों के अधीन थे। वे कर आदि भी निश्चित करती थीं। सर्वजन-हितकारी कार्यों का संचालन भी इन्हीं समितियों के हाथ में था। शिक्षा तथा दान की संस्थाओं पर भी इन्हीं नगर-समितियों का नियन्त्रण था।

राष्ट्र की सरकार को उस नगर की ओर से निश्चित कर देने का उत्तरदायित्व भी इन्हीं नगर समितियों पर ही था।

इन नगर समितियों के अतिरिक्त राष्ट्र में अनेक बड़े-बड़े संघ भी थे। इन संघों के कार्यों का वर्णन अनेक प्राचीन लेखों में है। राजराजा के एक शिलालेख में लिखा है—"बारह ज़िलों की महासभा।" ट्रावनकोर के शिलालेख में ६०० सदस्यों वाली एक महासभा का वर्णन है जिस में सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रतिनिधि थे। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत की राज्य व्यवस्था में जनतन्त्र सभाओं का बड़ा महत्वपूर्ण और आवश्यक स्थान था।

सामाजिक जीवन—पूर्व मध्यकालीन भारत के सामाजिक जीवन की अवनत दशा सब से अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। प्रतीत होता है कि इस युग के पिछले भाग में हिन्दु समाज में से जज्ब कर लेने की शक्ति का नितान्त अभाव हो गया था। उस के स्थान पर अत्यन्त संकीर्णता की मनोवृत्ति दिखाई देने लगी थी। अलबरूनी ने लिखा है—"हिन्दुओं का ख्याल है कि संसार में केवल उन्हीं का एक देश है। वे ऐसा अनुभव करते हैं, जैसे उन के समान और कोई राष्ट्र नहीं, उन के राजा के समान और कोई राजा नहीं, उन के धर्म के समान और कोई धर्म नहीं तथा उनकी विद्या के समान और कोई विद्या नहीं। वे गरम मिज़ाज के मूर्ख, अभिमानी, आत्म प्रवंचक और अपंग हैं।

किसी को कुछ बताने में वे स्वभाव ही से बड़े कमीने हैं। जो कुछ उन्हें आता है, उसे वे खूब छिपा कर रखते हैं; किसी को, विशेष कर अन्य देश वालों को कुछ भी नहीं बताते। यह बात उन के विश्वास और धर्म का हिस्सा है कि संसार में केवल उन्हीं का देश है, केवल उन्हीं की जाति है और उन के अतिरिक्त अन्य देशों के निवासी बिलकुल मूर्ख और अज्ञानी हैं। वे इतने अभिमानी और बेवकूफ़ हैं कि यदि तुम उन्हें बतलाओ कि खुरासान और फारस में भी कोई विद्वान है, तो वे तुम्हें झूठा और नासमझ दोनों समझ लेंगे। यदि इन हिन्दुओं को बाकी संसार का कुछ भी पता होता तो वे बहुत शीघ्र बदल जाते क्योंकि इनके पूर्वज इन के समान संकुचित हृदय के नहीं थे।"

इस समय हिन्दू समाज में स्त्रियों को बहुत तुच्छता की दृष्टि से देखा जाने लगा था। वर्णव्यवस्था अपरिवर्तनशील होकर अत्याचार और दबाने का साधन बन गई थी।

परिशिष्ट क.

ऐतिहासिक घटनाओं की तिथियां

महात्मा बुद्ध से पहले की घटनाओं का तिथिक्रम निश्चित नहीं है। उन के बाद भी अनेक तिथियों के सम्बन्ध में भारी मतभेद तथा सन्देह है। हम यहां डा० स्मिथ की 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ़ इण्डिया' नामक रचना के आधार पर भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की प्रमुख घटनाओं का तिथिक्रम दे रहे हैं—

ईसापूर्व	
५४३	बुद्ध का निर्वाण
५२७	महावीर का निर्वाण
३२७–२५	सिकन्दर का आक्रमण
३२५–२९८	चन्द्रगुप्त मौर्य
३०६–५	सैल्यूकस का आक्रमण
२९८–२७३	बिन्दुसार
२७३–२३२	अशोक
२६९	अशोक का राज्यारोहण
२६१	कलिंग युद्ध
२५७	चौदह शिलालेख तथा कलिंग का लेख
२४२	सात स्तम्भ लेख
२००–१९०	डेमेट्रियस
१८५–७३	शुंगवंश
१८०–१६०	मीनान्डर
७३–२८	कण्ववंश

२३० ईसापूर्व से २२५ ईसवी—आन्ध्रवंश

ईसवी—

४०–७८	कैड्फीसिज़ प्रथम
७८–११०	,, द्वितीय
१२०–२६२	कनिष्क
२७२–२०२	यज्ञश्री
३२०	गुप्त सम्वत् का प्रारम्भ
३२०–३२६	चन्द्रगुप्त प्रथम
३२६–३७५	समुद्रगुप्त
३७५–४३५	चन्द्रगुप्त द्वितीय, विक्रमादित्य
३९५	शकों की विजय
३९९–४१५	फाहियान की यात्रा
४१३–४५५	कुमारगुप्त प्रथम
४५५	प्रथम हूण आक्रमण
४५५	स्कन्दगुप्त का राज्यारोहण
५००	तोरमान की मालवा विजय
५२८	मिहिरगुल की हार
६०६–४७	हर्ष
६०८–६४२	पुलिकेशिन द्वितीय (चालुक्य)
६२९–४५	ह्यूनसांग की यात्राएँ
६००–२५	महेन्द्र वर्मन (पल्लव)
६२५–४५	नरसिंह वर्मन (पल्लव)
७४०	कन्नौज के यशोवर्मन को काश्मीर के ललितादित्य ने हराया।
७६०	कृष्ण प्रथम का राज्यारोहण (राष्ट्रकूट)

७७६–६४	ध्रुव (राष्ट्रकूट)
७८०–८१५	धर्मपाल
७८३	वत्सराज का राज्यारोहण (प्रतिहार)
७६४–८१४	गोविन्द तृतीय (राष्ट्रकूट)
८१५–७७	अमोघवर्ष ,,
८१५	नागभट्ट का राज्यारोहण
८१५–५०	देवपाल (प्रतिहार)
८४०–६०	भोज ,,
६०२	कृष्ण द्वितीय का राज्यारोहण
६०७	परान्तक प्रथम का राज्यारोहण (चोल)
६४२–६७	गुजरात का मूलराज
६५०–६६	धांगा (चन्देल)
६७३	तैल ने कल्याण में चालुक्यवंश की नींव डाली
६८५	राजराजा महान का राज्याभिषेक (चोल)
१०१२	राजेन्द्र प्रथम
१०१८–६०	भोज (प्रमार)
१०३८	एक भारतीय धर्म मण्डली का तिब्बत को प्रयाण
१०४६–११००	कीर्त्तिवर्मन (चन्देल)
१०५२	कोप्पम का युद्ध
१०७६–११२६	छटा विक्रमादित्य (चालुक्य)
११००–६०	गोविन्दचन्द्र (गहरवर)
१११०–४१	विट्टिग, विष्णु वर्धन (होयसाल)
११६०–६७	विज्जल तथा लिंगायत सम्प्रदाय का प्रारम्भ
११६२	पृथ्वीराज की हार तथा मृत्यु

शब्दानुक्रमणिका